कुछ चन्दन की कुछ कपूर की

विष्णुकान्त शास्त्री

कुछ चन्दन की
कुछ कपूर की

विष्णुकान्त शास्त्री

कुछ चन्दन की कुछ कपूर की

विष्णुकान्त शास्त्री
(कलकत्ता विश्वविद्यालय)

हिन्दी प्रचारक संस्थान
पिशाच मोचन, वाराणसी–१

अगस्त १९७१

मूल्य १०/-

प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक संस्थान, पिशाच मोचन, वाराणसी-१

मुद्रक—चन्द्र प्रकाश प्रेस, लाजपत नगर, वाराणसी-२

विवृति

इन निबन्धों के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहें तो आप कहें, वह काम मेरा नहीं है। मैं तो उनका आभार स्वीकारना चाहता हूँ, जो इनके प्रेरक रहे हैं।

अग्रज तुल्य गुरु एवं विभागाध्यक्ष श्री कल्याणमल लोढ़ा यदि मुझे बाध्य न कर देते तो इस संकलन के अधिकांश निबन्ध न लिखे जाते। उनके बहुमूल्य सुझावों और संशोधनों ने इनकी कमियों को कम किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

इनमें से कुछ रचनायें आलोचना, धर्मयुग, ज्ञानोदय, राष्ट्रभाषा परिषद् पत्रिका, नटरंग, मानस मयूख, शीराजा आदि में प्रकाशित एवं कुछ आकाश वाणी, कलकत्ता द्वारा प्रसारित हुई हैं, अतः डॉ० नामवर सिंह, डॉ० धर्मवीर, भारती, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, डॉ० शंभुदत्त झा, श्री नेमिचन्द्र जैन, श्रीरामादास, श्री नरेन्द्र खजूरिया, श्रीमती रजनी पणिक्कर एवं श्री दीपनारायण मिठौलिया को भी स्नेहपूर्वक स्मरण करता हूँ।

इस संकलन के नाम के लिए श्री धर्मवीर भारती की एक पंक्ति का तथा प्रकाशन के लिए भाई कृष्णचन्द्र बेरी और श्री दीनानाथ कश्यप का कृतज्ञ हूँ! मुद्रण की शुद्धता के लिए भाई डॉ० बदरीनाथ कपूर को किन शब्दों में धन्यवाद दूँ!

और अन्त में, किन्तु सबसे अधिक आभारी हूँ आपका, जो इन्हें पढ़ने जा रहे हैं। अक्टूबर १९६३ से जुलाई १९६९ के मध्य लिखित इन निबन्धों में कुछ शोधपरक हैं, कुछ विवेचनात्मक, कुछ समीक्षात्मक! कुछ गम्भीर पत्रों के लिए लिखे गये थे तो कुछ रेडियो के सामान्य श्रोताओं के लिए। फिर भी मेरा विश्वास है कि इनमें स्तरगत विविधता के बावजूद स्वरगत एकता का आभास आपको मिलेगा।

विष्णुकान्त शास्त्री

हिन्दी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
भाद्र शुक्ल पूर्णिमा २०२६

जिनके मुँह से

'तू मेरी बुलबुल'

सुनकर

मेरा बालमन हर्ष-विभोर हो उठता था

उन्हीं स्वर्गीया नानी माँ

श्रीमती श्यामदेवी की

पुण्य-स्मृति

को

अनुक्रम

१.

भारतीय संस्कृति में

कबीर का योगदान

किसी भी प्राचीन संस्कृति में कुछ नया जोड़ने या पुराने को बदलने की आवश्यकता का अनुभव साधारण स्थितियों में नहीं होता। परिवर्द्धन या परिवर्तन तभी अनिवार्य हो उठता है जब आन्तरिक गुणात्मक विकास के कारण या बाहरी आघात अथवा दबाव के फलस्वरूप परिस्थितियाँ इतनी बदल जाती हैं कि पुरानी दृष्टि और व्यवस्था उनको नयी चुनौतियों को स्वीकार करने में असमर्थ सिद्ध हो जाती है। जो संस्कृतियाँ इन नयी चुनौतियों के नये उत्तर नहीं दे पातीं, वे मर जाती हैं अर्थात् दूसरों के रंग में वे इतना अधिक रँग जाती हैं कि अपना पूर्व परिचय खो बैठती हैं और आक्रांता संस्कृतियों की पिछलग्गू बन जाती हैं। तेजस्वितापूर्वक जीवित रहने के लिए अपरिहार्य रूप से अपने अतीत से अपने को सम्बद्ध रखते हुए (अर्थात् अपने मौलिक स्वरूप की रक्षा करते हुए) नयी परिस्थितियों को अपने अनुरूप या अपने को नयी परिस्थितियों के अनुरूप बनाना पड़ता है। समूची जाति जब सचेत या अचेत रूप से ऐसे परिवर्त्तन की आवश्यकता का उत्कट अनुभव करने लगती हैं और उसकी संस्कृति इतनी समृद्ध होती है कि वह नयी समस्याओं के नये समाधान दे सके तब उसकी जिजीविषा ऐसे युगपुरुषों का जन्म देती है जो इन परिवर्त्तनों के वाहन बन सकें। हमारी गौरवशालिनी भारतीय संस्कृति ने अपने हजारों वर्षों के दीर्घ जीवन काल में उत्थान-पतन के चक्र को घूमते कई बार देखा है और हर संकट के समय ऐसे महापुरुषों को जन्म दिया है जो प्राचीन के जड़ अंश को काट कर उसके चित् अंश के आलोक में नवीन का सृजन कर उसे समृद्ध और शक्तिशाली बनाते रहे हैं। कबीरदास असन्दिग्ध रूप से ऐसे ही महापुरुष थे।

ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी तक भारत की केन्द्रीय राजनीतिक सत्ता पर तुर्कों-अफगानों का अधिकार हो चुका था। वे अपने साथ इस देश में एक नया बलिष्ठ धर्म एवं नयी आक्रामक संस्कृति लेकर आये थे। जातियों और सम्प्रदायों में बँटा भारत, हृदयहीन सामाजिक रूढ़ियों और प्राणहीन धार्मिक बाह्याचारों के शिकंजों में जकड़ा भारत न उनका प्रत्याख्यान कर सकता था, न उसका आत्मगौरव अपनी सांस्कृतिक महिमा को तिलांजलि देकर उन्हें पूर्णतः ग्रहण ही कर सकता था। भारतीय समाज एवं बाह्याचार प्रधान धर्म की विसंगतियाँ इतनी प्रत्यक्ष हो चली थीं कि उनके परिमार्जन की प्रचेष्टाएँ

स्वतः आरम्भ हो गयी थीं, इस्लाम के आगमन ने उन्हें और व्यापक बनाया, और द्रुतगति से सम्पन्न किया। हमारा संकेत मध्यकालीन भक्तिधारा की ओर है, जिसने अपनी अमृतमयी तरंगों से समग्र भारत को प्लावित कर उसकी सांस्कृतिक ग्लानि को धो दिया। हम उन लोगों से सहमत नहीं हैं जो मध्यकालीन भक्ति साधना और साहित्य को इस्लामी आक्रमण की प्रतिक्रिया मानते हैं, दक्षिण के जो आलवार भक्त एवं वैष्णव आचार्य भक्ति के भावात्मक एवं शास्त्रीय स्वरूप के प्रमुख निर्धारक थे, वे निश्चय ही इस्लामी प्रतिक्रिया और प्रभाव दोनों से मुक्त थे किन्तु हम यह मानते हैं कि इस्लामी आक्रमण के फलस्वरूप ऊँच-नीच की भावना पर आधारित वर्ण-धर्म का ढाँचा चरमराया, तथाकथित नीची जातियों ने सामाजिक विषमता का प्रतिवाद करना आरम्भ किया, ज्ञान और योग आहत जनमानस को आश्वस्त करने में असमर्थ सिद्ध होने लगे, कर्मकांड मूलक धर्म-साधना कठिनतर हो गयी। इससे उत्पन्न रिक्तता की सहज पूर्ति समता पर आधारित भक्ति साधना कर सकी, जिसके लिए जाति-पाँति, क्रियाकर्म, योग, ज्ञान आदि की आवश्यकता नहीं थी, जो न इतनी स्पर्शकातर थी कि विदेशियों या विधर्मियों के सम्पर्क से अपवित्र हो जाती, न इतनी कठोर कि अज्ञान या प्रलोभन के कारण हुए पतन, स्खलन को क्षमा न कर पाती। इस भक्ति-गंगा को उत्तर भारत के जन-मानस में प्रवाहित करनेवाले हरिद्वार बने कबीरदास।

इसका यह अर्थ नहीं है कि वे किसी प्रचलित वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये और उसका प्रचार करने लगे। कबीर की प्रतिभा सृजनमूलक थी, अनुकरणमूलक नहीं। अपने समय में प्रचलित विविध साधना-मार्गों के निकट सम्पर्क में वे आये थे। विद्वानों के अनुसार वे मूलतः योगी या युगी जाति के थे। उनके परिवार ने उनसे संभवतः एक या दो पीढ़ी पहले इस्लाम स्वीकार कर लिया था अतः उन्हें विरासत में ही नाथपंथी साधना तथा इस्लामी संस्कार प्राप्त हुए थे। अपने चारो ओर फैले समाज में प्रचलित परम्परागत हिन्दू रीति नीति से उनका प्रत्यक्ष परिचय था। वे सूफियों की 'मदहति' भी सुनते थे और वैष्णव तो उनके संगी ही थे। वे पुस्तकी ज्ञान से भले वंचित रहे हों किन्तु गुरु कृपा से वास्तविक धर्म के मर्म से अवगत हो चुके थे। 'सतगुरु तत्व कह्यो विचार, मूल गह्यो अनभैविस्तार'[१] तथा 'आपै कहत, सुनत पुनि

१. कबीर ग्रंथावली पद ३८६; प्रस्तुत निबन्ध में समस्त सन्दर्भ संकेत नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित कबीर ग्रंथावली के हैं। केवल एक दो स्थलों पर डॉ० माताप्रसाद गुप्त का पाठ दिया गया है।

अपना, अपन पै आपा बूझ्यां[१] आदि वचनों के अनुसार सद्गुरु से प्राप्त तत्त्व का उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर विस्तार किया था। यह 'स्वानुभूति' ही कबीर की कसौटी है। वे उसी को 'साखी' देते हैं जिसे अपने अनुभव से, 'स्वसंवेद्य ज्ञान' से वे जान चुके हैं। वेद हो या कुरान या कोई अन्य मान्य ग्रन्थ यदि उसकी कोई आज्ञा उनकी अपनी अनुभूति के प्रतिकूल जाती है तो वे उसे अमान्य कर देने में रंच मात्र कुंठा का बोध नहीं करते। कबीर की भूमिका ऋषि की है जो प्रयोजन पड़ने पर प्राचीन को अस्वीकार कर नवीन विधान देने की क्षमता रखता है, पुरोहित की नहीं, जो प्रायः अपरिवर्त्तनवादी एवं प्राचीन विधानों का अन्धानुगामी होता है। ऋषि परमतत्त्व का स्वयं साक्षात्कार करता है एवं अन्यों को करने की प्रेरणा देता है जबकि पुरोहित सामान्यजन और देवी देवताओं के बीच मध्यस्थ बना रहना चाहता है और इसी मध्यस्थता द्वारा जीविकोपार्जन करता है। पुरोहित का सा कोई निहित स्वार्थ न होने के कारण ऋषि अर्थहीन बाह्याचारों के प्रति विद्रोह कर युगानुरूप विचार एवं आचार का प्रवर्त्तन करता है।

ये नये विचार सर्वथा नये ही होते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। विशेषतः प्राचीन संस्कृतियों के सम्बन्ध में तो यह देखा जाता है कि उनके अन्तर्गत विकसित होनेवाले परवर्ती चिन्तक स्वानुभूति के आधार पर ही सही, कितना ही मौलिक चिन्तन क्यों न करें, उनके अधिकांश तत्त्व किसी न किसी पुरानी विचारधारा या परम्परा से किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध दिखाये जा सकते हैं। किन्तु इससे न तो वे पुराने माने जा सकते हैं, न यही स्वीकार किया जा सकता है कि उनका उस संस्कृति के विकास में कोई नया योगदान नहीं है। वस्तुतः अपनी संस्कृति के अन्तर्गत चली आनेवाली अनेकानेक परम्पराओं में से (जिनमें कुछ परस्पर विरोधी भी हो सकती हैं) किसी एक को या अनेकों के समन्वित रूप को परिष्कृत कर इस प्रकार रखना कि किंकर्त्तव्यविमूढ़ सामान्यजन उसका अनुगमन कर अपने जीवन को उन्नततर बना सकें, निश्चय ही संस्कृति में नया योगदान करना है। इसी तरह पुरानी संस्कृतियाँ अपने स्वरूप को सुरक्षित रखते हुए नयी बनती चली जाती हैं। अपने समय में ऐसा करने के कारण ही कबीरदास को भारतीय संस्कृति का विशिष्ट उन्नायक माना जाता है। इस सन्दर्भ में कबीरदास का यह मार्मिक दोहा विचारणीय है :

---

२. वही पद ६;

कबीर सोई अषिर सोई बैयन, जन जूजुवा चवंत।
कोई एक मैलै के लवणि, अमीं रसांइण हुंत ॥[१]

अर्थात् अक्षर और वचन तो वे ही रहते हैं किन्तु लोग उनको भिन्न-भिन्न ढंग से कहते हैं। जब कोई एक उनमें 'लवण' मिला देता है तब उसका वचन अमृत रसायन हो जाता है। कबीरदास ने भी पुरानी मान्यताओं में ऐसे ही 'लवण' का योग कर उन्हें अमृत रसायन बनाया था।

अपनी सुदीर्घ परम्परा से प्राप्त जिस बीजभूत तत्त्व को ग्रहण कर उन्होंने साहसपूर्वक जीवन के नाना क्षेत्रों में उसका प्रयोग किया, वह था 'आध्यात्मिक एकत्व' अथवा 'अद्वैतवाद'। उन्होंने अनुभव किया था कि—

व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै, को पंडित को जोगी।
राणां रंक कवन सूं कहिये, कवन बैद को रोगी॥
इनमें आप, आप सबहिन में, आप आप सूं खैलै।
नांनां भाति घड़े सब भांड़े, रूप धरै हरि मेलै॥[२]

एक ही ब्रह्म पंडित, योगी, राजा, रंक, वैद्य, रोगी सब में व्याप्त है, बल्कि वह आप ही इन विविध रूपों में व्यक्त होकर लीला कर रहा है। इस सत्य तक वे तर्क द्वारा या शास्त्र विवेचन द्वारा नहीं पहुँचे थे, न उन्होंने इसका दार्शनिक पद्धति से निरूपण ही किया था। यह उनका सहज साधनालब्ध सत्य है और इसकी अभिव्यक्ति भी उन्होंने विश्वास की सरल किन्तु जीत लेनेवाली भाषा में की है। उदाहरणार्थ 'एक राम देख्या सबहिन मैं, कहै कबीर मन माना'[३] प्यारे राम मन हीं मना, कासू कहूँ, कहन कौ नाहीं दूसर और जनां,[४] हम तो एक एक करि जानां, दोइ कहै तिन ही को दोजग जिन नाहिंन पहिचाना।[५] जैसी उनकी अनेक उक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि इसमें

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥[६]

---

१. कबीर ग्रन्थावली साखी ३३।७।
२. कबीर ग्रन्थावली पद १८६।
३. वही पद ५२।
४. वही पद ५४।
५. वही पद ५५।
६. श्वेताश्वतर उपनिषत् ६, ११।

तथा 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' के औपनिषदिक अद्वैतवाद एवं सर्वात्मवाद की अनुगूँज है, इस्लामी एकेश्वरवाद को नहीं जिसके अनुसार परमात्मा एक होकर भी सृष्टि से भिन्न है और बंदा खुदा से कभी अद्वैतता का दावा नहीं कर सकता।

इस आध्यात्मिक एकत्व को वे विचार तक ही सीमित नहीं रखते, विवेकपूर्वक धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक क्षेत्रों में व्यवहार के धरातल पर भी उतारते हैं। यदि परमात्मा एक है तो वह समस्त संस्थाबद्ध धर्मों के आचार्यों द्वारा भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाने पर भी एक ही है। इसी स्तर पर वे राम रहीम, केशव करीम, ब्रह्म अल्लाह को एक ही घोषित करते हैं :

हमारै राम रहींम करीमां कैसौ, अलह राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै और न दूजा कोई[1] ॥

उनके लिए मन्दिर मस्जिद, काशी, काबा एक से ही हैं। 'काबा फिर कासी भया, राम भया रहीम'[2] कहने में उन्हें कोई अनौचित्य नहीं दिखता अतएव जब इनका नाम लेकर हिन्दू और मुसलमान (या अन्य धर्मावलम्बी) एक दूसरे से झगड़ते हैं और अपने को औरों से भिन्न मानते हैं तो कबीरदास इन भ्रमजन्य भेदों पर विश्वास करने के कारण उन्हें भोंदू कहते हैं और चिताते हैं कि बोलनेवाला जीवात्मा तो एक ही है, वह न हिन्दू है, न तुर्क, फिर यह संघर्ष क्यों? उनकी भ्रमभंजक वाणी है :

अरे भाई दोइ कहां सौ मोहिं बतावौ।
बिचि ही भरम का भेद लगावौ ॥
जोनि उपाइ रची द्वै धरनीं, दीन एक बीच भई करनीं ॥
राम रहीम जपत सुधि गई, उनि माला, उनि तसबी लई ॥
कहै कबीर चेतहु रे भौंदू, बोलन हारा तुरक न हिंदू ॥[3]

फिर भी जब संकीर्ण हृदयवाले हठाग्रही धर्माचार्य प्रभु के जीवों में मेल की जगह बैर के बीज बोते हैं, स्थूल बाह्याचारों की भिन्नता को ही प्रधानता देकर अन्तर्निहित एकता की उपेक्षा करते हैं तो कबीरदास विक्षुब्ध स्वर में कह उठते हैं, 'बजर परौ इहि मथुरा नगरी, कान्ह पियासा जाई रे।'[4]

---

१. क० ग्रं० पद ५८।
२. वही साखी ३१।१०।
३. वही पद ५६।
४. वही पद ७६।

तथाकथित धर्मों की इस मथुरा नगरी पर वज्रपात हो गया है, लोग बाह्य को लेकर ही इतना झगड़ रहे हैं कि अन्तर का अन्तरतम 'कान्हा' प्यासा ही चला जा रहा है और उस तरफ किसी का ध्यान ही नहीं है। इन झूठे झगड़ों से विरक्त होकर वे कहते हैं :

हमरा झगरा रहा न कोऊ। पंडित मुल्ला छाड़ै दोऊ ॥

... .

पंडित, मुल्ला जो लिख दीया। छाड़ि चले हम कछु न लीया ॥

धर्मान्ध लोग मानें, न मानें उनकी निश्चित धारणा और निर्भीक घोषणा है :

हिन्दू तुरक का साहिब एक। कह करै मुल्ला, कह करै सेख।[१]

अपने को 'ना हिन्दू ना मुसलमान' कहने में उनका अभिप्राय यही है कि मनुष्यों को विभक्त करनेवाले किसी भी संस्थाबद्ध धर्म से वे अपने को युक्त नहीं कर सकते।

सामाजिक स्तर पर ऊँच-नीच और छुआछूत का विरोध भी वे इसी आधार पर करते हैं कि एक ही ज्योति से उत्पन्न, एक ही से शरीरवाले मनुष्यों में किसी को जन्म के कारण ही ब्राह्मण मान कर बहुत ऊँचा और पवित्र और किसी को शूद्र मानकर नीच और अछूत कैसे माना जा सकता है।

एक बूंद, एकै मल मूतर, एक चाम, एक गूदा।
एक जोति थे सब उतपना, कौन बाम्हन कौन सूदा।[२]

स्वयं तथाकथित नीची जाति के होने के कारण इस भेदभाव की अमानुषिकता का कड़ुआ अनुभव उन्हें था। स्वभावतः इस प्रश्न पर उनकी वाणी उग्र है। चुनौती भरे स्वर में उन्होंने पंडित से पूछा है :

तुम कत ब्राह्मण हम कत शूद।
हम कत लोहू तुम कत दूध ॥[३]

---

१. वह परिशिष्ट पद २७।
२. वही परिशिष्ट पद १५७।
३. वही पद ५७।

मानो भगवान बुद्ध और महावीर की वाणी ही उनके कंठ से ध्वनित हुई थी जब उन्होंने जन्म के आधार पर नहीं, कर्म के आधार पर ब्राह्मणत्व और उसकी श्रेष्ठता को स्वीकारने की बात कही थी।

कहु कबीर जो ब्रह्म बिचारै। सौ ब्राह्मण कहियत है हमारे।[१]

इसी तरह वे मुल्ला और काजी को भी उनके पदों द्वारा नहीं, आचरणगत गुणों द्वारा ही श्रेष्ठ मान सकते थे। उनका कहना था,

सौ मुल्ला जो मन स्यौ लरै। गुरु उपदेस काल स्यौ जुरै।
काल पुरुष का भर दे मान। तिस मुल्ला को सदा सलाम ॥[२]

....

काजी सो जो काया बीचारै। काया की अग्नि ब्रह्म पै जारै।
सुपने बिन्दु न देई झरना। तिसु काजी कौ जरा न मरना ॥[३]

तात्त्विक दृष्टि से सब मनुष्यों को एक मानने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से अच्छे बुरे, संग्रहणीय त्याज्य का विचार जन्म और पद के आधार पर तो नहीं किन्तु आचरण के आधार पर वे अवश्य करते थे। उनकी मान्यता थी, 'कहै कबीर मधिम नहीं कोई, सो मधिम जा मुखि राम न होई।'[४] हरि से विमुख किन्तु बातों से आसमान गिरानेवाले लोगों से सदा दूर रहने और डरते रहने का उपदेश उन्होंने दिया था :

हरि जस सुनहिं, न हरि गुन गावहिं। बातन ही असमान गिरावहिं।
ऐसे लोगन स्यो क्या कहिये।
जो प्रभु किये भगति ते बाहज, तिनते सदा डराने रहिये। [५]

जो अपने पास चुल्लू भर ही पानी होने पर भी गंगा को लानेवाले की निन्दा करते हैं, जो उठते बैठते कुटिलता ही बरतते हैं, स्वयं बिगड़ कर औरों को बिगाड़ते हैं, स्वयं काने हो कर आँखवालों को हँसते हैं, चाहे वे किसी धर्म या जाति के क्यों न हों, 'तिनको देखि कबीर लजाने।'

१. वही पद ६१।
२. वही परिशिष्ट पद २१३।
३. वही परिशिष्ट पद २१३।
४. वही पद ४१
५. वही परिशिष्ट पद २१९।

जन्म और पद की ही तरह केवल धन से कोई बड़ा हो जाता है, यह भी कबीर को अमान्य था किन्तु जड़ समाज के लिए आज ही की तरह उस समय भी धन की महिमा अपार थी। उन्होंने बड़े दुःख के साथ अनुभव किया था।

निर्धन आदर कोइ न देई। लाख जतन करै ओहु चित न धरेई ॥
जौ निर्धन सरधन के जाई। आगे बैठा पीठ फिराई ॥
जौ सरधन निर्धन के जाई। दीया आदर लीया बुलाई ॥[१]

कबीर इस कृत्रिम वैषम्य को भी स्वीकार नहीं करते। उनको असहमति का आधार मूलभूत आध्यात्मिक एकत्व पर उनका विश्वास ही है। इसी पद में आगे उन्होंने कहा है :

निर्धन सरधन दोनों भाई। प्रभु की कला न मेटी जाई।
कहि कबीर निर्धन है सोई। जाकै हिरदे नाम न होई ॥

उनके इस समत्व विधान में सिर्फ एक कमी बहुत अखरती है। इस आध्यात्मिक एकत्व के सिद्धान्त का प्रयोग उन्होंने नारी के सम्बन्ध में व्यावहारिक स्तर पर नहीं किया। अपने निवृत्ति-प्रधान पुरुष संस्कारों के कारण उन्होंने नारी को माया का प्रतिरूप ही माना और इस दृष्टि से उसके प्रति काफी अनुदार विचार व्यक्त किये। कितना अच्छा होता यदि इस सीमा से वे ऊपर उठ पाते।

आज के कुछ विचारकों की दृष्टि में कबीर की महत्ता मुख्यतः इसी में है कि उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के वैमनस्य, जाति-पाँति के वैषम्य तथा छुआछूत को दूर करने का भगीरथ प्रयास किया था। सचमुच यह बड़ा काम है किन्तु स्वयं कबीर की दृष्टि से विचार किया जाय तो उनके लिए यह उपसाध्य मात्र था, अपने आधारभूत सिद्धांत के निष्ठापूर्वक किये गये अनुगमन का उपफल मात्र था। उनका वास्तविक साध्य तो था प्रभुसाक्षात्कार या ज्ञान की शब्दावली में कहा जाये तो—आत्मसाक्षात्कार। कबीर ज्ञानी भक्त थे। पारमार्थिक दृष्टि से वे ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों से परे तथा जीव को ब्रह्म ही मानते थे किन्तु भक्ति साधना के स्तर पर वे भगवान् को सगुण निराकार और भक्त को उनका परम आत्मीय मानते थे। भक्ति की निजी विशिष्टता है कि भक्त को भगवान् से आत्मीयता का सम्बन्ध अपने स्वभाव के अनुसार जोड़ना पड़ता है। कबीर ने भगवान् को अपना स्वामी, पिता, माता

१. वही परिशिष्ट पद १३०।

सखा भी कहा है किन्तु सर्वप्रमुख रूप से उन्हें अपना प्रियतम पति कहा है। उनकी भावमयी कल्पना के अनुसार प्रभु उनके प्राणप्रिय पति हैं, वे हरि की बहुरिया हैं, राम बड़े हैं किन्तु वे स्वयं तो छोटे ही हैं, सोलहो सिंगार किये आत्मा रूपी बहुरिया अपने प्रिय से मिलने के लिए विकल हो उठी है और समझ नहीं पा रही है कि प्रियतम अब क्यों नहीं आ मिलते। कबीर का सुप्रसिद्ध पद है :

> हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव,
> हरि बिन रहि न सके मेरा जीव ॥
> हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया,
> राम बड़े मैं छुटक लहुरिया ॥
> किया सिंगार मिलन के तांई,
> काहे न मिलौ राजा राम गुसांई ॥
> अबकी बेर मिलन जो पाऊँ
> कहै कबीर भौजलि नहीं आऊँ ॥[1]

कबीर की कान्ता-भाव की यह भक्ति भारतीय संस्कृति को उनकी एक विशिष्ट देन है। भारत की परम्परागत भक्ति साधना में कान्ता-भाव को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है किन्तु उसका आलम्बन भगवान् का सगुण, अधिकतर अवतारी साकार रूप है। कबीरदास न भगवान के अवतार पर विश्वास करते थे, न साकार रूप पर। अव्यक्त परमात्मा को अव्यक्त रखकर उसके प्रति प्रेयसी भाव से प्रणय निवेदन कबीर के पूर्व किसी भारतीय भक्त ने नहीं किया था। अतः अधिकांश आधुनिक विचारकों ने इसे भक्ति से भिन्न रहस्यवाद की संज्ञा दी है और इसे सूफी साधना का प्रभाव बताया है।

हमारे मतानुसार इन दोनों स्थापनाओं को बहुत उचित नहीं कहा जा सकता। रहस्यवाद 'मिस्टिसिज्म' का अनुवाद है जिसे मोटे तौर पर अपनी आन्तरिक स्वतः स्फूर्त अनुभूति द्वारा परम तत्त्व के साक्षात्कार करने की प्रवृति कहा जा सकता है। उसकी व्यापक परिधि के भीतर ज्ञान, योग, कर्म, भक्ति उन सभी मार्गों का समावेश हो सकता है जिनके द्वारा परमतत्त्व का साक्षात्कार संभव है। कबीर को रहस्यवादी कह कर हिन्दी के आलोचकों ने प्रायः उन्हें सगुण भक्ति धारा के कवियों से अलगाना चाहा है। यह प्रयास हास्यास्पद है। पश्चिमी विचारकों की दृष्टि में न केवल कबीर, दादू, नानक आदि रहस्यवादी

---

१. वही पद ११७।

हैं, बल्कि सूर तुलसी भी रहस्यवादी हैं। अतः रहस्यवाद का एक सीमित अर्थ कर कबीर को रहस्यवादी कहने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। फिर विदेशी भावापन्न शब्दों का प्रयोग अपनी साधना पद्धतियों के लिए करना हमारी दृष्टि में मानसिक दासता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कबीर की निर्गुण कान्ता भक्ति को भावात्मक रहस्यवाद और योग साधना को साधनात्मक रहस्यवाद कहना उन्हें अपने देश में ही अपरिचित बनाना है। यह गड्डलिका-प्रवाह अब बन्द होना चाहिए।

कबीर की निर्गुण कान्ताभक्ति कहाँ तक सूफी साधना से प्रभावित है, इसकी वस्तुगत विवेचना किये बिना इस कथन को इतनी बार दुहराया गया है कि इसे करीब-करीब स्वतः सिद्ध सत्य ही माना जाने लगा है। सच्चाई यह है कि कबीरदास के ऊपर सूफियों का ऋण बहुत कम है। उन्होंने कहीं अपने को सूफी परम्परा से नहीं जोड़ा है। इसके विपरीत अपने लिए प्रमाण कोटि में आनेवालों का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है, 'नारद बचन बियास कहत है, सुक को पूछहु जाई'[1]। एक ओर 'सनक, सनंदन, जैदेव नामा' और दूसरी ओर 'गौरख, भरथरी, गोपीचंदा' उनके आदर्श हैं। शेखतकी या शेख अकरदीं, सकरदीं को वे ही समझाते थे कि 'घट घट है अविनासी' और 'तुम मानहु कहा हमार'। कबीरदास ने जिस तरह नाथ पंथियों और वैष्णव भक्तों का सम्मानपूर्वक बारम्बार स्मरण किया है उस तरह एक बार भी किसी सूफी सन्त का या सूफीमत का उल्लेख नहीं किया है। काजियों और मुल्लाओं के साथ ही साथ पीरों और दरवेशों को स्मरण करते हुए उन्होंने कहा है :

पीरां, मुरीदां, काजियां, मुलां अरु दरवेस।
कहां थे तुम किनि कीये, अकलि है सब नेस ॥[2]

अर्थात् पीरो मुरीदो, काजियो, मुल्लाओ और दरवेशो तुम्हें कहाँ से और किसने बनाया है? तुम्हारी सब बुद्धि नष्ट हो गयी है। स्पष्ट है कि ऐसी अभिव्यक्ति सूफी मत के प्रति अनुकरणमूलक श्रद्धा नहीं प्रकट करती है।

सूफियों की तरह कबीर न यह मानते हैं कि परमात्मा ने सृष्टि की रचना मुहम्मद रूपी ज्योति की प्रीति के लिए की, न यही कि सृष्टि के मूल में चार तत्व ही हैं अग्नि, पवन, जल और क्षिति और न यही कि यह जीवन या यह सृष्टि ही अन्तिम है। भारतीय मान्यताओं के अनुसार ही वे सृष्टि को परमात्मा की अहेतुकी लीला मानते हैं, उसी से उत्पन्न पांच तत्त्व (आकाश तत्त्व सहित

१. वही परिशिष्ट पद सं० १३२।
२. वही पद २५७।

उपर्युक्त चार तत्त्व) उसकी रचना करते हैं और फिर वे उसी में समा जाते हैं :

पंचतत अबिगत थैं उतपना, एकैं किया निवासा।
बिछुरे तत फिरि सहज समांनां, रेख रही नहीं आसा ॥[१]

वे आवागमन को भी मानते हैं और मुक्ति सम्बन्धी उनकी धारणा भी सूफियों से बहुत भिन्न है।

प्रेम-साधना भक्ति और सूफीमत की सामान्य विशेषताएँ हैं किन्तु उनमें अन्तर भी कम नहीं हैं। सूफी इश्क मजाजी या लौकिक प्रेम को इश्क हकीकी या अलौकिक प्रेम में सहायक मानते हैं। कबीरदास ने इश्क मजाजी का समर्थन कहीं नहीं किया है। उनकी तो मान्यता थी कि 'नर नारी सब नरक है जब लग देह सकाम'[२] बल्कि उन्होंने तो यहाँ तक कहा था कि 'भगति बिगाड़ी काँमियाँ, इंद्री केरै स्वादि'[३] सिर्फ एक साखी में उन्होंने नियंत्रित काम को भी राममिलन में सहायक बताया है किन्तु उसमें भी वे शुकदेव के निर्देश को स्वीकार करने की विवशता प्रकट करते हैं :

काम मिलावे रांम कूं, जे कोई जांणै राषि !
कबीर बिचारा क्या करे, जाकी सुखदेव बोलैं साषि ॥[४]

स्पष्ट है कि यहाँ वे भागवत का अनुगमन कर रहे हैं, सूफी मत का नहीं।

सूफियों में परमात्मा को माशूक और साधक को आशिक माना जाता है! फारसी सूफी मसनवियों की माशूकाएँ प्रायः परकीया हैं। भारतीय सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में केवल चाँदायन में इस परम्परा को निभाया गया है! परवर्ती काव्यों में भारतीय मर्यादाबोध के कारण नायिकाएँ स्वकोया ही चित्रित की गयी हैं किन्तु आशिक के प्रेमवर्णन में उन्मत्तता, वासनात्मकता और उच्छ्वसित विह्वलता को ही प्रधानता दी गयी है। जबकि कबीर ने भारतीय प्रकृति पुरुष की परम्परा के अनुरूप आत्मा को विरहिणी प्रिया और परमात्मा को प्रियतम माना है और फिर भारतीय सती को अपना आदर्श स्वीकार कर संयत, मनुहारपरक एवं गम्भीर आर्तिमूलक प्रेम निवेदन किया

१. वही पद ४४।
२. वही साखी २०।७।
३. वही साखी २०।१८
४. वही साखी २९।११

है। प्रेम के क्षेत्र में उन्होंने मजनू, युसूफ या फरहाद को अपना गुरु न मानकर गोपी को अपना गुरु माना है, 'कबीरा तालिब तोरा, तहाँ गोपी हरी गुर-मोरा।'[१] यह नारदीय भक्ति सूत्र के 'यथा व्रजगोपिकानाम्'[२] का अनुसरण है। विरह की प्रधानता सूफियों में भी है और कबीर में भी किन्तु कबीर की विरहानुभूति में व्याकुलता होते हुए भी विक्षिप्तता नहीं है, न उसमें 'बिरह सरागहि भूंजे मांसू' की वीभत्सता है, न आकाश पाताल एक करनेवाली अतिशयोक्तियाँ ही। कबीर की बिरहिन 'हाल' के आवेश में या प्रियतम के साक्षात्कार के समय सूफी प्रेमियों की तरह मूर्छित नहीं होती। नारदीय भक्ति सूत्र में भक्ति की ग्यारह आसक्तियों में सर्वोत्कृष्ट आसक्ति बतायी गयी है 'परम विरहासक्ति'। ऐसी स्थिति में 'भगति नारदी मगन सरीरा, इहि बिधि भव तिरि कहै कबीरा'[३] की घोषणा करने वाले कबीर की विरहानुभूति को सूफी भावापन्न मानने का कोई कारण नहीं है। मिलन के चित्रण तो कबीर में कृष्णभक्त कवियों और सूफियों दोनों की तुलना में कहीं अधिक मर्यादायुक्त हैं। सूफियों के लिए प्रेम ही ज्ञान है किन्तु कबीर ने दोनों को सहयोगी मानते हुए भी पृथक् माना है।

इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कबीर को कान्ता-भाव की भक्ति मूलतः नारदीय भक्ति सूत्र और श्रीमद्भागवत से अनुप्राणित है, सूफी साधना पद्धति से नहीं। फिर भी वह इस दृष्टि से विशिष्ट है कि उसका आलम्बन निराकार परमात्मा है, साकार परमात्मा नहीं। क्या यह सूफियों का प्रभाव है? हो भी सकता है और नहीं भी। यह स्मरण रखना चाहिए कि वैष्णव संस्कारों की लपेट में आने के पहले कबीर निराकार नाथपंथी साधना में रत थे। वैष्णव साधना के बहुत से तत्व ग्रहण करने पर भी अपने उपास्य के पूर्ववर्ती विभावन 'अलख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार है सोई'[४] में रूपगत परिवर्तन उन्होंने नहीं किया। अतः यह भी सम्भव है कि कबीरदास ने स्वतः योगियों के निराकार परमात्मा और वैष्णवों के प्रेममय भगवान् का समन्वय कर लिया हो और यह भी सम्भव है कि ऐसा करने की प्रेरणा उन्हें निराकार परमात्मा के प्रति प्रणय-निवेदन करनेवाली सूफी साधना से मिली हो। सूफियों के प्रेम प्रतीकों में प्याला और मदिरा का प्रयोग कबीरदास ने भी किया है, उनका सत्संग भी वे करते ही थे अतः 'निर्गुण कान्ता भक्ति' के

---

१. वही पद ५३१ (डा० माताप्रसाद गुप्त का पाठ)

२. नारदीय भक्ति सूत्र सं० २१

३. वही पद २७८

४. वही बड़ी अष्टपदी रमैणी पृ० २३०

प्रवर्तन में प्रकारान्तर से कबीर सूफियों के अंशतः ऋणी भी हो सकते हैं किन्तु उसे सूफियों का अनुकरण नहीं कहा जा सकता। पूर्ववर्ती साधनाओं का यह सरस, मधुर समन्वय भारतीय संस्कृति को कबीरदास की बहुत बड़ी देन है। इसने न केवल मध्य युग में नानक, दादू, सुन्दर जैसे महात्माओं को प्रेरणा दी बल्कि आधुनिक युग में रवीन्द्रनाथ जैसी प्रतिभा को भी प्रभावित किया।

कबीरदास की तीसरी बड़ी देन है सहजता की महिमा की प्रतिष्ठा। पांडित्यजनित जटिलता, साधनामूलक आडम्बर, बहुविधान युक्त बाह्याचार उन्हें निरर्थक ही नहीं, मोहपाश में आबद्ध करनेवाले भी लगते थे। उनका विश्वास था :

साँई सेती साच चलि, औरां सूं सुध भाइ।
भावै लाँबेस करि, भावै घुरड़ि मुड़ाइ ॥[१]

इस देश का यह दुर्भाग्य रहा है कि यहाँ सहज के नाम पर भी जटिल, गुह्य और कुटिल साधनाएँ प्रवर्त्तित की गयी थीं इनका प्रत्याख्यान करते हुए कबीर ने कहा था :

सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हें कोई।
जिन्ह सहजैं विषिया तजी, सहज कहीजै सोइ ॥[२]

जटिल कुंडलिनी योग से सहज समाधि एवं प्रेमाभक्ति की ओर, उलटवाँसी से सहज वाणी की ओर अभिगमन कर कबीर ने अपने जीवन में इस सिद्धान्त को चरितार्थ किया था। 'क्या जप क्या तप संजमा, क्या ब्रत, क्या इस्नान'[३] कहनेवाले कबीर का विश्वास यही था कि 'भोले भाइ मिले रघुराया'[४] जिसकी कथनी और करनी एक है, उसके लिए और किसी साधन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनके विश्वास के अनुसार :

जैसी मुख तैं नीकसें, तैसी चालै चाल।
पारब्रह्म नेड़ा रहै, पल में करे निहाल ॥[५]

क्या कबीर की इन देनों को मौलिक कहा जा सकता है ? यदि मकड़ी की तरह अपने पेट से ही सारा जाल निकालने को मौलिकता माना जाये तो

२. वही साखी २४।११
३. वही साखी २१।२
४. वही परिशिष्ट पद ८१४
५. वही परिशिष्ट पद ५२
६. वही साखी १८।२

इसका उत्तर नहीं में देना पड़ेगा। अद्वैतवाद, सर्वधर्मसमन्वय, जन्म के ऊपर कर्म की महत्ता का प्रतिपादन, जातिपाँति, छुआछूत का खंडन, कान्ताभाव की भक्ति, निराकार परमात्मा के प्रति प्रणयनिवेदन, हठयोग की साधना कथनी करनी की एकता, सहज सरल सदाचार पूर्ण जीवन इन सबका निरूपण तो कबीर के पूर्व अलग अलग ढंग से बहुत से विचारक, साधक कर चुके थे, अतः कैसे कहा जा सकता है कि ये बातें नयी हैं ? किन्तु मौलिकता यही नहीं है, मधुमक्खी की तरह असंख्य फूलों का रस संग्रह कर उन्हें एकात्म मधु में परिवर्त्तित कर देना भी मौलिकता है। कबीर ने इन बातों का जिस प्रकार समन्वय किया वह इतना अपूर्व था कि लोक-मानस उन पर मुग्ध हो गया। मौलिकता आँखों में काजल देने में नहीं होती, चितवन के बाँकपन में होती है, कबीर के शब्दों में वे ही लोचन 'प्रमाण' हैं जो प्रिय का मन मोह लें :

काजल देइ सबै कोई, चषि चाहन मांहि बिनांन।
जिनि लोइनि मन मोहिया, ते लोइन परवांन ।।[१]

इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि भारत के ही नहीं दुनियां भर के सहृदयों का मन मोहनेवाली कबीर की वाणी 'प्रमाण' है।

---

१. वह पद २८

२.

विनय पत्रिका में

मनोविजय की साधना

श्री रामचरितमानस में रामराज्य का वर्णन करते हुए तुलसी ने लिखा है :

जीतहु मनहिं सुनिअ अस रामचन्द्र कें राज ।[१]

अर्थात् श्रीराम के राज्य में यही सुना जाता था कि मन को जीतो। श्रीराम के आध्यात्मिक राज्य के प्रत्येक निवासी की यही साधना है कि मन को जीत कर उसे श्रीराम के चरण-कमलों में भ्रमर की भाँति बसा दिया जाय। तुलसीदास ने आजीवन यह साधना की थी। विनयपत्रिका में उनकी इस साधना का विस्तृत रूप उपलब्ध होता है। उनका विश्वास था कि वे प्रत्येक पूर्व जन्म में अपनी शक्ति भर मन से जूझते रहे फिर भी उस पर विजय न प्राप्त कर सके। अतः इस बार प्रभु से कृपा की याचना करते हुए जिता दिए जाने की प्रार्थना करते हैं :

कबहुँ कृपा करि रघुबीर मोहूँ चितैहौ ।
भलो बुरो जन आपनो जिय जानि दयानिधि ! अवगुन अमित बितैहौ ।।

जनम जनम हौं मन जित्यो, अब मोहिं जितैहौ ।
हौं सनाथ ह्वै हौं सही, तुमहूँ अनाथपति, जो लघुतहि न भितैहौ ।।[२]

जन्म जन्म में मुझे मन ने जीता है, इस बार मुझे जिताओगे ? इस कातर प्रार्थना के पीछे जन्म जन्म में सहे लांछन-उपहास-कष्ट की कितनी मर्मन्तुद वेदना है। इस बार प्रभु-कृपा से उनसे मुक्ति पाने का संकल्प है। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है :

---

१. ७।२२।१०। विनयपत्रिका और दोहावली के उद्धरण काशी नागरी प्रचारिणी सभा की तुलसी-ग्रंथावली के दूसरे खंड के चतुर्थ संस्करण से तथा रामचरितमानस के उद्धरण आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र संपादित काशिराज संस्करण से उद्धृत हैं।

२. विनयपत्रिका, २७०।

परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं ।[१]

परवश (विषयवासना आदि के वश) जान कर ये इंद्रियाँ मुझ पर हँसती रहीं (मन तो इंद्रियों का अधिपति है अतः वह और भी अधिक हँसता रहा होगा), किन्तु आत्मवश होकर (मन सहित समस्त इंद्रियों को जीतकर) अब मैं हास्यास्पद नहीं बनूँगा । मनोविजय की इस दृढ़ संकल्पमयी साधना का निर्वाह तुलसी ने किस प्रकार किया है, मुख्यतः विनयपत्रिका के पदों के सहारे इसका विवेचन मात्र यहाँ अभिप्रेत है ।

यह भी समझ रखना चाहिए कि विनयपत्रिका में गोस्वामी जी का मुख्य काम्य प्रभुशरणागति है । मनोविजय की साधना उसी के निमित्त है, क्योंकि भगवान् की शरण तो तभी मिल सकती है जब मन विषयों का परित्याग कर शुद्ध और स्थिर होकर उनकी ओर उन्मुख हो । तुलसी ने बार बार अनुभव किया है कि :

विषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक ।
तातें सहिय बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक ॥[२]

मन रूपी मत्स्य विषय रूपी जल से एक पल के लिए भी नहीं अलग होता फलतः अत्यंत दारुण विपत्ति सहनी पड़ती है, अनेक योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है । यदि इसी विषयासक्त मन से, मलिन अंतस् से अनेक प्रकार के बाह्य साधन किए जाएँ तो उसी प्रकार कोई लाभ नहीं होगा जिस प्रकार बांबी को पीटने से उसके भीतर रहनेवाला सर्प नहीं मरता है । मन यदि जीवद्रोह, मद-मत्सर से परिपूर्ण, विषयानुरागी, चंचल और निजतापरता रूपी द्वैतबुद्धि से लिप्त है तो भगवान् का प्रिय कैसे हो सकता है[३] क्योंकि इसके लिए तो इनसे विपरीत गुणों की अपेक्षा है :

अखिल-जीव-बत्सल निर्मत्सर चरन-कमल-अनुरागी ।
ते तव प्रिय रघुबीर ! धीरमति अतिसय निज-पर-त्यागी ॥[४]

मानस में तो श्रीराम ने स्पष्ट कहा ही है :

निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥[५]

---

१. वही, १०५ ।
२. वही, १०२ ।
३. वही, ११५ ।
४, वही, ११८ ।
५. मानस, ५।४४।५ ।

निष्कर्ष यही निकलता है कि जब तक हृदय में भक्ति का प्रकाश नहीं होता और मन से विषयवासना की तृष्णा नहीं मिटती तब तक आवागमन के चक्र में पड़े रहने के कारण स्वप्न में भी सुख नहीं मिल सकता, प्रभु-शरण की तो बात ही और है। अतः मनोविजय उस प्रधान उद्देश्य का अनिवार्य साधक तत्त्व है।

चूँकि विनयपत्रिका की शैली भाव-निवेदन प्रधान है अतः तत्त्व विवेचन उसका अंग बनकर ही आ सका है। वास्तव में विनयपत्रिका के पद एक महान् विचारशील भक्त के सहज वैयक्तिक उद्‌गार हैं जिनमें प्रभु की महत्ता बोधक स्तुति के साथ अपनी लघुता सूचक उक्तियों का समावेश इस प्रकार किया गया है कि उनकी करुणा का उद्रेक हो सके और वे भक्त को अपनी शरण में ले लें, अपना बना लें। फलतः इन पदों में तुलसी की दार्शनिक विचारधारा प्रसंग प्राप्त विषयों के अनुसार अभिव्यक्त हुई है, सांगोपांग विवेचन के रूप में नहीं। मन के विचार के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। मन अणुरूप है कि विभुरूप, उसकी अवस्थिति दोनों भौंहों के बीच आज्ञा चक्र में है या हृदय में आदि निरे सैद्धांतिक विवेचन में तुलसीदास नहीं उलझे हैं। मन की परिभाषा भी उन्होंने नहीं दी है किन्तु उसकी क्रिया प्रकृति आदि का विस्तृत चित्रण किया हैं। इसका अभिप्राय यही है कि उन्होंने परम्परागत अर्थ में मन को ग्रहण कर उसके व्यावहारिक पक्ष पर पूरा जोर दिया है और प्रतिपादित किया है, कि विषयासक्त होने पर जीवकी दुर्दशा तथा विषयनिवृत्त हो रामोन्मुख होने पर ही जीव का कल्याण साधन संभव है। वाक्य-ज्ञानके प्रति अनास्था एवम् 'सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति' पर भरोसा करनेवाले भक्त के लिए यह स्वाभाविक ही है। सूक्ष्म शास्त्रीय दृष्टि से वेदांत में मन को अंतःकरण के चार विभाजनों मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार में एक माना है और उसका लक्षण संकल्प विकल्प करना कहा है। तुलसी ने इस विभाजन को स्वीकार करते हुए विनयपत्रिका में लिखा है :

चौथि चारि परिहरहु बुद्धि मन, चित अहँकार।
बिमल बिचार परमपद निज सुख सहज उदार ॥[1]

किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि तुलसीदास ने 'मन' शब्द का प्रयोग सदा 'संकल्प विकल्प' करनेवाली अंतःकरण की विधा विशेष के रूप में ही नहीं किया है। जब वे कहते हैं :

---

१. विनय०, २०३।

काय न कलेस लेस, लेत मानि मन की।
सुमिरे सकुचि रुचि जोगवत जन की ॥[१]

तब वे काय की तुलना में मन को रख कर यह सूचित करते हैं कि यहाँ मन से तात्पर्य संपूर्ण अंतःकरण से है केवल संकल्प विकल्प करनेवाले अंश से नहीं। यही भाव :

मन, इतनोई या तनु को परम फलु।
सब अँग सुभग बिंदुमाधव-छबि तजि सुभाउ अवलोकु एक पलु ॥[२]
तौ तू पछितैहैं मन मींजि हाथ।
भयो सुगम तो को अमर-अगम तनु समुझि धौं कत खोवत अकाथ ॥[३]

आदि प्रयोगों में भी झलकता है। 'करम-बचन-मन' तुलसी का अत्यंत प्रिय मुहावरा है। इससे भी बाह्य वृत्तियों (करम-बचन) के साथ आभ्यंतर वृत्ति (मन) का बोध होता है। कहा जा सकता है कि 'मन' से तुलसी का यही प्रधान अभिप्रेत अर्थ है। 'मन्यते बुध्यते अनेन इति मनः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी मन का अर्थ है मनन का साधन अर्थात् प्राणियों की वह शक्ति जिसके द्वारा उनको वेदना, संकल्प, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, बोध और विचार आदि का अनुभव होता है।[४] इसी व्यापक अर्थ में तुलसीदास ने मन का प्रयोग किया है। प्रायः इसी के समशील अर्थ में चित्त[५] और हृदय[६] का भी प्रयोग किया है।

अब 'जीतहु मनहिं' का अर्थ भी समझ लिया जाय। मन अजितावस्था में क्या करता है, उसका वह कार्य किस प्रकार जीव को बाँधता है, यह जान लेने पर मन को जीतने का अर्थ स्पष्ट हो जायगा। मन इंद्रियों द्वारा उपलब्ध ज्ञान को वर्गीकृत कर आत्मा के पास पहुँचाता है और आंतरिक निर्णयों को इंद्रियों के द्वारा कार्यान्वित कराता है। इस प्रकार वह बाह्य वस्तुओं का तद्वत् बोध नहीं करता वरन् वस्तुओं के मनोमय रूप बनाकर रागद्वेष के कारण

---

१. वही, ७१।
२. वही, ६३।
३. वही, ८४।
४. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ।
५. विनय०, १४, १०४।
६. वही, ११६, १६९।

उन्हें ग्राह्य, त्याज्य या उपेक्षणीय मान बैठता है। वह बाह्य जगत् से भिन्न मनोमय जगत् की रचना कर उसके प्रति रागद्वेष का पोषण कर जीव को बाँधता है। पंचदशी के द्वैत विवेक प्रकरण में यह बताया गया है कि द्वैत दो प्रकार का है—ईश्वरकृत और जीवकृत। ईश्वर ने अपनी मायाशक्ति से अपने संकल्प के अनुसार समस्त जगत् की रचना की है। वह ईश्वरकृत द्वैत जीव को सदैव बाँधता ही हो, ऐसी बात नहीं है। वह गुरु, शास्त्र आदि (जो ईश्वरकृत द्वैत के कारण ही सुलभ हैं) के द्वारा इसकी प्रतीति हो जाने पर कि इस दृश्यमान जगत् के मूल में एक ही तत्त्व है, जीव को इस द्वैत से मुक्ति पाने की सुविधा भी देता है। यह ईश्वरकृत जगत् जीव का भोग्य उसके ज्ञान एवम् कर्म के कारण ही बनता है। अतः वास्तविक बंधन तो जीवकृत द्वैत है जो मनोमय जगत् के कारण उत्पन्न होता है। ईश्वरकृत मांसमयी स्त्री तो एक ही है किन्तु उसी के आधार से निर्मित मनोमयी स्त्रियाँ, माता, भगिनी, प्रिया, पत्नी, पुत्री आदि के रूप में अनेक हैं और इन्हीं मनोमय रूपों के कारण वह मांसमयी स्त्री (या कोई भी वस्तु) रागद्वेष के बंधन में भोक्ताओं को बाँधती है। बाह्य पदार्थ के रहने न रहने से ही सुख दुःख की अनुभूति होती हो ऐसा भी नहीं है। वह तो मनोमय पदार्थ के रहने न रहने से ही होती है। किसी का प्रवासी पुत्र जीवित भी हो किंतु यदि पिता को कोई दुष्ट उसकी मृत्यु का संवाद दे तो मनोमय पुत्र को मरा जानकर पिता रोने लगता है। इसी तरह यदि पुत्र की मृत्यु हो गई हो तो भी ज्ञात न होने तक मनोमय पुत्र के जीवित रहने के कारण पिता को शोक नहीं होता।[1] निष्कर्ष यह निकलता है कि जीव के लिए मन ही अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार जगत् की सृष्टि करता है और उसी से जीव को बाँधता है। अतः मन की प्रवृत्तियों का निरोध कर इसी मनोमय द्वैत का निराकरण करना ही मन को जीतना है।

तुलसीदास पंचदशी से यहाँ तक तो सहमत हैं। उनका सुविचारित मत है :

> जौ निज मन परिहरै बिकारा।
> तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख, संसय, सोक, अपारा ॥[2]

---

१. दूरदेशं गते पुत्रे जीवत्येवात्र तत्पिता।
विप्रलंभकवाक्येन मृतं मत्वा प्ररोदिति ॥
मृतेऽपि तस्मिन्वार्तायामश्रुतायां न रोदिति।
अतः सर्वस्य जीवस्य बंधकृन्मानसं जगत् ॥ पंचदशी, ४।३४-३५।

२. विनय०, १२४।

यदि मन अपने विकारों को छोड़ दे तो फिर द्वैतभाव के कारण उत्पन्न अपार सांसारिक दुःख, संशय और शोक कहाँ रह जायँ। इसी मन ने तो बलपूर्वक किसी को शत्रु मानकर सर्प के समान त्याज्य, किसी को मित्र मानकर स्वर्ण के समान ग्राह्य और किसी को मध्यस्थ मानकर तृण के समान उपेक्षणीय समझ रखा है। जैसे भोजन, वस्त्र, धन विविध प्रकार की वस्तुएँ सब मणि में रहती हैं वैसे ही स्वर्ग, नरक और अनेक प्रकार के लोक मन में ही बसते हैं। जैसे वृक्ष या काठ में कठपुतली और सूत में वस्त्र बिना बनाए निहित रहते हैं (तभी तो उन पदार्थों से उनका निर्माण हो जाता है) वैसे ही मन में अनेक प्रकार के रूप अव्यक्त भाव से रहते हैं जो अवसर पाते ही प्रकट हो जाते हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि तुलसीदास विज्ञानवादी बौद्धों की तरह जगत् को केवल मन की कल्पना मानते थे। उनके अनुसार जगत् तो 'सीय राम मय' है एवम् राम का रुख पाकर माया द्वारा रचित है, मन केवल उसमें प्रवृत्त होकर उसे अपना भोग्य बनाता है और इस प्रकार मनोमय जगत् की सृष्टि करता है। रूपक की भाषा में तुलसी ने कहा है :

वपुष ब्रह्माण्ड सो, प्रवृत्ति-लंकादुर्ग रचित मन-दनुज-मयरूपधारी।[1]

यहाँ ब्रह्माण्डरूपी शरीर का रचयिता मन नहीं कहा गया है, वह तो प्रवृत्ति रूपी लंकादुर्ग को ही रचता है। यह भी लक्षणीय है कि तुलसी इस लंकादुर्ग का समूल नाश नहीं चाहते। वे इसका कलुष प्रबल वैराग्य रूपी हनुमान् से भस्म करवा कर मोहरूपी रावण के स्थान पर रामके चरणसेवक विभीषणको इस पर राज्य करते देखना चाहते हैं : सारांश यह कि मनके विचार या मनोमय द्वैतके कारण ही कोई पदार्थ सुखमय या दुःखमय प्रतीत होता है और इसी रागद्वेष के कारण जीव बंधनग्रस्त होता है। इसीलिए गीता में तथा अन्यत्र भी कहा गया है, 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' अर्थात् मन ही मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण है। विषयासक्त मन जीव को बाँधता है और निर्विषय मन मुक्त करता है। इसके आगे पंचदशीकार का और उनका मार्ग भिन्न है। पंचदशी (अर्थात् ज्ञान-मार्गियों) के अनुसार ब्रह्मज्ञान से ही इस द्वैत की वास्तविक निवृत्ति सम्भव है,[2] योग भी सहायक है, निर्विकल्प समाधि-

---

१. वही ५८।
२. पंचदशी, ४।३६।

से या आत्मज्ञानी दीर्घ प्रणव का उच्चारण कर मनोराज्य को जीत सकता है। विजित हो जाने पर मन उसी प्रकार वृत्तिशून्य हो जाता है जिस प्रकार मूक वाग्व्यवहार से रहित होता है। तुलसीदास को न यह मार्ग स्वीकार है और न मन की वृत्तिशून्य मूकवत् स्थिति। मनोविजय के लिए तुलसीदास का एकमात्र सम्बल है प्रभु-कृपा और काम्य है मन की वृत्तियों का राममय हो जाना।

तुलसीदास ने विस्तारपूर्वक मन की उच्छृंखलता, चंचलता और विषयासक्ति का चित्रण किया है, क्योंकि मन की अनीति को दूर करने के लिए उसे पहले जानना होगा। मानस के उत्तरकांड में मानसरोगों की चर्चा करते समय उन्होंने लिखा है कि काम, क्रोध, लोभ आदि मानसिक रोगों से सारा संसार ग्रस्त है, किन्तु विरले ही ऐसे होते हैं जो यह जान भी पाते हैं कि उन्हें मानसरोग कष्ट दे रहे हैं। जान पाने पर ये पापी कुछ छीजते हैं, दुर्बल होते हैं यद्यपि नष्ट नहीं होते।[१] अतः मानसिक विकारों का वर्णन भी उन विकारों को दूर करने में सहायक है, किंतु इस वर्णन का यही प्रधान कारण नहीं है। वस्तुतः यह वर्णन अपने जानने के लिए नहीं, प्रभु को सुनाने के लिए किया गया है, जैसा कि :

दीनबंधु, सुखसिंधु, कृपाकर, कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ ! मन जरत त्रिबिध ज्वर, करत फिरत बौराई ॥[२]

तथा 'सुनहु राम रघुबीर गुसाईं। मन अनीति-रत मेरो।'[३]

आदि पंक्तियों से स्पष्ट है। दोहावली में तुलसी ने लिखा है :

तुलसी राम कृपालु सों कहि सुनाउ गुन दोष।
होय दूबरी दीनता परम पीन संतोष ॥[४]

अर्थात् कृपालु राम से अपने गुण दोष कह सुनाओ जिससे दीनता दुर्बल और संतोष परम पुष्ट हो। प्रभु के निकट सच्चे हृदय से अपने दोषों को

---

१. एहि विधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति बियोगी ॥
मानसरोग कछुक मैं गाए। हहिं सब के लखि बिरलेन्ह पाए ॥
जाने तें छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी ॥
—मानस, ७।१२२।१-३।

२. विनय०, ८१।

३. वही, १४३।

४. दोहावली, ६६।

स्वीकृति उन दोषों की निवृत्ति के लिए परम आवश्यक है क्योंकि सच्चे पश्चाताप पर ही प्रभु की करुणा होती है। तुलसी ने विनयपत्रिका में बार-बार इस बात पर भरोसा किया है कि मैंने अपने मन की कुचाल प्रभु से कह सुनाई है। कभी अपने मूढ़ मनकृत दोषों का वर्णन करते हुए कहते हैं :

तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब मैं निज दोष कछू नहिं गोयो।[१]

कभी इस बात से बड़े संतोष का अनुभव करते हैं कि मैं अपनी ओर से सब बातें प्रभु से कह कर निश्चित हो चुका :

तुलसी समुझि समुझाया मन बार बार।
अपनो सो नाथ हूँ सों कहि निरबह्यो हौं ॥[२]

कितने विश्वास के साथ वे कहते हैं कि मेरी बात सब प्रकार से बिगड़ी हुई है केवल एक ही प्रकार से अच्छी तरह से बनी है कि मैंने सब कुछ अपने श्रेष्ठ स्वामी से कह सुनाया है :

सब भाँति बिगरी है एक सुबनाउ सो।
तुलसी सुसाहिबहिं दियो है जनाउ सो ॥[३]

अतः यह स्मरणीय है कि मन की दुष्टता का वर्णन प्रभु की करुणा की याचना के उद्देश्य से इस विश्वास के साथ किया गया है कि मन को सुधारने का अंतिम दायित्व प्रभु का ही है।

तुलसीदास के अनुसार मन का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह हरिपद सुख का परित्याग कर विषयासक्त हो गया है। अपनी इस वेदना को उन्होंने

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि रामभगति-सुरसरिता आस करत ओसकन की ॥[४]
निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो।[५]
चरन-सरोज बिसारि तिहारे निसि दिन फिरत अनेरो ॥[६]
सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहिं रहत दूरि जनु खोयो।[७]

१. विनय०, २४५।
२. वही, २६०।
३. वही, १८२।
४. वही, ९०।
५. वही, ८८।
६. वही, १४३।
७. वही, २४५।

जैसी पंक्तियों में व्यक्त किया है। अनीतिरत मन प्रभु के चरण कमलों को भुलाकर अन्यत्र फिरता रहता है, वेदादि का अनुशासन नहीं मानता, उसे किसी का भी त्रास नहीं है, कर्म के कोल्हू में तेल के समान अनेक बार पेरा जाकर भी वह शूल को भूल गया है, जहाँ प्रभू की कथा हो, सत्संग हो वहाँ स्वप्न में भी नहीं जाता, लोभ, मोह, मद, काम, क्रोध में रत है उन्हीं से घना प्रेम करता है, पर-गुण सुनकर जल उठता है, पर-दोष श्रवण से हर्षित होता है, आप पाप का नगर बसा ले किंतु दूसरे का गाँव भी उसे सह्य नहीं, समस्त साधनों का फल वेदों का सार, भवसरिता तरने के लिए बेड़े के समान प्रभु का नाम कौड़ियों के लिए बेच कर बलपूर्वक दासवृत्ति अपनाता है। कभी यदि सत्संगति के प्रभाव से सुमार्ग के निकट भी जीव आता है तो यह क्रुद्ध होकर कुमनोरथों से भटका देता है, मन के दुःसह दरेरे असह्य हैं।[१]

इस अनीति का कारण मन की मलीनता है जो विषयासक्ति के फलस्वरूप है—'मन मलिन विषय सँग लागे'। विषय इंद्रियों के अर्थ को कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के प्रति श्रोत्र, त्वक्; नेत्र, रसना, नासिका की सहज आसक्ति है। ये इन्द्रियाँ बलपूर्वक जीव को अपने-अपने विषयों में लगा देती हैं। इसीलिए कहा गया है :

निसि दिन भ्रमत बिसरि सहज सुख जहँ तहं इंद्रिन तान्यो।

इन विषयों के भोग के कारण सुख की भ्रामक प्रतीति के अनंतर दुःसह दुःख झेलना पड़ता है, फिर भी मन अपना स्वभाव नहीं छोड़ता, भौतिक सुखों की कामना से कर्म-कीच में सनता ही रहता है। यह इसका चरम अज्ञान है कि शत्रुओं को मित्र मान कर उनका संग कर कुपथगामी हो जाता है। ये शत्रु हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर जिन्होंने इसका ज्ञान और वैराग्य हर लिया है।[२] मन अत्यन्त चंचल है। वह क्षण भर के लिए भी स्थिर नहीं हो पाता। कभी वह योग में लीन होता है तो कभी भोग में, कभी वियोग का अनुभव करता है, कभी मोह के वशीभूत हो अनेक प्रकार के द्रोह करता है तो कभी अत्यंत दयालु हो उठता है, कभी दीन, निर्बुद्धि, गरीब बन जाता है, कभी पाखंडी तो कभी धर्मात्मा ज्ञानी, कभी संसार को धनमय देखता है तो कभी शत्रुमय; कभी स्त्रीमय, इस प्रकार काम, क्रोध, लोभ के सन्निपात से ग्रस्त

१. वही, १४३।

२. वही, १७३, १८७।

हो दारुण सांसारिक दुःख भोगता रहता है ।[१] इन्हीं विचारों को तुलसीदास ने अनेक पदों में दुहराया है ।

मन की इस शोचनीय परिणति का सारा दोष तुलसीदास अपना मानते हैं, विधाता, देश, काल, कर्म, स्वभाव आदि के माथे नहीं थोपते :

हे हरि, कवन दोष तोंहि दीजै ?
जेहि उपाय सपनेहुँ दुर्लभ गति, सोइ निसि बासर कीजै ॥[२]
कैसे देउँ नाथहिं खोरि ?
काम-लोलुप भ्रमत मन हरिभगति परिहरि तोरि ॥[३]
है प्रभु मेरोई सब दोसु ।
शीलसिंधु, कृपालु, नाथ, अनाथ-आरत पोसु ॥[४]

आदि पदों में तुलसीदास सीधे-सीधे अपने को ही दोषी मानकर कहते हैं कि प्रभु तो अनाथों और आर्तों का पोषण करनेवाले हैं, मैं ही यदि केवल वचन और वेष में वैराग्य झलकाऊँ और मन को पापों एवम् अवगुणों का कोष बना रखूँ, राम के प्रति मेरा विश्वास और प्रेम तो पोला हो और कपटाचरण ठोस हो तो फिर कैसे मेरा भला हो सकता है ? यहाँ दोहावली का यह दोहा भी द्रष्टव्य है :

निज दूषनु गुन रामके समुझे तुलसीदास।
होय भलो कलिकाल हू उभय लोक अनयास ॥[५]

अर्थात् दोष अपने और गुण राम के समझने पर इस कलिकाल में भी भला होता है और अनायास ही उभय लोकों की प्राप्ति होती है । इसी सिद्धांत के अनुसार मन की शठता के लिए भी अपने को ही दोषी मानकर वे उसे सत्पथ पर लाने का प्रयास करते हैं ।

मन को अपने आचरण पर लज्जित करने के लिए वे उसकी भर्त्सना करते हैं और साथ ही साथ उसे शिक्षा भी देते हैं । 'तौ तू पछितैहैं मन मींजि हाथ' या 'मन पछितैहै अवसर बीते' जैसे पद केवल भर्त्सनामूलक नहीं है । यह सचमुच ग्लानि की बात है कि देवदुर्लभ मानव शरीर पाकर उसे क्षुद्र कार्यों में

---

१. वही, ८१ ।
२. वही, ११७ ।
३. वही, १५८ ।
४. वही, १५९ ।
५. दोहावली, ७७ ।

नष्ट कर दिया जाय। मन को शिक्षा देते समय तुलसीदास ने उसकी प्रवृत्तियों को खूब ध्यान में रखा है। आखिर मन विषयों के पीछे क्यों भटकता है, सुख के लिए ही तो। अतः तुलसी ने पहले इसी बात पर जोर दिया है कि :

सुखसाधन हरि विमुख वृथा, जैसे श्रम-फल घृतहित मथे पाथ।[१]

अर्थात् हरिविमुख होकर सुख के लिए प्रयास करना उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे घी के लिए पानी मथना, उससे केवल परिश्रम ही हाथ आता है। इसी तरह :

सुनु मन मूढ़, सिखावन मेरो।
हरिपद-बिमुख लह्यो न काहु सुख सठ यह समुझि सबेरो॥[२]

कहने के बाद सूर्य, चन्द्रमा और गंगा के उदाहरण से बताया है कि प्रभु से बिछुड़ने पर सबको घना दुःख उठाना पड़ता है। सुख तो प्रभु की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। अतः वे कहते हैं :

तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो॥[३]

फिर यह भी बताया है कि विषय सुख अत्यंत क्षणिक, भ्रांतिमूलक एवम् वस्तुतः दुःख की जड़ है। विषय सुख की असारता का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है :

अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति ज्यों भरि मुख पकरयो।
निज तालूगत रुधिर पान करि मन संतोष धरयो॥[४]

जिस प्रकार कोई भूखा कुत्ता पुरानी सूखी हड्डी को मुँह में भरकर झिझोड़े और अपने तालू से निकलते हुए रुधिर को उस हड्डी से निकलता मानकर उसे झिझोड़ने में सुख माने, जब कि वस्तुतः उसे परम हानि हो रही है उसी प्रकार विषयों के भोग में जिस सुख की अनुभूति है वह अपनी स्पृहा से उत्पन्न एवम् मृगजल की तरह मिथ्या है तथा जीव को आवागमन के चक्र में डालनेवाली है। बार-बार तुलसी ने विषय-सुख को ओस-कण की तरह तुच्छ, नीम की तरह कटु, मृगजल की तरह

१. विनय०, ८४।
२. वही, ८७।
३. वही, १६२।
४. वही, ९२।

अवास्तविक विषफल के समान त्याज्य आदि कहा है। विषय भोग के अंतिम परिणाम को ओर ध्यान आकृष्ट कर उनके परित्याग की प्रेरणा देते हुए उन्होंने लिखा है कि सहस्रबाहु एवम् रावण भी जीवनकाल में 'हम हम' (श्रेष्ठता का अहंकार) करते हुए धनधाम ही सँवारते रहे किन्तु अन्त में उन्हें खाली हाथों ही जाना पड़ा। पुत्र-पुत्री आदि आत्मीय तो परम स्वार्थी हैं, स्वार्थ सध जाने पर अन्त में तेल निकली हुई खली की तरह छोड़ देने में कुंठित नहीं होते। अतः ओ मन, तू उन्हें अभी से क्यों नहीं छोड़ देता। ओ जड़, अब भी जाग और प्रभु से अनुराग कर; याद रख विषय भोग रूपी घृत से कामनाओं की अग्नि कभी शान्त नहीं होती।[1] अतः मन यदि प्रभु रूपी कल्पवृक्ष को प्राप्त करना चाहता है तो उसे विषय विकार का परित्याग एवम् जगत् के सार स्वरूप प्रभु का भजन करना ही होगा। शम, संतोष, शुद्ध विचार एवम् सत्संग को दृढ़तापूर्वक धारण करना होगा और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, राग और द्वेष को जड़ से त्याग देना होगा।[2]

मन को वश में करने के लिए इंद्रियों को पहले वश में करना चाहिए। इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर निरुद्ध करना अत्यन्त कठिन है। तुलसीदास इन्द्रियों को रामोन्मुख कर देना चाहते हैं। उनका उपदेश है—

स्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु।
नयनन निरखि कृपा-समुद्र हरि अगजग-रूप भूप सीताबरु॥[3]

अर्थात् कानों से उनकी कथा सुनो, मुँह से नाम लो, हृदय में उन्हें बसाओ, सिर झुकाकर प्रणाम करो, हाथों से सेवा एवम् नेत्रों से चराचर रूप कृपा-समुद्र श्रीराम के दर्शन करो। ऐसा कर पाने पर किसी अन्य साधन का प्रयोजन ही नहीं रहेगा क्योकि यही सच्ची भक्ति हैं, वैराग्य है, ज्ञान है और हरि को प्रसन्न करने का व्रत है। इसी प्रकार तुलसीदास मन को मनोरथ शून्य करने के पक्ष में भी नहीं हैं। वे विषय-भोग सम्बन्धी मनोरथों के स्थान पर प्रभु की सेवा, भक्ति करने और प्रभु की कृपा पाने के शुभ मनोरथों से मन को परिपूर्ण रखना चाहते हैं। उनके मनोरथों में समस्त इन्द्रियों को प्रभुमय कर देने की भावना बहुत प्रबल है। उनका संकल्प है 'जानकीजीवन की बलि जैहों'। उनका चित्त सीताराम के चरणों को छोड़कर अब और कहीं जाने

---

१. वही, १९८।

२. वही, २०५।

३. वही, २०५।

के लिए प्रस्तुत नहीं है। उनके हृदय में यह विश्वास जम गया है कि प्रभु-पदविमुख होकर स्वप्न में भी सुख नहीं मिलेगा। वे मन समेत शरीर के समस्त निवासियों (इन्द्रियों) को यही शिक्षा देंगे। वे कानों से और बात नहीं सुनेंगे, जीभ से किसी और के गुण नहीं गाएँगे, नेत्रों से किसी और को नहीं देखेंगे तथा प्रभु के सामने ही सिर झुकाएँगे।[१]

वे यहीं नहीं रुकना चाहते। मन का स्वभाव है विषयों में आसक्त होना, यही उसकी सहज प्रकृति है। तुलसीदास का मनोरथ है कि इसी प्रकार सहज स्वाभाविक रूप से मन को प्रभु के प्रति आसक्त होना चाहिए। ऐसा न होने पर वे परिताप के साथ कहते हैं कि 'हे प्रभु ! मेरा मन इस प्रकार तुमसे कभी नहीं लगा, जिस प्रकार छल छोड़कर स्वाभाविक रूप से निरन्तर विषयों में अनुरक्त रहता है, जैसे परनारी को देखा वैसे तो कभी साधुओं के (या प्रभु के) दर्शन नहीं किए, जैसे घर घर के पाप प्रपंच रस ले ले कर सुने वैसे तो कभी गंगा-तरंग के समान निर्मल राम के गुण-समूह नहीं सुने, जैसे नासिका अन्य सुगन्धों के रस के वश रही वैसे तो राम के प्रसाद की माला उसने नहीं सूँघी, जैसे जिह्वा का षटरस भोजन में प्रेम रहा वैसे तो वह राम की जूठन के लिए नहीं ललकी, नहीं ललची, जैसे चंदन, चंद्रमुखी के शरीर, भूषण वस्त्र को यह नीच शरीर स्पर्श करना चाहता था वैसे तो कभी राम के चरण स्पर्श के लिए यह पापी नहीं तरसा, जैसे भौतिक दुष्ट स्वामियों की सेवा शरीर, मन और वाणी से की वैसे तो कभी कृतज्ञ राम की सेवा नहीं की जो एक बार प्रणाम करने से भी संकुचित हो जाते हैं, जैसे तुच्छ लोभ के लिए ये पैर दुनियाँ के द्वार द्वार भटकते फिरे वैसे तो ये अभागे कभी सीताराम के आश्रम जाने के लिए नहीं उमगे।[२] इन सभी पदों से यही सिद्ध होता है कि मन और इंद्रियों को वशीभूत करने के लिए वे उन्हें स्वाभाविक रूप से रामोन्मुख कर देना चाहते थे।

तुलसीदास मन को अभिमानरहित शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण में एकरस, क्रोधरहित (विगत मान, सम सीतल)[३] सुख-दुख, हर्ष-शोक आदि द्वंद्वों से रहित, ज्ञान रत, विषयों से विरक्त, सब प्रकार की परीक्षाओं में खरा उतरने वाला, समस्त प्राणियों का हितैषी, निष्कपट, प्रेम भक्ति के दृढ़ नियमों का एकरस निर्वाह करनेवाला[४] बनाना चाहते थे।

---

१. वही, १०४।
२. वही, १७०।
३. वही, १७२।
४. वही, २०४।

किन्तु प्रश्न यह है कि मन ऐसा हो कैसे ? मन को वश में करने लिए अनेकानेक साधनों की चर्चा शास्त्रों में की गई है। योग तो चित्तवृत्तियों का निरोध करने वाला शास्त्र ही है। ज्ञानी आत्मज्ञान द्वारा मन को वश में करते हैं। भगवान् ने गीता के छठे अध्याय में ध्यान योग द्वारा मन को वशीभूत करने का उपदेश देते हुए 'अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते' कहकर अभ्यास और वैराग्य पर बहुत बल दिया है। योग सूत्र में भी पतंजलि ने 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः[१] कहकर इन साधनों की वरिष्ठता स्वीकार की है। पर तुलसीदास को ये सभी साधन यथेष्ट नहीं लगते। अपने अनुभवों से आकुल होकर वे प्रभु से पूछ बैठते हैं—

हे हरि ! कवन जतन भ्रम भागै ?
देखत सुनत बिचारत यह मन निज सुभाव नहिं त्यागै ॥
भगति, ज्ञान, बैराग्य सकल साधन यहि लागि उपाई।
कोउ भल कहहु, देउ कछु कोऊ, असि बासना न उर तें जाई ॥[२]

हे हरि ! किस प्रकार यह भ्रम दूर हो। मेरा यह मन देख, सुन और विचार करके भी (विषयासक्ति का) अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। मन के इस स्वभाव को छुड़ाने के लिए भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि समस्त साधन करने पर भी यह वासना तो हृदय से नहीं गई कि कोई मुझे भला कहे, कोई मुझे कुछ दे। वास्तविक संकट यह है कि 'सुनिय, गुनिय, समुझिय, समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै'[३] तत्त्वज्ञान को सुनते, मनन करते, समझते और समझाते हुए भी वह जानकारी मन की सहज दशा, निष्ठा नहीं बन जाती। कबीर की साखी है—

मन जाणै सब बात जाणत ही औगुण करै।
काहे की कुसलात कर दीपक कूँवै पड़ै ॥

मन तो सब बातें जानता ही है, जानकर अवगुण करता है। हाथ में दीपक लिए हुए कोई कुएँ में कूद पड़े तो कुशल कैसे होगी ? वाक्यज्ञान के स्थान पर आचरण और अनुभूति में विश्वास करनेवाले तुलसी का निश्चित मत है—

सोक, मोह, भय, हरष, दिवस निसि, देस काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यहि दसाहीन संसय निर्मूल न जाहीं ॥[४]

---

१. योगसूत्र, १।१२।
२. विनय०, ११९।
३. वही, ११६।
४. वही, १६७।

अर्थात् द्वंद्वातीत दशा के बिना संशय निर्मूल नहीं हो सकते। तुलसीदास का दृढ़ मत है कि केवल अपने प्रयास से या इन साधनों से काम नहीं बनने का। अपने सतत प्रयासों की विफलता उन्होंने अनेक स्थलों पर स्वीकारी है। हे हरि जू! मेरा मन हठ छोड़ता ही नहीं। रात दिन इसे अनेकानेक शिक्षाएँ देता रहता हूँ किंतु यह तो अपने स्वभाव से टस से मस नहीं होता। 'हौं हारयो करि जतन बिबिध बिधि, अतिसय प्रबल अजै।'[१] मैं अनेक प्रकार के यत्न करके हार गया किन्तु यह अब भी अत्यन्त प्रबल है। 'सकल साधन' 'जतन बिबिध बिधि' आदि कथन इस बात के प्रमाण हैं कि इन अनेक साधनों का अभ्यास करके भी वे कृतकार्य नहीं हुए थे। इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि ये साधन उनकी दृष्टि में खोटे हैं। नहीं, ये साधन तो ठीक हैं 'ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य, झूठ कछु नाहीं'[२] या 'करम, उपासन, ज्ञान बेदमत सो सब भाँति खरो'[३] आदि पंक्तियों में वैष्णव विनयशीलता के साथ इन साधनों की सत्यता को उन्होंने मान लिया है किंतु इसके साथ उन्होंने दो बातें जोड़ी हैं। पहली तो यह कि घनघोर कलिकाल में साधकों की मति की विकलता के कारण ये साधन निरुपाधि नहीं रह गए हैं।

जप, तप, तीरथ, जोग समाधी। कलि मति-बिकल, न कछु निरुपाधी।[४]

इसी तरह कलिरोग ने योग, संयम, समाधि को ग्रस लिया है।[५] कलिकाल में कर्मकांड तो अत्यन्त कठिन तथा प्रचुर अर्थसाध्य है एवम् ज्ञान, विराग, जोग, जप तप को लोभ, मोह, क्रोध और काम का भय है[६] अर्थात् तुलसी के मतानुसार ये साधन खरे होते हुए भी समयानुकूल नहीं हैं। दूसरी बात यह कि इन साधनों के प्रति तुलसी की व्यक्तिगत रुचि भी नहीं है। 'मोहिं तो सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो' या 'मानत नहिं परतीति अनन्त ऐसोई सुभाव मन बाम को' आदि उक्तियों से यह स्पष्ट है। अतः उन्होंने इन साधनों पर जोर भी नहीं दिया है।

---

१. वही, ८९।
२. वही, ११६।
३. वही, २२६।
४. वही, १२८।
५. वही, ६६।
६. वही, १५५।

तुलसीदास की यह बड़ी अद्भुत विशेषता है कि प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति में भी उनकी श्रद्धा विचलित नहीं होती। दैहिक, दैविक, भौतिक तापों से दग्ध होते रहने पर भी वे टूटे नहीं हैं। मतवाले हाथी की तरह मन किसी भी शिक्षा को नहीं सुनता। प्रायः समस्त साधन व्यर्थ हो चुके हैं, मन की अनीति से वे विकल हैं, उसके कारण दुःसह दुःखों के विषय जाल में उलझे हुए घोर 'साँसति' सह रहे हैं किंतु फिर भी वे घुटने नहीं टेकते, अदम्य विश्वास और अटूट आस्था की वाणी में कहते हैं :

कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहिं कियो भौंतुवा भौंर को हौं
तुलसिदास सीतल नित यहि बल बड़े ठेकाने ठौर कौ हौं ॥[१]

क्या हुआ, जो मन ने कलिकाल से मिलकर मुझे (विषयों के) भँवर का भौंतुवा (एक छोटा काला कीड़ा) बना दिया (अर्थात् तुच्छ विषय सुखों के चारो ओर चक्कर काटने वाला बना दिया), मैं इस बल पर नित्य शीतल (शांत) रहता हूँ कि मैं बड़े ठौर ठिकाने का हूँ। यह बड़ा ठौर ठिकाना श्रीरामदरबार है। श्रीराम के सेवक का अकल्याण असम्भव है—

'तिहूँ काल तिनको भलो जे रामरंगीले।'[२]

इसलिए बड़े आत्मविश्वास के साथ वे कहते हैं—

'तुलसिदास रघुबीर-बाहुबल सदा अभय काहू न डरै।'[३]

मन और इंद्रियों की क्या बिसात कि रामकृपा के बाद भी उछल कूद करें। अपना बल थक गया है, अपने प्रयास असफल हो गए हैं तो भी क्या, हुआ, राम की कृपा के बल पर उन्हें जीता जा सकता है, भ्रम मिटाया जा सकता है—'तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं।'[४]

ये दुर्विनीत इंद्रियाँ मेरा अनुशासन नहीं मानतीं किंतु हृषीकेश (इंद्रियों के स्वामी) की आज्ञा का उल्लंघन तो नहीं कर सकेंगी, यही सोचकर तुलसी प्रभु का हृषीकेश नाम सुनकर उन पर न्यौछावर हो जाते हैं और हृदय में गहरे भरोसे का अनुभव करते हुए कहते हैं कि हे प्रभु ! इंद्रियजन्य दुःख तुम्हारे द्वारा ही हरे जा सकेंगे—

---

१. वही, २२९।
२. वही, ३२।
३. वही, १३७।
४. वही, ११६।
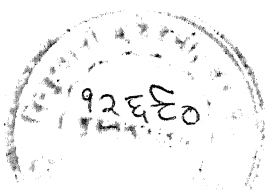
हृषीकेस सुनि नाऊं जाऊं बलि, अति भरोस जिय मोरे।
तुलसिदास इंद्रिय-संभव दुख हरे बनिहि प्रभु तोरे ॥[१]

और मन के प्रेरक भी तो प्रभु ही हैं। उनके बरजने पर वह अवश्य वशीभूत हो जाएगा—'तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै।'[२] वे प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि विषयवारि में मग्न रहनेवाले मेरे मन-मीन को आप अपनी कृपा-डोरि में परम प्रेम का मृदु चारा लगी, चरण-कमल के अंकुश की वंशी से वेधकर मेरे दुःखों को दूर करने का कौतुक करें।[३] तुलसी अत्यंत दीन स्वर में कहते हैं,

इक हौं दीन मलीन हीनमति बिपति-जाल अति घेरो।
तापर सहि न जात करुनानिधि मन को दुसह दरेरो ॥
हारि पर्यो करि जतन बहुत बिधि, तातें कहत सबेरो।
तुलसिदास यह त्रास मिटै जब हृदय करहु तुम डेरो ॥[४]

एक तो मैं स्वयम् अत्यंत दीन मलीन बुद्धिहीन और विपत्ति समूह से घिरा हूँ उसपर हे करुणानिधि ! मन का दुःसह रगड़ा अब सहा नहीं जाता। मैं अनेक प्रकार के यत्न करके हार चुका हूँ। अतः अभी समय रहते ही मैं आप से प्रार्थना कर रहा हूँ कि यह त्रास, यह दुःख कष्ट तभी मिटेगा जब आप हृदय में निवास करेंगे। प्रभु कृपा के सहारे ही मन को जीता जा सकता है, यही उनका अनुभूत सिद्धांत है।

अब शंका उठती है कि प्रभु-कृपा प्राप्त ही कैसे होगी, विशेषकर जब मन अपवित्र और विषयासक्त हो। तुलसीदास ने दो प्रकार से इसका समाधान किया है। पहली बात तो यह है कि 'करुणाकर की करुणा करुणा हित' होती है, जो इसके लिए किसी हेतु की कल्पना करते हैं वे प्रभु की करुणा को कलंकित करते हैं। दूसरी बात यह है कि 'राम नाम' की महिमा अपार है। राम का नाम लेने पर सर्वार्थ सिद्धि हो सकती है—

राम जपु, राम जपु, राम जपु, बावरे !
एकहि साधन सब रिधि सिधि साधि, रे ॥[५]

---

१. वही, ११६।
२. वही, ८६।
३. वही, १०२।
४. वही, १४३।
५. वही, ६६।

मन को शुद्ध करने का भी साधन रामनाम, प्रभु की कृपा-प्राप्ति का साधन भी रामनाम, स्वार्थ परमार्थ सबको सिद्धि के लिए रामनाम ही तुलसी का एक मात्र अवलंब है। रामनाम ही समस्त सौभाग्य और सुख की खान तथा वेद का सार सर्वस्व है ऐसा हृदय में जानकर विश्वास के साथ वे अपने मूढ़ शठ मन को बार-बार 'रामनाम' जपने का आदेश देते हैं—

सदा राम जपु, राम जपु, राम जपु, राम जपु मूढ़ मन बार बारं।
सकल-सौभाग्य-सुख-खानि जिय जानि, सठ ! मानि बिस्वास वद बेदसारं ॥[१]

सारी विनयपत्रिका रामनाम की महिमा से भरी पड़ी है। तुलसी का विश्वास था कि नाम की ओट लेने पर सहज कृपालु प्रभु अवश्य द्रवित होंगे—

सो धौं को जो नाम-लाज तें नहिं राख्यो रघुबीर ?
कारुनीक बिनु कारन ही हरि, हरी सकल भवभीर ॥[२]

इसी आस्था का संबल लेकर तुलसी अपने स्वामी प्रभु राम से अपनी सार सँभार की प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हे कृपासिंघु, हे दीनदयालु, आपके चरणों की शरण आया हूँ, एक बार कृपा-दृष्टि से देख लीजिए जिससे इस जन के मन की सारी अशांति दूर हो जाए।

कृपासिंधु बिलोकिए जन-मन की साँसति जाय।
सरन आयो, देव दीनदयालु ! देखन पाय ॥[३]

राम की कृपा हुई या नहीं, राम ने अपनाया या नहीं, इसको परखने की कसौटी भी मन ही है। तुलसी का कहना है कि :

तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।
जेहि सुभाव बिषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै ॥[४]

हे प्रभु ! तुमने मुझे अपनाया है यह तो मैं तभी मानूँगा जब मेरा मन विषयों की ओर से फिर जायगा और जिस प्रकार वह स्वाभाविक रूप से विषयों के प्रति आसक्त रहता है, उसी तरह सहज भाव से छल छोड़कर प्रभु तुमसे प्रेम करेगा। जब हे स्वामी ! तुमसे यह पुत्र की तरह प्रेम, मित्र की तरह विश्वास, राजा की तरह भय तथा अपने समान स्वार्थभाव रखेगा और इन चारो प्रकारों में चातक की तरह अपनी टेक में अड़िग रहेगा, जब अत्यंत आदर

१. वही, ४६।
२. वही, १४४।
३. वही, २२०।
४. वही, २६८।

पाने पर भी हर्षित नहीं होगा और निंदित होने पर भी जल नहीं मरेगा, जब हानि-लाभ, दुःख-सुख, प्रिय-अप्रिय इन सब में समभाव रखेगा एवम् कलि की कुचालों को छोड़ देगा, जब आपके गुण सुनकर हर्षित होगा और प्रेमाश्रु बहाने लगेगा तब तुलसीदास को विश्वास होगा कि वह आपका हो गया और उस प्रेम को देखकर हृदय आनंद और उमंग से भर जायगा।

श्रीरामचरितमानस के उत्तरकांड में मानस-रोगों को दूर करने के लिए भी ऐसा ही उपचार बताया गया है। वह व्यवस्था-पत्र इस प्रकार है :

रामकृपा नासहिं सब रोगा। जौं इहि भाँति बनै संजोगा॥
सदगुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥
रघुपतिभगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥
एहि बिधि भलेही रोग नसाहीं। नाहि त जतन कोटि नहि जाहीं॥
जानिअ तब मन बिरुज गोसाँई। जब उर बल बिराग अधिकाई॥
सुमति क्षुधा बाढ़े नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई॥[1]

अर्थात् ऐसा संयोग बनने पर ही मन के मोह, काम, क्रोध, लोभ आदि समस्त रोग रामकृपा से दूर हो सकते हैं कि सद्गुरु रूपी वैद्य के वचनों पर विश्वास हो, सयम यह किया जाय कि विषय की आशा न हो, रघुपति-भक्ति रूपी संजीवनी बूटी हो जिसका सेवन अति सुंदर श्रद्धा के अनुपान के साथ किया जाय। इस विधि से सुभीते के साथ रोग नष्ट होंगे, नहीं तो करोड़ों यत्नों से दूर नहीं हो सकते। मन को तभी नीरोग समझना चाहिए जब हृदय में विराग रूपी बल तथा सुमति रूपी क्षुधा नित्य बढ़े एवम् विषयासक्ति रूपी दुर्बलता दूर हो। जब मन विमल ज्ञान रूपी जल में स्नान करता है तब रामभक्ति हृदय में छा जाती है। 'रामकृपा नासहिं सब रोगा' यही मूल बात है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास एक तरफ तो राम की प्रियता के लिए निर्मल मन को आवश्यक मानते हैं दूसरी तरफ कहते हैं कि राम की कृपा से ही मन निर्मल हो सकता है, इस प्रकार अपनी बात को स्वयम् काटते हैं। वस्तुतः ऐसा नहीं है। पहली स्थापना विषयवारि में मग्न रहनेवाले मन-मीन को लक्ष्य में रखकर की गई है। उस स्थिति में तो छल छिद्र एवम् कपटाचरण करनेवाला मन प्रभु की ओर उन्मुख होता ही नहीं, होना उसे काम्य

---

१. मानस, ७।१२२।५-१०।

मन को शुद्ध करने का भी साधन रामनाम, प्रभु की कृपा-प्राप्ति का साधन भी रामनाम, स्वार्थ परमार्थ सबकी सिद्धि के लिए रामनाम ही तुलसी का एक मात्र अवलंब है। रामनाम ही समस्त सौभाग्य और सुख की खान तथा वेद का सार सर्वस्व है ऐसा हृदय में जानकर विश्वास के साथ वे अपने मूढ़ शठ मन को वार-वार 'रामनाम' जपने का आदेश देते हैं—

सदा राम जपु, राम जपु, राम जपु, राम जपु मूढ़ मन बार बारं।
सकल-सौभाग्य-सुख-खानि जिय जानि, सठ ! मानि बिस्वास वद बेदसारं ॥[1]

सारी विनयपत्रिका रामनाम की महिमा से भरी पड़ी है। तुलसी का विश्वास था कि नाम की ओट लेने पर सहज कृपालु प्रभु अवश्य द्रवित होंगे—

सो धौं को जो नाम-लाज तें नहिं राख्यो रघुबीर ?
कारुनीक बिनु कारन ही हरि, हरी सकल भवभीर ॥[2]

इसी आस्था का संबल लेकर तुलसी अपने स्वामी प्रभु राम से अपनी सार सँभार को प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हे कृपासिंधु, हे दीनदयालु, आपके चरणों की शरण आया हूँ, एक बार कृपा-दृष्टि से देख लीजिए जिससे इस जन के मन की सारी अशांति दूर हो जाए।

कृपासिंधु बिलोकिए जन-मन की साँसति जाय।
सरन आयो, देव दीनदयालु ! देखन पाय ॥[3]

राम की कृपा हुई या नहीं, राम ने अपनाया या नहीं, इसको परखने की कसौटी भी मन ही है। तुलसी का कहना है कि :

तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।
जेहि सुभाव विषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै ॥[4]

हे प्रभु ! तुमने मुझे अपनाया है यह तो मैं तभी मानूँगा जब मेरा मन विषयों की ओर से फिर जायगा और जिस प्रकार वह स्वाभाविक रूप से विषयों के प्रति आसक्त रहता है, उसी तरह सहज भाव से छल छोड़कर प्रभु तुमसे प्रेम करेगा। जब हे स्वामी ! तुमसे यह पुत्र की तरह प्रेम, मित्र की तरह बिश्वास, राजा की तरह भय तथा अपने समान स्वार्थभाव रखेगा और इन चारो प्रकारों में चातक की तरह अपनी टेक में अड़िग रहेगा, जब अत्यंत आदर

---

१. वही, ४६।
२. वही, १४४।
३. वही, २२०।
४. वही, २६८।

पाने पर भी हर्षित नहीं होगा और निंदित होने पर भी जल नहीं मरेगा, जब हानि-लाभ, दुःख-सुख, प्रिय-अप्रिय इन सब में समभाव रखेगा एवम् कलि की कुचालों को छोड़ देगा, जब आपके गुण सुनकर हर्षित होगा और प्रेमाश्रु बहाने लगेगा तब तुलसीदास को विश्वास होगा कि वह आपका हो गया और उस प्रेम को देखकर हृदय आनंद और उमंग से भर जायगा।

श्रीरामचरितमानस के उत्तरकांड में मानस-रोगों को दूर करने के लिए भी ऐसा ही उपचार बताया गया है। वह व्यवस्था-पत्र इस प्रकार है :

> रामकृपा नासहिं सब रोगा। जौं इहि भाँति बनै संजोगा ॥
> सदगुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा ॥
> रघुपतिभगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी ॥
> एहि बिधि भलेही रोग नसाहीं। नाहि त जतन कोटि नहि जाहीं ॥
> जानिअ तब मन बिरुज गोसाँई। जब उर बल बिराग अधिकाई ॥
> सुमति क्षुधा बाढ़ै नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई ॥[१]

अर्थात् ऐसा संयोग बनने पर ही मन के मोह, काम, क्रोध, लोभ आदि समस्त रोग रामकृपा से दूर हो सकते हैं कि सद्गुरु रूपी वैद्य के वचनों पर विश्वास हो, सयम यह किया जाय कि विषय की आशा न हो, रघुपति-भक्ति रूपी संजीवनी बूटी हो जिसका सेवन अति सुंदर श्रद्धा के अनुपान के साथ किया जाय। इस विधि से सुभीते के साथ रोग नष्ट होंगे, नहीं तो करोड़ों यत्नों से दूर नहीं हो सकते। मन को तभी नीरोग समझना चाहिए जब हृदय में विराग रूपी बल तथा सुमति रूपी क्षुधा नित्य बढ़े एवम् विषयासक्ति रूपी दुर्बलता दूर हो। जब मन विमल ज्ञान रूपी जल में स्नान करता है तब रामभक्ति हृदय में छा जाती है। 'रामकृपा नासहिं सब रोगा' यही मूल बात है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास एक तरफ तो राम की प्रियता के लिए निर्मल मन को आवश्यक मानते हैं दूसरी तरफ कहते हैं कि राम की कृपा से ही मन निर्मल हो सकता है, इस प्रकार अपनी बात को स्वयम् काटते हैं। वस्तुतः ऐसा नहीं है। पहली स्थापना विषयवारि में मग्न रहनेवाले मन-मीन को लक्ष्य में रखकर की गई है। उस स्थिति में तो छल छिद्र एवम् कपटाचरण करनेवाला मन प्रभु की ओर उन्मुख होता ही नहीं, होना उसे काम्य

---

१. मानस, ७।१२२।५-१०।

भी नहीं रहता। फलतः राम की कृपा की याचना भी नहीं करता, पाता भी नहीं। दूसरी स्थापना राम की शरण में आए हुए व्यक्ति द्वारा मन को शुद्ध करने के सतत प्रयासों को दृष्टि में रख कर की गई है। इन प्रयासों की सफलता रामकृपा द्वारा ही संभव है। यह सिद्धांत अहंकार के संपूर्ण निरसन के लिए अत्यंत उपकारक अतः एकांत प्रयोजनीय है। मैंने अपने प्रयास से मन को जीत लिया, मेरा मन अब बिल्कुल शुद्ध हो गया है आदि उक्तियों में अति दुःखद मानसरोग 'अहंकार' स्पष्ट ध्वनित है जिसके रहते हुए यह कैसे माना जा सकता है कि मन निर्मल हो चुका। इसीलिए भक्तों की मान्यता है कि भक्ति (और मन की शुद्धि भी) क्रियासाध्य न होकर कृपासाध्य है। यह भी स्मरण रहे कि इसका अर्थ क्रिया...प्रयास की अवहेलना नहीं है वरन् अपनी तरफ से सब कुछ करके भी उसे कुछ नहीं मानने की निश्चल विनम्रता है। तभी भक्त कह सकता है कि मैं विविध यत्न करके हार गया, अब भी यह दुष्ट मन अतिशय प्रबल है, यह तभी वश में होगा जब प्रेरक प्रभु इसे बरजें। यह भी सही है कि मनुष्य का क्षुद्र प्रयास राम की कृपा का हेतु नहीं होता, वस्तुतः रामकृपा तो अहेतुक होती है, किंतु यह प्रभु की ओर देखकर निश्चित किया गया सिद्धांत है। अपनी ओर से भक्त असावधान नहीं हो सकता। उसे तो अपने महान् साधन 'रामनाम जप' तथा स्वधर्म-पालन में किंचित् शैथिल्य भी नहीं आने देना चाहिए। अहंकार और शैथिल्य दोनों का निराकरण इस सिद्धांत से सहज ही हो जाता है।

श्रीराम की महती कृपा का प्रसाद तुलसी को भी मिला है। शरण आने पर गरीबनिवाज रघुबीर ने उस तुलसी को भी अपना बना लिया जो मन का मलिन है, जिसकी करनी सुनकर कलिकाल (जो पाप रूप ही है) भी और पापी हो जाता है :

मन-मलीन, कलि किलविषी होत सुनत जासु कृत काज।
सो तुलसी कियो आपनो रघुबीर गरीबनिवाज ॥[१]

भक्त-हृदय कृतकृत्य होकर अपने को अधमाधम मानता हुआ प्रभु की कृपा का यश गाता है कि प्रत्यक्ष पाप रूप तुलसी को भी आपने शरण दी 'प्रगट पातक-रूप तुलसी सरन राख्यो सोउ।[२] जिसे और किसी ने भी नहीं अपनाया उस दीन हीन तुलसी से एक राम ने ही प्रीति की 'दास तुलसी दीन पर एक राम ही की प्रीति।'[३]

---

१. विनय०, १९१।
२. वही, २१४।
३. वही, २१६।

राम की कृपा से संसार रूपी रजनी बीत गई अब जाग कर तुलसीदास फिर सोने के लिए बिछौना नहीं बिछाएँगे और प्रतिज्ञापूर्वक मन भ्रमर को श्रीराम के चरण-कमलों में बसा देंगे :

> रामकृपा भवनिसा सिरानी जागे फिर न डसैहौं ।
> मन-मधुकर पन करि तुलसी रघुपति-पद कमल बसैहौं ।।[१]

वे मन की मूढ़ता के कारण उत्पन्न जिस दु:सह दु:ख से परित्राण करने को प्रभु से कातर प्रार्थना करते थे वह अब प्रभु के अपनाते ही सहज ही दूर हो गया । प्रभु ने केवल नाम की महिमा और अपने अकारण करुणामय शील के चलते ही प्रेम और विश्वास से रहित (कैसी विनम्रता है तुलसीदास की, प्रेम और विश्वास की पराकाष्ठा होते हुए भी अपने को प्रेम और विश्वास से रहित कह रहे हैं) तुलसी का भला कर दिया यही देख कर वे संकुचित हो रहे हैं :

> तुलसी तिहारो भए भयो सुखी प्रीति प्रतीति बिना हूँ ।
> नाम की महिमा सील नाथ को मेरो भलो बिलोकि अबतें सकुचाहुँ सिहाहूँ ।।[२]

इस भक्तिमयी साधना पद्धति की सफलता इस तथ्य से हृदयंगम की जा सकती है कि 'कबहूँ मन विश्राम न मान्यो' सी कातर उक्ति कहनेवाला भक्त स्वानुभव से कह उठता है :

> जाकी कृपा लवलेस तें मतिमंद तुलसीदासहूँ ।
> पायो परम विश्रामु राम समान प्रभु नाही कहूँ ।।[३]

—: ० :—

१. वही, १०५ ।
२. वही, २७५ ।
३. मानस, ७।१३०।१६-२० ।

३.

विनय पत्रिका में

क्रिया और कृपा

मानव अपना चरम पुरुषार्थ क्या केवल अपनी क्रियाओं से प्राप्त कर सकता है या उसके लिये भगवत्कृपा अनिवार्य है ? क्या क्रिया और कृपा पूर्णतः निरपेक्ष हैं या एक को दूसरे की अपेक्षा भी है ? क्रिया और कृपा के स्वरूप क्या हैं, हेतु क्या हैं, परिणाम क्या हैं ? इन सब प्रश्नों से पुरुषार्थकामी व्यक्ति भी निस्तार नहीं पा सकता। जब गंभीरता से ये प्रश्न उठें, तब समझना चाहिये कि सतह की चमक दमक से समाधान न होने के कारण गहरे पैठने का उपक्रम हो रहा है। व्यक्ति का मन साधना के मध्य जिन समस्याओं और ऊहापोहों से गुजरता है, उन सब का प्रतिफलन विनयपत्रिका में हुआ है, साथ ही तुलसी की शास्त्र और स्वानुभव उभय-सिद्धवाणी उनके समाधान के निर्देश भी करती चली है। अतः विनयपत्रिका के आधार पर इन प्रश्नों पर विचार करना निश्चय ही कल्याणकारक होगा।

विनयपत्रिका में ऐसे बहुत से कथन मिलते हैं, जिनसे लगता है कि तुलसीदास यह भी मानते थे कि अपनी करनी...क्रिया से भवसागर पार किया जा सकता है। करनी के बिगड़ जाने के कारण ही भय होता है कि प्रभु की प्राप्ति नहीं हो सकेगी और अनंत जन्मों तक भवाटवी में भटकना पड़ेगा :

> जो कछु कहिय करिय भवसागर, तरिय बत्सपद जैसे।
> रहनि आन बिधि, कहिय आन, हरिपद सुख पाइय कैसे।।[१]

कथनी और करनी में अंतर होने के कारण ही भगवच्चरणारविंदों का सुख प्राप्त नहीं होता। इसी पद में पंक्तियाँ आती हैं कि जो अखिलजीववत्सल, निर्मत्सर चरणकमल अनुरागी एवम् अतिशय निज-पर त्यागी हैं, वे धीरमति श्रीरघुवीर को प्रिय हैं। स्पष्टतः ये धीरमति अपने शुभकर्मों के कारण ही भगवान् की प्रियता प्राप्त कर सके हैं। तुलसी ने स्थान-स्थान पर अपनी क्रिया-

---

१. विनय०, ११८।

हीनता तथा साधना-हीनता के लिए शोक भी प्रकट किया है और उसी के चलते उन्हें अपने परिणाम के लिए भय भी होता है। अवश्य ही भवरोग के अनुकूल उपचार न करने के लिए वे अपने को ही दोषी मानते हैं, प्रभुरूपी वैद्य को नहीं :

मैं हरि साधन करै न जानी।
जस आमय भेषज न कीन्ह तस, दोष कहा दिरमानो ॥[१]

केवल रोग के अनुकूल चिकित्सा ही नहीं की गई होती तो भी संभवतः इतना परिताप न होता, किंतु स्थिति तो यह है कि आचरण उसके नितांत प्रतिकूल हुए हैं :

निजकरनी बिपरीत देखि मोंहि समुझि महा भय लागै।[२]

यह भय इसलिए और अधिक होता है कि इन खोटे आचरणों के चलते प्रभु से विनती करने का भी साहस नहीं हो पाता। भला जब जानबूझकर हरि को द्रवित करनेवाले साधनों को छोड़कर विपत्तिजाल में पड़नेवाले आचरण किये जायँ, भवतारक परहित करने के स्थान पर अकारण ही दूसरों के सुख देखकर ईर्ष्या से जला जाय तो कौन सा मुँह लेकर विनती की जा सकती है :

कौन जतन बिनती करिए।
निज आचरन बिचारि हारि हिय मानि जानि डरिए ॥
जेहि साधन हरि द्रवहु जानि जन सो हठ परिहरिए।
जातें बिपति-जाल निसि दिन दुख तेहि पथ अनुसरिए ॥
जानत हूँ मन बचन कर्म परहित कीन्हें तरिए।
सो बिपरीत देखि परसुख बिनु कारन ही जरिए ॥[३]

इन उद्धरणों से ध्वनित होता है कि तुलसीदास यह मानते थे कि परहित आदि शुभकर्मों से व्यक्ति तर सकता है या अनुकूल साधनों से प्रभु को द्रवित कर सकता है।

दूसरी तरफ ऐसे बहुत से पद भी मिलते हैं, जिनमें व्यक्ति के अपने समस्त प्रयासों को दुःखदूरीकरण में असमर्थ मानकर एकमात्र प्रभु की कृपा को ही व्यक्ति के कल्याण-साधन और दुःख-निवारण के लिए सक्षम माना गया है। बहुत भटकने के बाद तुलसी समझ सके हैं कि प्रभु-कृपा के बिना माया छूट ही नहीं सकती।

१. वही, १२२।
२. वही, ११६।
३. वही, १८६।

अस कछु समुझि परत, रघुराया !
बिनु तव कृपा दयालु दासहित मोह न छूटै माया ।।[१]

यद्यपि यह प्रपंच मिथ्या है, तथापि जब तक तुम्हारी कृपा नहीं होती तब तक यह सत्य भासता है; हे हरि इस भारी भ्रम को क्यों नहीं दूर कर देते ?[२] वे इस निश्चय पर पहुँच चुके हैं :

जब कब रामकृपा दुख जाई । तुलसिदास नहिं आन उपाई ।।[३]
हरनि एक अघ-असुर-जालिका । तुलसिदास प्रभुकृपा-कालिका ।।[४]

यह निश्चय ही पूर्वकथित साधनों की सार्थकता के अनुकूल नहीं पड़ता । ऊपरी दृष्टि से लगनेवाले इस विरोधाभास के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक है कि तुलसी की क्रिया और कृपा सबंधी धारणाओं को समझ लिया जाय ।

क्रिया का साधारण अर्थ है कुछ किया जाना—कर्म, व्यापार, चेष्टा, साधन, उपकरण आदि । प्रस्तुत संदर्भ म क्रिया से वे कर्म, साधन अभिप्रेत हैं, जो साधक को भगवत्प्राप्ति करा सकें । प्रश्न है कि क्या भगवत्प्राप्ति क्रिया साध्य है ? अद्वैतवादी ज्ञानी या योगी का उत्तर होगा हाँ, क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से वे स्वयं कर्ता हैं, उनके अलावा और कोई है ही नहीं, तब कौन किस पर कृपा करेगा । उन्हें अपनी ही साधना से माया के आवरण को छिन्न कर प्रत्यगात्मा या अंतःस्थित ईश्वर को उपलब्ध कर लेना है । गुरुकृपा आदि वस्तुतः आत्मकृपा ही है । अतः शकराचार्य स्व-प्रयत्न की प्रधानता निरूपित करते हुए कहते हैं :

अविद्या कामकर्मादि पाशबन्धं विमोचितुम् ।
कःशक्नुयाद्विनात्मानं कल्पकोटिशतैरपि ।।[५]

अर्थात् अविद्या, कामना और कर्मादि के जाल के बंधनों को सौ करोड़ कल्पों में भी अपने सिवा और कौन खोल सकता है ? इसी तरह महर्षि पतंजलि के योगदर्शन के साधनपाद में क्रियायोग और उसका फल बताते हुए कहा गया है :

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिक्रियायोगः ।
समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ।।[६]

---

१. वही, १२३ ।
२. वही, १२० ।
३. वही, १२७ ।
४. वही, १२८ ।
५. विवेक चूडामणि, ५७ ।
६. पातंजल योग दर्शन, २।१-२ ।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्राणिधान रूपी क्रियायोग समाधि की सिद्धि करनेवाला और अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करनेवाला है। तुलसीदास पारमार्थिक दृष्टि से भले ही अद्वैतवाद मानते हों (इस विषय पर विद्वानों में गहरा मतभेद है), किंतु सर्वजनसंमत है कि अपनी साधनिक दृष्टि से वे द्वैत मानकर चले हैं। परिणामस्वरूप वे अपने ही साधनों पर भरोसा नहीं रखते। देश और काल के विचार से भी उन्हें निश्चय हो चुका था :

जप, तप, तीरथ, जोग, समाधी। कलि मति-बिकल, न कछु निरुपाधी।
करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रकतबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥[१]

एक तो कलि के कारण मति विकल है, अतः जप, तप, तीर्थ, योग, समाधि आदि साधन निर्विघ्न नहीं रह गए हैं। अपने प्रयत्न से पुण्यों के करते रहने पर भी पाप तो चुकते नहीं, वे तो रक्तबीज के समान बढ़ते ही जाते हैं। अतः उनका सुचिंतित मत है कि भवबंधन से छूटने के लिए योग, यज्ञ, जप, तप, तीर्थ, वैराग्य आदि उसी प्रकार व्यर्थ हैं, जैसे हाथी को बाँधने के लिए धूल की रस्सी बँटना।[२] यह विचार उनके साहित्य में अनेक स्थलों पर व्यक्त हुआ है। हाँ रामनाम पर उनका अटूट विश्वास है। घोर भवसागर में पार लगानेवाली एकमात्र नौका रामनाम ही है। उससे ऋद्धि-सिद्धि भी मिलती है और मुक्ति-भुक्ति भी—

एकहि साधन सब रिधि सिधि साधि, रे!
ग्रसे कलि रोग जोग संयम समाधि, रे![३]

तुलसीदास नाम को नामी से भी बड़ा मानते हैं। अतः नामनिष्ठा उनके लिए साधनमात्र नहीं, साध्य भी है। वैसे यदि कोई उनसे तर्क करने लगे, तो वैष्णव विनयशीलता के अनुरूप ही वे स्वीकार कर लेंगे कि ज्ञान, भक्ति आदि सभी साधन सत्य हैं, किन्तु उनके मन में यही भरोसा है कि हरिकृपा से ही भ्रम मिट सकता है—

ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य, झूठ कछु नाहीं।
तुलसीदास हरिकृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं॥[४]

---

१. विनय० १२८।
२. वही, १२९।
३. वही, ६६।
४. वही, ११६।

यह बिल्कुल तय है कि रामनाम के अतिरिक्त अन्य किसी साधन का सहारा लेने के लिए वे तैयार नहीं हैं, अर्थात् असंदिग्ध रूप से वे क्रिया की तुलना में कृपा को अत्यधिक महत्त्व देते हैं।

इसी जगह कर्म-सिद्धांत सम्बन्धी तुलसी को मान्यता पर भी एक दृष्टि डाल लेना उचित होगा। सामान्य तौर पर तुलसीदास को कर्मसिद्धांत स्वीकार्य है। जीव अपने कर्मों के फलस्वरूप ही आवागमन के चक्र में पड़ता है और पराधीन होकर दुःख भोगता है—

तैं निज कर्मडोरि दृढ़ कीन्हीं। अपने करनि गाँठि गहि दीन्हीं।।
तातें परबस परचो अभागे। ता फल गर्भबास दुख आगे।।[१]

उस पर भी प्रभु गर्भावस्था में भी कर्मजाल से घिरे मनुष्य का भी साथ नहीं छोड़ते, उसका प्रतिपालन करते हैं, उसे ज्ञान भी देते हैं—

तू निज कर्मजाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो।।
बहु बिधि प्रतिपालन प्रभु कीन्हों। परम कृपालु ज्ञान तोहिं दीन्हों।।[२]

यह शरीर अपने कर्मों के फलस्वरूप ही हमें मिला है—

हमहिं दिहल करि कुटिल करमचंद मंद मोल बिनु डोला रे![३]

और हमारे पूर्व कर्म बलपूर्वक हमें नाना विषयों में आसक्त कर देते हैं। तुलसी प्रभु से प्रार्थना यही करते हैं कि हमारे कर्म हमें कहीं भी क्यों न ले जाएँ, वे हमारे ऊपर स्नेह करना न छोड़ें—

कुटिल करम लै जाय मोहिं जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जिनि छिन छोह छाँड़िए कमठ-अंड की नाई।।[४]

कर्म-सिद्धान्त को स्वीकृति श्रीरामचरितमानस के गुह लक्ष्मण संवाद में लक्ष्मण द्वारा भी कराई गई है—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता।।[५]

इस स्वीकृति के दो परिणाम विचारणीय हैं, एक तो यही कि यदि अपने कर्मों का फलभोग अकाटच सिद्धांत है तो अनन्त जन्मों के कर्मों का फल

---

१. वही, ३।१३६।
२. वही, ४।१३६।
३. वही, १८९।
४. वही, १०३।
५. मानस, २।९२।४।

भोगते रहने के सिवाय चारा ही क्या है, दूसरे तब तो सत्कर्मरूपी साधनों की मुख्यता स्वीकार करनी चाहिए, क्योंकि हमारे पुण्यकर्म ही हमारा कल्याण कर सकते हैं। तुलसीदास इन दोनों परिणामों को स्वीकार नहीं करते। वे व्यावहारिक और सैद्धांतिक दोनों हो स्तरों पर आपत्ति करते हैं। व्यावहारिक स्तर पर उन्हें अपनी असमर्थता के कारण यह असम्भव लगता है कि वे (या कोई भी सामान्य जीव, तुलसीदास असामान्य होते हुए भी अपने को परम सामान्य मानते हैं) अपने थोड़े से पुण्यरूपी नाखूनों से पाप-वन के वृक्ष-समूहों को काट सकेंगे। उनके एक एक क्षण के मन, वाणी और कर्म के पापों की गिनती करने में असंख्य शेष शारदा एवम् वेद हार जाएंगे—

> जौ पै जिय धरिहौ अवगुन जन के।
> तौ क्यों कटत सुकृत-नख तें मोपै बिटप-वृन्द अघ-ब्रन के।।
> कहिहैं कौन कलुष मेरे कृत करम बचन अरु मन के।
> हारहिं अमित सेष सारद स्रुति गिनत एक एक छन के।।[१]

फिर उनका यह भी विश्वास है कि कराल कलिकाल ने रामनाम को छोड़कर समस्त साधनों को निष्प्रभ कर दिया है, जिससे आगे से ही कठिन कर्ममार्ग और कठिन हो गया है—

> तौ कलि कठिन करम-मारग जड़ हम केहि भाँति निबहते ?[२]

सैद्धांतिक स्तर पर कर्म को वे भक्ति या ज्ञान के समकक्ष नहीं मानते, यद्यपि निष्काम कर्म को वे इन दोनों का सहायक अवश्य मानते हैं। उन्होंने कर्म को कीच मानते हुए लिखा है कि अनेक जन्मों के कर्म-कीच से सना चित्त विमल विवेक के जल से ही शुद्ध हो सकता है—

> जनम अनेक किए नाना विधि करम-कीच चित सान्यो।
> होइ न बिमल बिबेक नीर बिनु, बेद पुरान बखान्यो।।[३]

और यह विवेक हरि एवम् गुरु की करुणा के बिना नहीं हो सकता :

> तुलसिदास हरि-गुरु-करुना-बिनु बिमल बिबेक न होई।
> बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई।।[४]

---

१. विनय०, ८६।
२. वही, ८७।
३. वही, ८८।
४. वही, ११५।

अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि कर्म से ही कर्मबंधन से छुटकारा पाने की चेष्टा मल से मल को धोने के समान निष्फल है। यह वैसी ही बात है, जैसे कोई प्यासा गंगाजी को छोड़कर अपनी प्यास बुझाने के लिए बार बार आकाश को निचोड़ता फिरे—

करम-कीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहिं मल धोयो।
तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि फिरि बिकल अकास निचोयो।।[१]

और अनन्त जन्मों के कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा, यह भी उन्हें मान्य नहीं है। उनका सिद्धांत है कि प्रभु की शरण में जाते ही अनन्तकोटि पूर्व-जन्मों के संचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। मानस में उन्होंने श्रीराम से कहलाया है कि—

सन्मुख होइ जीव मोहि जबही। जन्म कोटि अघ नासहिं तबही।।[२]

यही बात विनयपत्रिका में प्रभु के करकमलों की छाया की याचना करते हुए इस प्रकार कही गई है—

सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति, पाप, ताप, माया।
निसि बासर तेहि कर-सरोज की चाहत तुलसिदास छाया।।[३]

जैसे गीता में कहा गया है कि ज्ञानाग्नि से समस्त पूर्व कर्म दग्ध हो जाते हैं, वैसे ही तुलसी का विश्वास है कि आर्त होकर पुकारने से प्रभु समस्त दुःखों को (कर्म-बंधन के दुःख को भी) दग्ध कर देते हैं—

जब जहँ तुमहिं पुकारत आरत तब तिन्हके दुखदाहे।[४]

गीता के कर्मयोग के अनुसार क्रियमाण निष्काम कर्म तो लिप्त नहीं होता, किंतु स्खलन होने पर पवित्र श्रीमानों के या योगियों के कुल में जन्म लेना पड़ता है। तुलसी की धारणा है कि शरणागति के समय प्रभु समस्त पूर्व जन्मों के पापों को नष्ट कर देते हैं और यदि शरणागति के अनंतर भी भक्त से चूक हो जाए तो उसे अनदेखा कर उसके हृदय के भाव को देखते हैं। सरल प्रकृति होने के कारण उन्हें अपने गुण, शत्रुओं के द्वारा किए गए अपकार, सेवकों के दोष और दिए

---

१. वही, २४५।
२. मानस०, ५।४४।२।
३. विनय०, १३८।
४. वही, १४५।

हुए दान की याद ही नहीं रहती ।[1] विभीषण सुग्रीव का उदाहरण इस संदर्भ में उन्होंने अनेक बार दिया है । भक्त के शरणोत्तर पापों के बारे में गोस्वामीजी के अनुसार प्रभु का सिद्धांत यही है :

रहित न प्रभुचित चूक किये की । करत सुरति सय बार हिये की ।।[2]

किन्तु प्रारब्ध भोगना ही पड़ता है एवं प्रारब्ध भोग को धैर्यपूर्वक सहना ही भक्त का कर्तव्य है । इस प्रकार कर्मसिद्धांत और कृपा-सिद्धांत के टकराने पर वे कृपा-सिद्धांत की महत्ता अभ्रांत रूप से प्रतिपादित करते हैं ।

वास्तव में कर्म-सिद्धांत, प्रभु की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और न्यायनिष्ठा पर आधारित है । प्रभु सब के कर्मों को जानते हैं, कर्मों के अनुसार अनुग्रह-निग्रह करने में समर्थ हैं और जैसे को तैसा फल देने में नीर-क्षीर-विवेकी हैं । इस सिद्धांत में हृदय की उपेक्षा है । इसके चलते ईश्वर जड़ नियमों की समष्टिमात्र रह जाता है, चैतन्य और सर्वतंत्र स्वतंत्र प्रभु के लिए यह स्थिति भक्ति-मार्गियों को स्वीकार नहीं । वे उसे केवल न्यायी ही नहीं परम कृपालु और दयासागर भी मानते है । वे भक्तों के अपराधों को क्षमा भी कर सकते हैं । तुलसी के लिए यह कृपा-सिद्धांत अमोघ है ।

कृपा प्रभु का वह भाव विशेष है, जिसके परिणामस्वरूप वे अधीन जनों के पापों को नष्ट कर उन्हें अपनी शरण में ले लेते हैं । श्री भगवद्गुणदर्पण के अनुसार :

रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः ।
इति सामर्थ्यसन्धाना कृपा सा पारमेश्वरी ।।
स्वसामर्थ्यानुसन्धानाधीनः कालुष्यनाशनः ।
हार्दो भावो विशेषो यः कृपा सा जागदीश्वरी ।।[3]

अर्थात् समस्त प्राणियों की रक्षा करने में मैं ही परम समर्थ हूँ, ऐसी सामर्थ्यानुसंधाना कृपा ही पारमेश्वरी कृपा कहलाती है । वह जागदीश्वरी कृपा सामर्थ्यानुसंधान द्वारा अधीन जनों के पापों का नाश करनेवाला प्रीत्यात्मक भाव विशेष है । इसी के कारण प्रभु में अनुकंपा और करुणा का उदय होता है । अनुकंपा में आश्रित भक्तों को सुख प्राप्त कराने की एवं उनके समस्त मनोरथों

१. वही, ४२ ।
२. मानस, १।२६।५ ।
३. गो० श्रीकान्तशरण कृत 'प्रपत्ति रहस्य' में उद्धृत, पृष्ठ ३७३ ।

को पूर्ण करने की इच्छा होती है और करुणा में आश्रित की विपत्ति से अत्यंत द्रवित होकर दुखित होना और उसकी विपत्ति-निवारण के लिए त्वराविह्वल होने का भाव रहता है। तुलसी ने आर्त भाव से बारबार प्रभु की कृपा एवं करुणा की याचना की है। उनका चित्त चातकशावक के समान कृपा-सुधारूपी जलदान, स्नेह-स्वाति-जल के लिए लालायित है :

कृपासुधा-जलदान माँगिबो कहौं सो साँच निसोतो ।
स्वाति-सनेह-सलिल सुख चाहत चित-चातक को पोतो ।।[१]

अत्यन्त विनीत होकर वे प्रभु से पूछते हैं कि जिस कृपा से व्याध, गज आजामिल आदि अनेक खल तरे, उसी कृपा से क्या तुम मुझे भी उनके समान मानकर तारोगे, अनेकानेक योनियों एवं जन्मों में जो मैंने बहुत प्रकार के दुष्कर्म किए हैं, मेरे इन अधम आचरणों को क्या तुम भुला दोगे ? भक्त हृदय की कातर जिज्ञासा है :

कबहुँ रघुबंस-मनि सा कृपा करहुगे ?[२]

तुलसीदास का निश्चित मत है कि भक्ति कृपा-साध्य ही है, क्रिया-साध्य नहीं। श्रीराम की भक्ति सत्संगति के बिना नहीं हो सकती। सत्संगति तभी मिलती है, जब राम द्रवित होते हैं, कृपा करते हैं, साधु-संगति से मद, मोह, लोभ आदि दूर होते हैं। द्वैत-भावना नष्ट होतो है और राम के चरणों में लौ लगती है, देह जनित विकार नष्ट होते हैं और निज स्वरूप में अनुराग होता है। उसके अनंतर अनेक सद्गुणों का आधान होता है एवं हरिकृपा से सदा सुख की प्राप्ति होती है।[३] इस प्रकार चरम पूर्णत्व की उपलब्धि के आदि और अंत में हरि-कृपा ही है। भगवान् की कृपा से भक्ति और भक्ति से भगवान् की कृपा होती है। यह बात सुनने में अटपटी लग सकती है, किन्तु बीजांकुर न्याय की तरह सत्य है। कृपा करने के लिए अपनत्व की भावना ही यथेष्ट है। प्रभु अपना मानलें बस, फिर भक्त की त्रुटियों की ओर उनका ध्यान ही नह जाता। भक्त इसी अपनत्व की दुहाई देकर कहता है :

कबहुँ कृपा करि रघुबीर मोहूँ चितैहो ।
भलो बुरो जन आपनो जिय जानि दयानिधि ! अवगुन अमित बितैहो ।।[४]

---

१. विनय०, १६१।
२. वही, २११।
३. वही, १३६।
४. वही, २७०।

और उसका दृढ़ विश्वास है कि मैं जैसा हूँ, वैसा ही मुझे वे अपना लेंगे, क्योंकि शरण में आए हुए, पापी से पापी व्यक्ति को वे अंगीकार कर लेते हैं :

तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब नाउ रामपद-कमल माथ।
जनि डरपहि तोसे अनेक खल अपनाये जानकीनाथ ॥[1]

आश्वासन की यह अभयवाणी समस्त पापियों, पतितों एवं अधमों के लिए है, क्योंकि पापहरण करने के कारण ही वे हरि हैं, पतितों को पवित्र करने के फलस्वरूप ही वे पतितपावन हैं और अधमों का उद्धार करने के चलते ही वे अधम-उधारन हैं। यह भी समझ रखना चाहिये कि कृपा पर विश्वास का अर्थ सदाचार का विरोध या उसकी उपेक्षा नहीं है। वस्तुत: इस आश्वासन के द्वारा सहज ही मन का कलुष दूर हो कर उसमें प्रभु के शील की प्रतिष्ठा होती है।

इसका यह अर्थ भी नहीं कि कृपाकांक्षी कुछ न करे। क्रिया और कृपा के सिद्धांतों का समाहार करने के लिए तुलसीदास ने यह मार्ग निकाला है कि भक्त अपनी ओर से अपने प्रेम के नेम का निर्वाह करता जाए, इसके अतिरिक्त जो कुछ करणीय है, वह प्रभु के ऊपर छोड़ दे। कायिकी और वाचिकी क्रिया का मूल मानसी क्रिया है। सर्वप्रथम भक्त अपने मन में दृढ़ संकल्प करे कि अबतक जीवन जो नष्ट हुआ सो हुआ पर अब नष्ट नहीं करूँगा। अवश्य ही इस संकल्प के मूल में भी रामकृपा ही है, किंतु उसके साथ साथ यह चेतन संकल्प भी अवश्य है कि भवनिशा के बीत जाने पर, जाग जाने पर अब नहीं सोऊंगा, मन मधुकर को श्रीराम के पद-कमलों में बसा दूंगा।[2] जानकीजीवन श्रीराम के ऊपर न्यौछावर हो जाऊंगा और उनके चरणों को छोड़कर कहीं नहीं जाऊंगा। अपनी समस्त इन्द्रियों को राममय कर दूंगा और प्रभु को ही अपना समस्त दायित्व सौंप दूंगा।[3] इसके बदले प्रभु से कुछ नहीं चाहूँगा। न मोक्ष, न बुद्धि, न सम्पत्ति, न ऋद्धि-सिद्धि, न विपुल बड़ाई ही, केवल यही याचना करूंगा कि राम के चरणों में अनुदिन अहेतुक अनुराग बढ़ता जाए।[4] एक बार यह नेम लेने पर फिर इस एकांगी दुर्गम मार्ग पर चलना आरंभ कर क्षण-क्षण छाया में विश्राम करने की दुर्बलता छोड़ देनी चाहिए। स्मरण रखना चाहिए कि अपना भला अपनी ओर से अपने नेम को निर्विघ्न निभाने से ही हो सकता है —

---

१. वही, ८४।
२. वही, १०५।
३. वही, १०४।
४. वही, १०३।

एक अंग मग अगम गवन करि बिलमु न छिन छिन छाहैं।
तुलसी हित अपनो अपनी दिसि निरुपधि नेम निबाहैं ॥[१]

यह नेम और कुछ नहीं, राम घनश्याम के लिए पपीहा बनने का तुलसी का प्रेम-प्रण है :

देहि मा ! मोहि प्रण प्रेम, यह नेम निज राम घनस्याम, तुलसी पपीहा।[२]

चातक की ही भाँति एकांगी प्रेम करना ही तुलसी का भी आदर्श है। भले ही बादल ठीक समय पर बरसे या जन्मभर उदासीन रहे, तो भी उसी की आशा में रहना एकांगी प्रेम है। ऐसा प्रेम प्रेमपात्र की कठोरता और उपेक्षा से भी मरता नहीं और दृढ़ होता जाता है। ऐसे घनिष्ठ प्रेम के चलते प्रभु के शील का आधान भक्त में स्वतः होता जाता है और उसकी समस्त दुर्वासनाएँ छूटती जाती हैं। राम की रीति को जाने बिना लोग वृथा ही अनेक साधनों में पचते मरते हैं। अतः उनकी रीति को जानकर निश्छल भाव से उनकी शरण में जाना कल्याण का निश्चित मार्ग है। कृपाप्राप्त जनों की रहनी इस बात को एक दम स्पष्ट कर देती है कि कृपा से सदाचार की पराकाष्ठा का जीवन में उतरना संभव है। तुलसीदासजी का मनोराज्य है कि कभी इस प्रकार भी रहूँगा, कृपालु श्रीरघुनाथ की कृपा से संतों का स्वभाव ग्रहण करूँगा। यथालाभ सन्तुष्ट रहकर किसी से कुछ नहीं माँगूंगा, परहित में निरन्तर लगा रहूँगा और मनसा वाचा कर्मणा इस नियम को निभाऊंगा। दुःसह कठोर वचनों को सुनकर भी उनकी आग में नहीं जलूंगा, मान को त्याग कर शीतल मन से सम व्यवहार करूंगा और दूसरों के गुण ही कहूँगा, दोष नहीं। देह-जनित चिंता को छोड़कर दुःख सुख को समबुद्धि से सहूँगा। हे प्रभु इसी पथ पर रहकर मैं अविचल हरिभक्ति प्राप्त करूंगा।[३] भगवान् की प्राप्ति में जिन साधनों को वे सहायक मानते हैं, उनका उल्लेख संक्षेप में 'जौ मन भज्यो चहै हरि-सुरतरु'[४] पद में करते हुए तुलसीदास कहते हैं कि भगवान् को भजना चाहो तो हे मन ! विषय विकारों को त्यागकर संसार-सार रूपी प्रभु को भजो और अभी भी जो मैं कहता हूँ वही करो। शम, संतोष, अति विमल विचार और सत्संगति इन चार का दृढ़तापूर्वक अवलंबन

---

१. वही, ६५।
२. वही, १५।
३. वही, १७२।
४. वही, २०५।

करो और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, राग, द्वेष आदि का निश्शेष रूप से त्याग करो। कानों में हरिकथा, मुख में रामनाम और हृदय में हरि को धारण करो, उनकी शिरसा वंदना करो, उनकी सेवा करो, उनका अनुसरण करो। नेत्रों से चराचर जगतरूपी कृपा-समुद्र श्रीराम को प्रत्यक्ष करो। यही भक्ति, वैराग्य, ज्ञान है, यही हरि को सन्तुष्ट करनेवाला शुभ व्रत है, इसका आचरण करो। इस शिवमार्ग पर चलते हुए स्वप्न में भी डर नहीं रह जाता। साफ है कि कृपाकांक्षी भक्त को तुलसीदास अपनी ओर से जिस एकांगी प्रेम नेम और व्रत का उपदेश देते हैं, वे सदाचार के नितांत अनुकूल हैं और क्रिया की महत्त्वपूर्ण सहयोगी भूमिका को स्पष्ट करने में समर्थ हैं।

किंतु तुलसीदास यह भी जानते हैं कि इन क्रियाओं से प्रभु की कृपा होगी ही, यह नहीं कहा जा सकता। कृपा में प्रभु पूर्ण स्वतन्त्र हैं, वे अहेतुकी कृपा करते हैं, साधन होने पर भी कृपा संभव है, उनके होने पर भी न होना सम्भव है और न होने पर भी होना सम्भव है। कृपा, साधन-सम्पन्नों की तुलना में, दीन-हीन पर अधिक होती है, भक्तों की यही मान्यता है। तुलसी भी इसी मत के हैं। उनके अनुसार राम की बड़ाई ही यही है कि वे अमीरों, समर्थों की उपेक्षा कर गरीबों पर अधिकतर कृपा करते हैं। देवगण साधन करते करते थक जाते हैं, उन्हें तो स्वप्न में भी दर्शन नहीं देते, किन्तु केवट, कुटिल, कपि, भालू, राक्षस आदि को भाई बना लेते हैं।[१] तुलसी को भय है कि वे गरीबी भी नहीं अपना सके हैं, अतः उनकी प्रार्थना है—

नाथ गरीबनिवाज हैं, मैं गही न गरीबी।
तुलसी प्रभु निज ओर तें बनि परै सो कीबी॥[२]

प्रभु आप अपनी ओर से जो कर सकें, करलें। यह 'अपनी ओर से' का सिद्धांत तुलसी ने भक्त और भगवान् दोनों पर लागू किया है। भक्त अपनी ओर से उपर्युक्त साधनों में जो बन पड़े निष्ठापूर्वक करे, किंतु उन सब साधनों को करते हुए भी यही समझे कि उसने कुछ नहीं किया। तभी वह प्रभु से कह सकेगा कि मेरे आचरणों की ओर नहीं अपने नामप्रताप, गुण, प्रण, स्वभाव की ओर देखकर मेरे ऊपर कृपा करो। तुलसी ने बारबार कहा है :

जौ चित चढ़ै नाम-महिमा निज गुन-गन पावन पन के।
तौ तुलसिहिं तारिहौ बिप्र ज्यों दसन तोरि जमगन के।

---

१. वही, १६५।
२. वही, १४८।
३. वही, ६६।

कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि जानत हौं गति मन की ।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ।[१]
जो करनी आपनी बिचारौं तौ कि सरन हौं आवौं ।
मृदुल सुभाव सील रघुपति को, सो बल मनहिं दिखावौं ।
तुलसिदास प्रभु सो गुन नहिं जेहिं सपनेहुँ तुमहिं रिझावौं ।
नाथकृपा भवसिंधु धेनुपद सम जिय जानि सिरावौं ।[२]

'अपनी ओर देख कर प्रभु कृपा करते हैं' कहने का अर्थ ही है कि वे अहेतुकी कृपा करते हैं । तुलसी ने स्पष्ट कहा भी है :

बिनु हेतु करुनाकर उदार अपार मायातारनं ।[३]
कारुनीक बिनु कारन ही हरि, हरौ सकल भवभीर ।[४]

इसी भूमिका पर तुलसी कहते हैं कि प्रभु आप तो बिना सेवा, गुण, सामर्थ्य के ही दीन शरणागतों को निहाल कर देते हैं, अतः उसी भाव से मुझे भी अपना लीजिए, मेरा मनोवांछित दान मुझे दीजिये :

सेवा बिनु, गुन-बिहीन दीनता सुनाए ।
जे जे तैं निहाल किए फूले फिरत पाए ।।
तुलसिदास जाचक-रुचि जानि दान दीजै ।
रामचन्द्र चंद्र तू ! चकोर मोहिं कीजै ।।[५]

प्रभु की कृपा की अभिलाषा दिनोंदिन तीव्र होती जाती है, क्योंकि वही एक मात्र संबल है । तुलसी को यह भी समझ में नहीं आता कि वे प्रभु की कृपा को प्राप्त करने के लिए क्या करें, कहाँ जाएँ । वे देखते हैं कि एक तरफ तो पांडव हैं, जिनकी उत्पत्ति की कथा सुन-सुन कर सत्पथ डर गया था, गर्भगत परीक्षित हैं, जो कुछ भी साधन करने में नितांत असमर्थ थे, अजामिल, गणिका आदि जैसे पापी हैं, दूसरी तरफ राजा नृग जैसे पुण्यात्मा हैं, दैत्य नमुचि जैसे समर्थ हैं, जो अजर अमर थे, वज्र से भी अवध्य थे । किंतु प्रभु की कृपा पांडवों, परीक्षित, अजामिल आदि पर ही हुई । अतः स्वाभाविक रूप से तुलसी कह उठते हैं :

---

१. वही, ९० ।
२. वही, १४२ ।
३. वही, ६।१३६ ।
४. वही, १४४ ।
५. वही, ८० ।

केहि आचरन भलो मानै प्रभु सो तो न जानि परयो।
तुलसिदास रघुनाथ-कृपा को जोवत पंथ खरयौ ॥[१]

किस आचरण से प्रभु प्रसन्न होते हैं, यह जैसे जानना असंभव है, वैसे ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे किस समय प्रसन्न होंगे। अतः भक्त यही कर सकता है :

नाथ-कृपा ही को पंथ चितवत दीन हौं दिन राति।
होइ धौं केहि काल दीनदयालु जानि न जाति ॥[२]

कृपा के लिए खड़े खड़े पंथ जोहना आलस्य या अभिमान का द्योतक नहीं है। तुलसीदास इसी पद में आगे लिखते हैं कि मैंने तो सद्गुणों, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि श्रेष्ठ साधनों का सहारा लेना हो चाहा था, किंतु कलि के पापों और दुर्गुणों को देखकर वे विकल होकर भाग गए। अत्यंत अनीति और कुरीति होने के कारण पृथ्वी सूर्य से भी अधिक तपने लगी है, कहाँ जाऊँ, मेरे लिए कोई स्थान ही नहीं है, मेरी मति विकल हो गई है, अब स्वयं अपने सहित कोई मेरा अपना नहीं रहा। इस कठिन परिस्थिति में हे पिता! तुलसी की सफल धान की खेती को सूखने से बचाने के लिए श्यामघन की भाँति आप ही उसे कृपापूर्वक सींच दीजिये। स्पष्ट है कि यह कृपा का पंथ दिन रात देखते हुए खड़े रहना उस असहाय असमर्थ मार्जारकिशोर की भाँति है, जो पड़ा पड़ा सोचता रहता है कि माँ आए तो जहाँ ले जाना हो स्वयं अपने मुँह से पकड़कर, उठाकर ले जाए। पं० रामकिंकरजी उपाध्याय इसमें चतुराई देखते हैं और समझते हैं—'गोस्वामीजी ने बड़े व्यंग्य भरे शब्दों में भगवान् राम से कहा कि प्रभु अगर आपकी कृपा के आने का मार्ग निश्चित होता तो मैं चल पड़ता, पर आपकी कृपा न जाने किन-किन रास्तों से चलकर आ जाया करती है। अतः नाथ कृपा ही को पंथ चितवत हौं दिन रात, अब मैंने निर्णय कर लिया है कि जाओ मत कहीं, यहीं चौराहे पर बैठे रहो। तो अब आपकी कृपा जिस मार्ग से चलकर आएगी, उसी मार्ग में हमें प्राप्त हो जाएगी। अगर आप यह बता दीजिए कि आपने अपनी कृपा का मार्ग निर्धारित कर दिया है या आप ऐसे करेंगे तो चलूँ उसी मार्ग पर।'[३] किंतु पूरे पद के प्रसंग में यह अर्थ ठीक नहीं

---

१. वही, २३९।

२. वही, २२१।

३. 'चातक चतुर राम श्यामघन के', पृ० ११३।

लगता। इस अर्थ में उद्‌धृत पंक्ति में संभवतः भूल से दीन शब्द छूट गया है और वह शब्द भी इस अर्थ का निषेध करता है। यह सच है कि गोस्वामीजी ने सुतीक्ष्णजी जैसे समर्थ भक्तों की प्रेमलपेटी अटपटी चतुराई पर प्रभु को रीझते भी चित्रित किया है, किंतु अपने को उन्होंने इसका अधिकारी कभी नहीं माना। अपने लिए तो वे विनयपत्रिका में यही लिखते हैं—

यहाँ को सयानप अयानप सहस सम, सूधौ सत भाय कहे मिटति मलोनता।[१]

राम के दरबार में की गई चतुराई सहस्रों अज्ञान के बराबर है, सीधे सच्चे भाव से कहने से ही मलिनता मिट जाती है। हमें तो यही लगता है कि सब तरफ से निराश होकर अत्यन्त आर्त भाव से प्रभुनिर्भरता को ग्रहण करने की, उनकी ही इच्छा को सर्वोपरि मान लेने की, यह विनीत स्वीकृति है। यह प्रतीक्षा कितनी करुण है! ज्यों ज्यों विलंब होता है, त्यों त्यों भक्त की आर्ति बढ़ती जाती है। कभी वह विनय करता है—

तुलसी की तेरे ही बनाए, बलि बनैगी। प्रभु को बिलंब-अंब दोष दुख जनैगी।।[२]

विलंब रूपी माँ से दोष दुःख के अतिरिक्त और क्या उत्पन्न हो सकता है? विरह की छटपटाहट से बड़ा दुःख और क्या हो सकता है और कलिकाल तो ताक में है ही, प्रभु की ढील होते ही वह भक्त को दोष-कोष बना देगा, उससे उत्पन्न :ख और भी भयंकर होंगे। कभी मान भरे शब्दों में पूछ उठता है—

कृपा सोधौं कहाँ बिसारी राम?
जेहि करुना सुनि श्रवन दीन-दुख धावत हौ तजि धाम।।[३]

कभी अत्यधिक अधीर होकर प्रभु के द्वार पर धरना देकर प्रभु की ही शपथ कर बैठ जाता है कि बिना प्रभु के अपनाए मैं उठूँगा ही नहीं। बाल-हठ करते हुए कहता है—

हौं मचला लै छाँड़िहौं जेहि लागि अरचो हौं।
तुम दयालु बनिहै दिए बलि, बिलंब न कीजिए, जात गलानि गरचो हौं।।
प्रगट कहत जो सकुचिए, अपराध भरचो हौं।
तौ मन में अपनाइए तुलसिहि कृपा करि, कलि बिलोकि हहरचो हौं।।[४]

१. विनय०, २६२।
२. वही, १७९।
३. वही, ९३।
४. वही, २६७।

प्रभु कृपा करके अपना लें, प्रकट नहीं तो मन में ही सही, यह आग्रह भी जीवन-अवधि को अत्यन्त निकट देखकर छूट जाता है। तब यही बात रह जाती है कि जैसे और बहुत से पतित साधनों के बिना ही केवल तुमसे किसी न किसी प्रकार सम्बन्धित होने के कारण तर गए, वैसे ही मुझे भी कृपा, कोप, सहजभाव से, धोखे से या तिरछे भाव से ही सही, जो आपको अच्छी लगे ऐसी किसी भी दृष्टि से देखकर शीघ्र ही अपना लीजिए, लेकिन अब और ढील नहीं सही जाती—

बहुत पतित भव-निधि तरे बिनु तरि बिनु बेरे।
कृपा, कोप, सति भाय हूँ, धोखेहुँ, तिरछेहुँ राम तिहारेहि हेरे।
जौं चितवनि सौंधी लगै चितइए सबेरे।
तुलसिदास अपनाइए कीजै न ढील अब जीवन-अवधि अति नेरे।[1]

इस आर्ति से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि तुलसीदास को प्रभु-कृपा नहीं प्राप्त थी। बात बिलकुल उलटी है। उन्हें भरपूर कृपा प्राप्त थी। इसलिए इतनी प्रखर आर्ति का वे अनुभव करते थे। सीधी सी बात है, जो जितना अन्तरंग है, जिसका प्रेम जितना प्रगाढ़ होता है, वह उतनी ही उत्कट विरह-वेदना का अनुभव करता है, वियोग में तो करता ही है, भक्तों की भावना के अनुसार मिलन में भी पलकांतर, यहाँ तक कि प्रत्यक्ष विरह का भी अनुभव करता है। तुलसीदास की इस आर्ति के पीछे भी उनकी वही प्रेम-तृषा है, जिसका बढ़ना ही वे अच्छा समझते हैं, क्योंकि उसके घटने से तो प्रेम की मर्यादा ही भंग हो जाएगी। वैसे तुलसीदास ने विनयपत्रिका में ही अपने ऊपर प्रभु की कृपा के कई संकेत दिए हैं। समाज-हित के लिए कलि पर अंकुश रखने की तुलसीदास की प्रार्थना प्रभु ने स्वीकार की थी—

बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुना-बारि भूमि भिजई है।
रामराज भयो काज सगुन सुभ, राजा राम जगत-बिजई है।।[2]

व्यक्तिगत रूप से भी तुलसीदास को चित्रकूट में भगवान् की कृपा की अनुभूति हुई थी, इसके सांकेतिक उल्लेख उन्होंने कई स्थलों पर किए हैं—
तुलसी तोको कृपालु जो कियो कोसलपाल चित्रकूट को चरित्र चेतु चित्त करि सो।[3]

१. वही, २७३।
२. वही, १३९।
३. वही, २६४।

प्रभु की कृपा से तुलसी का भला हुआ है और वे उसी प्रकार निश्चित हैं, जैसे माता-पिता के राज में बालक, ऐसा भी उन्होंने कहा है—

मोको भलो रामनाम सुरतरु सों, रामप्रसाद कृपालु कृपा के।
तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबा के॥[१]

इतना ही नहीं वे राम की कृपा प्राप्त करके बैर से भयभीत नहीं होते, क्योंकि भक्त का तो कोई बाल बाँका नहीं कर सकता—

जोपै कृपा रघुपति कृपालु की बैर और के कहा सरै?
होइ न बाँको बार भगत को जो कोउ कोटि उपाय करै॥

....

हैं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै?
तुलसिदास रघुबीर-बाहुबल सदा अभय काहू न डरै॥[२]

तुलसीदास के इन अनुभवों से यह भी स्पष्ट है कि किस प्रकार प्रभु की कृपा भक्त को परितृप्त, शोकरहित और निर्भय बना देती है। अपने ऊपर चरम कृपा का अनुभव करके ही तुलसीदास लिख सके थे कि उनकी विनयपत्रिका प्रभु ने स्वीकार करली—

कृपा गरीबनिवाज की, देखत गरीब को साहब बाँह गही है॥
बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है।[३]

आरम्भ में उठाए हुए प्रश्नों का इस पूरे विवेचन से जो समाधान निकलता है, उसका सारांश यही है कि तुलसी के मतानुसार मानव के चरम पुरुषार्थ भगवत्प्राप्ति की सिद्धि के लिए भगवत्कृपा अनिवार्य है, केवल उसकी अपनी क्रियाएँ इसके लिए नितांत अक्षम हैं। कृपा क्रिया से पूर्णतः स्वतन्त्र है, किंतु अपने भले के लिए भक्त को अपनी ओर से अपने नेम का निर्विघ्न पालन करना चाहिए और भगवान् से प्रार्थना करते रहना चाहिए कि वे उसके आचरण की ओर देखकर नहीं, अपने नाम प्रताप गुण स्वभाव की ओर.... एक शब्द में अपनी ओर देखकर उस पर कृपा करें। इस सिद्धांत से कृपा की पूर्ण स्वतन्त्रता भी अक्षुण्ण रहती है और उसमें क्रिया का भी समाहार हो जाता है।

● ●

१. वही, २२५।
२. वही, १३७।
३. वही, २७९।

४.

वैष्णव जन

तो तेने कहीए

(वाचक, वाचिका, विचारक, विवादी : पुरुष स्वर :, जिज्ञासु : महिला स्वर : संभव हो तो गांधी जी के उद्धरणों को पढ़नेवाला एक अलग वाचक)

वाचक : भाई, कर्मवीर, महात्मा, राष्ट्रपिता, बापू—गांधी जी को एक के बाद एक ये उपाधियाँ दी थीं उनके कृतज्ञ देशवासियों ने, दक्षिण अफ्रीका में वे व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं का परित्याग कर अपने दीन हीन, दुर्बल अपमनित प्रवासी देशवासियों के बीच जा खड़े हुए। वहां उनके मानवोचित अधिकारों के लिए उन्होंने सत्याग्रह-समर छेड़ा। अतः वे लोग स्वाभाविक रूप से उन्हें अपना भाई मानने लगे।

वाचिका : उनके स्वदेश लौटने पर देश की जनता ने सिर्फ बातों में तेज नेताओं से उन्हें बहुत भिन्न पाया। वे कर्म पर विश्वास करते थे और देशवासियों की जड़ता को दूर कर उन्हें कर्मठ बनाना चाहते थे। चम्पारन और खेड़ा के सत्याग्रहों में उनका कर्मयोगी रूप प्रत्यक्ष कर जनता ने उन्हें कर्मवीर की उपाधि से विभूषित किया था।

वाचक : सत्य और अहिंसा को सम्बल बनाकर उन्होंने विदेशी साम्राज्य के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन का नेतृत्व किया था। धर्म पर आधारित उनकी राजनीति से विस्मित होकर भारत की धर्मप्राण जनता ने उन्हें महात्माजी पुकारना शुरू कर दिया था। 'महात्मा गांधी की जय' हमारी स्वतंत्रता की लड़ाई का सबसे लोकप्रिय नारा था।

वाचिका : पराधीन, निराश और निर्जीव राष्ट्र में पुनः नवीन प्राणों का संचार करने के कारण, उसे नवजीवन देने के कारण देश ने उन्हें राष्ट्रपिता की संज्ञा दी। स्वतंत्र और गौरवशाली भारत के प्रमुख निर्माता थे वे, अतः यह उपाधि सचमुच उनके योग्य ही है।

वाचक : अपने उदार, वात्सल्यपूर्ण, पितृसुलभ व्यवहार से वे न केवल अपने आश्रमवासियों के बल्कि सारे भारत की नयी पीढ़ी के बापू बन गये।

देश की जनता ने उन्हें जिस-जिस रूप में देखा समय-समय पर उस-उस नाम से उन्हें पुकारा। किन्तु गांधी जी स्वयं अपने सामने जिस आदर्श को रखकर चले थे, वह कर्मवीर या महात्मा का नहीं था। उनका आदर्श था वैष्णव—एक ऐसा वैष्णव जिसके लक्षणों का निर्देश किया है नरसी मेहता ने अपने सुप्रसिद्ध भजन 'वैष्णव जन तो तेने कहीए' में (करताल, मजीरा, इकतारा, मृदंग आदि वैष्णव वाद्य-यंत्रों की संगति में मधुर सहगान स्वर उभरता है) :

वैष्णव जन तो तेने कहीए, जे पीड़ पराई जाणे रे
पर दुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।

वाचिका : बापू का प्राणप्रिय भजन है यह, उनके सुख-दुःख का साथी, उनकी प्रेरणा का अक्षय स्रोत, उनके विश्वासी मन का सुदृढ़ सम्बल। गंगा के समान इसकी पवित्र स्वरधारा में डुबकी लगाते ही मन का कलुष मिट जाता है और वह खादी सा उजला हो उठता है।

× × ×

विवादी : बस, मुझे इतनी भावुकता अच्छी नहीं लगती, एक मध्ययुगीन साम्प्रदायिक भजन का आधुनिक बुद्धिवादियों के निकट क्या मूल्य हो सकता है भला! बापू वैष्णव परिवार में उत्पन्न हुए थे, उनके लिए वैष्णव कहलाना गौरव की बात हो सकती थी, हम लोग किन्तु ऐसा क्यों मानें ?

विचारक : ओ, तो आपको वैष्णव शब्द पर ही आपत्ति है। आप समझते हैं कि किसी खास सम्प्रदाय में दीक्षित व्यक्ति को ही वैष्णव कहा जा सकता है। यह तो इसका बहुत सीमित अर्थ कर रहे हैं आप। बापू ने तो बहुत व्यापक अर्थ में इस शब्द को ग्रहण किया था।

जिज्ञासुक : मैं मानता हूँ कि आपकी यह बात ठीक है। बापू इसका साम्प्रदायिक अर्थ नहीं करते थे। पर व्यापक से व्यापक अर्थ करने पर भी इसका अर्थ ईश्वर-भक्त ही तो किया जा सकता है। जो ईश्वर पर ही विश्वास न करते हों, वे इसे क्यों स्वीकारने लगे, उन्हें इससे क्या प्रेरणा मिल सकती है ?

विचारक : हाँ, गांधीजी ईश्वरवादी थे किन्तु उनका ईश्वर जिस प्रकार किसी सम्प्रदायविशेष का ही नहीं था, उसी प्रकार केवल आस्तिकों का भी नहीं था। उनका कहना था :

"मेरे लिए ईश्वर सत्य और धर्म है, ईश्वर सदाचार एवं नैतिकता है, ईश्वर निर्भयता है। ईश्वर ज्योति एवं जीवन का स्रोत है तथापि वह इन सबसे ऊपर और परे है। ईश्वर अन्तर्विवेक है। नास्तिकों की नास्तिकता भी वही है।[१]"

विवादी : हुँ : नास्तिकों की नास्तिकता भी वही है। मैं कहता हूँ, मैं अपने पर और बुद्धिसंगत वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर ही विश्वास करता हूँ, किसी रहस्यवादी ईश्वर या धर्म-व्यवस्था पर नहीं।

विचारक : तो भी आप गांधीजी के अनुसार ईश्वरवादी ही हैं। उनकी मान्यता थी, "अपने में अनन्तगुना विश्वास ही ईश्वर है।"[२] रही बात धर्म-व्यवस्था की। निस्सन्देह गांधीजी मानते थे कि धर्म हमारे हर एक कार्य में व्यापक होना चाहिए। उनके इस धर्म का अर्थ उन्हों के शब्दों में सुनिये, "धर्म का अर्थ कट्टर पंथ से नहीं है। उसका अर्थ है विश्व की एक नैतिक सुव्यवस्था में श्रद्धा। वह अदृष्ट है, इसलिए वास्तविकता उसकी कम नहीं हो जाती। यह धर्म हिन्दू धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म आदि सबसे परे है। यह उन धर्मों का उच्छेद नहीं, बल्कि समन्वय करता है और उन्हें वास्तविक धर्म बनाता है।"[३]

जिज्ञासु ; अगर कोई आधुनिक व्यक्ति किसी रहस्यमय ईश्वर या धार्मिक क्रिया-कलाप पर विश्वास न करे फिर भी क्या गांधीजी की दृष्टि में वह आस्तिक हो सकता है ?

विचारक : हाँ, किन्तु एक शर्त है, वह जो माने उसे जीवन में भी उतारे। गांधीजी ने स्पष्ट कहा है, "तुम किसी भी सिद्धान्त पर विश्वास करो, उसे जीवन्त करो और कहो कि वही तुम्हारा ईश्वर है—मैं उसे यथेष्ट समझूँगा।"[४] क्या आप यह नहीं स्वीकार करते कि किसी भी महान् कार्य के लिए ऐसा जीवन्त विश्वास अनिवार्य है। गांधी जी केवल मुँह की बात पर नहीं जाते थे, आचरण की कसौटी पर परखकर ही वे किसी के बारे में अपना

---

१. सोशल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी में पृ० १३ पर उद्धृत।

२. हरिजन ३ जून १९३९ पृ० १५१।

३. बापू की कलम से पृ० २९७–९८।

४. हरिजन १७ जून १९३९ पृ० १६७

मत निश्चित करते थे। उनका कहना था, 'ईश्वर का नाम लेने वाले आस्तिक नहीं, परन्तु ईश्वर के काम करने वाले आस्तिक हैं।'[१]

विवादी : यदि गांधी जी को इन शब्दों के परम्परागत अर्थ स्वीकार ही नहीं थे तो उन पुराने शब्दों से उन्हें इतना मोह ही क्यों था? क्यों नहीं; उन्होंने अपने नये विचारों के लिए नये शब्द दिये?

विचारक : गांधीजी इन पुराने अर्थों का सर्वथा निषेध भी नहीं करते थे। उनकी मान्यता थी अपनी अपनी भूमिका के अनुसार अलग अलग व्यक्ति इनके अलग अलग स्तर के अर्थ कर सकते हैं, इससे ये अर्थ परस्पर विरोधी नहीं हो जाते। एक ऊँचे सोपान की ऊपर की सीढ़ी पर खड़ा व्यक्ति उसकी निचली सीढ़ी पर खड़े व्यक्ति का विरोधी तो नहीं है; यद्यपि दोनों के अनुभव बिलकुल एक जैसे नहीं हैं फिर भी पहले का अनुभव दूसरे के अनुभवका विकसित रूप ही है। पुराने शब्दों के नये अर्थों का विकास विचार की ऐसी अहिंसक क्रांति है जो सहज ही परम्परा का आधुनिकीकरण कर देती है।

जिज्ञासु : तो क्या आप कहना चाहते हैं कि गांधीजी ने इस भजन को भी कोई नया अर्थ दिया था जो आज के सन्दर्भ में बहुत उपयोगी है।

विचारक : जी हाँ, गांधी जी सत्य का ही ईश्वर मानते थे और यह भी कि सत्यमय बनने का एकमात्र मार्ग अहिंसा ही है अतः उनके लिए वैष्णव का अर्थ था अहिंसक सत्याग्रही। उनकी दृष्टि में वह आदर्श मानव का प्रतिरूप था केवल राजनीतिक आन्दोलनकारी नहीं। इस भजन में उन्हें इसी आदर्श मानव के आधारभूत गुणों के एकत्र दर्शन होते थे, इसीलिए यह भजन उन्हें इतना प्रिय था। इन गुणों के प्रति सत्याग्रही की निष्ठा सच्ची होने पर भी कच्ची रह सकती है, अपूर्ण रह सकती है! अतः उनका आग्रह था कि इस भजन को बारबार गाकर और सुनकर कच्ची और अपूर्ण निष्ठा को वह पक्की और पूर्ण बनाये, उसे अपने जीवन में उतारे।

विवादी : वाह कहाँ वैष्णव, कहाँ अहिंसक सत्याग्रही! आपने भी खूब कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा मिलाया। अब आप क्या चाहते हैं, भक्त नरसी के इस भगवत्साधनापरक भजन को राजनीतिक घोषणापत्र सिद्ध करना।

विचारक : आपका व्यंग्य ऊपर से पैना जरूर लगता है किन्तु वास्तविकता पर आधारित न होने के कारण प्रभावहीन है। आपकी दृष्टि में भगवत्साधना

---

१. बापू की कलम से पृ० २८४

और राजनीति बिल्कुल विरोधी और भिन्न क्षेत्र हैं। गांधीजी ऐसा नहीं समझते थे। सम्पूर्ण सत्य को टुकड़ों में बाँटकर उन्हें परस्पर विरोधी घोषित करना, उन्हें अमान्य था। अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है :

"ऐसे व्यापक सत्यनारायण के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए जीव मात्र के प्रति आत्मवत् प्रेम की परम आवश्यकता है। और जो मनुष्य ऐसा करना चाहता है, वह जीवन के किसी भी क्षेत्र से बाहर नहीं रह सकता। यही कारण है कि सत्य की मेरी पूजा मुझे राजनीति में खींच लायी है। जो मनुष्य यह कहता है कि धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह धर्म को नहीं जानता, ऐसा कहने में मुझे संकोच नहीं होता और न ऐसा कहने में मैं अविनय करता हूँ।"[१]

अपने ऐसे विचारों के कारण यदि गांधी जी ने इन आधारभूत मानवीय गुणों को राजनीति में भी आवश्यक समझा तो आश्चर्य की क्या बात।

जिज्ञासु : राजनीति के छल-कपट और दाँवपेंच से भरे जीवन में इन गुणों का क्या स्थान हो सकता है? क्या ऐसे सरल और सीधे-सादे राजनीतिज्ञ को लोग ठग नहीं लेंगे?

विचारक : गांधीजी मानते थे कि दूसरों को ठगनेवाला खुद ही ठगा जाता है। भला मलिन साधन से शुद्ध साध्य की सिद्धि कैसे हो सकती है। छलकपट की राजनीति के चलते जो समस्या सुलझी सी जान पड़ती है, वह दस नयी समस्याओं को जन्म देती है। विनाश के कगार पर खड़ी यह अशान्त दुनिया छल-कपट की राजनीति की विफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है। गांधी जी का निश्चित मत था—'साधु जीवन से ही आत्मशान्ति की प्राप्ति सम्भव है। यही इहलोक और परलोक दोनों का साधन है।'[२]

इस लोक के अन्य क्षेत्रों की तरह राजनीति में भी साधुता से ही वास्तविक और स्थायी कल्याण सम्भव है।

विवादी—तो चलिए, हम लोग करताल और मजीरा लेकर रामधुन गाना शुरू कर दें, सब समस्याएँ अपने आप हल हो जायेंगी।

विचारक—तब तो आप गांधीजी को खूब समझ पाये हैं। जरा सोचिये तो सही बापू का यह प्रिय भजन क्या कहता है। वैष्णव तो उसी को कहना

---

१. आत्मकथा (पूर्णाहुति) पृ० ४३३

२. बापू की कलम से पृ० १०३

चाहिए जो दूसरे की पीड़ा को समझे, दूसरे के दुःख के समय उसका भला तो करे फिर भी उसके लिए अपने मन में अभिमान न करे। क्या यह निष्क्रियता और लोकनिरपेक्ष अध्यात्म-साधना का उपदेश है ?

जिज्ञासु—नहीं, इससे स्पष्ट है कि गांधी साधना में सक्रिय लोकसेवा का बहुत अधिक महत्व है। क्या आप तनिक विस्तार से समझायेंगे कि यह सरल सी बात किस प्रकार गांधी दर्शन की आधारशिला बन गयी।

विचारक—आधारभूत सत्य सरल ही होता है। उसमें जटिलता और विविधता उसके विकास क्रम में आती है। पर किसी भी प्रकार की कुटिलता का सत्य से सम्बन्ध नहीं हो सकता। गांधीजी मानते थे, 'मनुष्य जीवन का उद्देश्य आत्मदर्शन है। और उसकी सिद्धि का मुख्य एवं एकमात्र उपाय पारमार्थिक भाव से जीवमात्र की सेवा करना है, उनमें तन्मयता तथा अद्वैत के दर्शन करना है।'[१] सार्थक सेवा तभी सम्भव है जब हम दूसरे की स्थिति में अपने को रखकर उसकी पीड़ा को अपनी पीड़ा मानकर उसे दूर करने का प्रयास करें हम सचमुच तन्मय हो पाये या नहीं, इसकी कसौटी भी इस भजन में दे दी गई है। यदि सेवा के कारण हमारे मन में अभिमान जागता है तो हमारी सेवावृत्ति कच्ची ही मानी जायेगी।

विवादी—कच्ची-पक्की का यह भेद आप किस आधार पर करते हैं। सेवा करना अच्छा काम है और अच्छे काम का गौरव तो होता ही है। इसमें कच्चापन या दोष कहाँ से आ गया ?

विचारक - सेवा या कोई अच्छा काम यदि इस भाव से किया जाता है कि इसके द्वारा अन्य लोगों से श्रेष्ठ हो जाऊँगा तो उसका अभिमान होता है। यदि सम्मान या पदोन्नति आदि भौतिक लाभ उस अच्छे काम के फलस्वरूप न हुए तो अच्छा काम करने का उत्साह जाता रहता है। फिर तो ऐसे व्यक्तियों को वह काम बोझ लगने लगता है। गांधीजी इस बात को खूब अच्छी तरह से समझते थे। उन्होंने आत्मकथा में लिखा है :

"खींचतानकर अथवा दिखावे के लिए या लोकलाज के कारण की जानेवाली सेवा आदमी को कुचल देती है, और ऐसी सेवा करते हुए भी आदमी मुरझा जाता है। जिस सेवा में आनन्द नहीं मिलता, वह न सेवक को फलती है, न सेव्य को रुचिकर लगती है। जिस सेवा में आनन्द मिलता है, उस

---

१. वही पृ० १०४

सेवा के सम्मुख ऐशग्रोराम या धनोपार्जन इत्यादि कार्य तुच्छ प्रतीत होते हैं।"[1]

जिज्ञासु—ऐसी अभिमान रहित सेवा क्या सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्रों में भी सम्भव है ?

विचारक—हाँ, यदि गांधीजी की दृष्टि ग्रहण कर ली जाये, तो यह सम्भव है। हमारा समाज....हमारा देश गरीब है, दुःखी है, समस्याओं से जर्जर है। उसकी पीड़ा दूर करना हमारा धर्म है। उसकी पीड़ा दूर करना अपनी ही पीड़ा दूर करना है। वह और हम अलग कहाँ हैं। फिर अपना ही काम करने के लिए किसी पुरस्कार की कामना क्यों की जाये ? जिस सेवा का फल आत्मदर्शन है, उसे छोटे मोटे भौतिक लाभों का लोभ क्यों हो ? समाज-सेवा की अपनी भावना का विश्लेषण करते हुए गांधी जी ने लिखा है :

"इस प्रकार मैं हिन्दुस्तानी समाज की सेवा में ओतप्रोत हो गया, उसका कारण आत्मदर्शन की अभिलाषा थी। ईश्वर की पहचान सेवा से ही होगी, यह मानकर मैंने सेवा-धर्म स्वीकार किया था। मैं हिन्दुस्तान की सेवा करता था, क्योंकि वह सेवा मुझे अनायास प्राप्त हुई थी। मुझे उसकी रुचि थी। मुझे उसे खोजने नहीं जाना पड़ा था।"[2] ऐसी मानसिक स्थिति में अभिमान असंभव है। भजन की अन्य पंक्तियाँ पूर्ववत् उभरती हैं :

सकल लोक माँ सहुने वन्दे, निन्दा न करे केनी रे
वाचकाछ मन निश्चल राखे धन धन जननी तेनी रे।

विवादी—सुन रहे हैं आप, इसकी पहली पंक्ति का अर्थ यही तो हुआ कि समस्त लोक में जो सबको वन्दना करता है और किसी की निन्दा नहीं करता, सबकी वन्दना—काला-बाजार और चोरी, ठगी आदि बुरा काम करनेवालों की भी वन्दना, उनकी भी निन्दा नहीं—ऐसा आदर्श हमारे किसी काम का नहीं है। मैं ऐसे लोगों की वन्दना तो कर ही नहीं सकता, उनकी निन्दा ज़रूर करना चाहता हूँ उसे उचित भी समझता हूँ।

विचारक—आपके आवेश की मैं कद्र करता हूँ। इसका अर्थ यही है कि आप अन्यायी का विरोध करना चाहते हैं। गांधीजी जरा और गहरे जाते हैं वे अन्याय का विरोध करते हैं उससे समझौता नहीं करते, उसकी वन्दना

---

१. आत्मकथा पृ० १५१
२. वही पृ० १३७।

नहीं करते, उसकी निन्दा भी करते हैं। पर विनय नहीं छोड़ते। अन्यायी और अन्याय को एक भी नहीं करते। अन्यायी को भी अपनाकर उसका अन्याय दूर करना चाहते हैं। विरोधी का भी हित चाहते हैं। उसके विरोधी रूप को ही अन्तिम नहीं मानते। उनकी मान्यता है :

"मैं अनुभव से इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि विनय सत्याग्रह का कठिन से कठिन अंश है। यहाँ विनय का अर्थ केवल सम्मानपूर्वक वचन कहना ही नहीं है। विनय से तात्पर्य है विरोधी के प्रति भी मन में आदर, सरलभाव, उसके हित की इच्छा और तदनुसार व्यवहार।"[१]

जिज्ञासु—अन्यायी विरोधी के सच्चे हित की इच्छा तो अच्छी बात है किन्तु उसकी वन्दना क्यों? उसकी निन्दा क्यों नहीं? यह बात समझ में नहीं आती।

विचारक—अन्याय की निन्दा करना सत्य की साधना करनेवालों का धर्म हो जाता है। गांधीजी ने उसकी अनुमति दी है। अन्यायी की निन्दा में दो खतरे हैं। किसी की निन्दा करनेवाला अपने को उससे अच्छा मानकर अहंकार का शिकार हो सकता है। इससे तो उसकी मुक्ति में बाधा आ जायेगी। गांधी जी तो मानते थे कि, "मनुष्य जब तक स्वेच्छा से अपने को सबसे नीचे नहीं रखता तब तक उसे मुक्ति नहीं मिलती। अहिंसा नम्रता की पराकाष्ठा है और यह अनुभव सिद्ध बात है कि इस नम्रता के बिना मुक्ति कभी नहीं मिलती।"[२] फिर निन्दा न तो निन्दित के अन्य गुण देख पाती है, न उसे अच्छा बनने को प्रोत्साहित करती है वह तो केवल वैमनस्य ही बढ़ाती है, अतः व्यक्ति की निन्दा से बात बनने के स्थान पर बिगड़ ही जाती है।

विवादी—चलिये, निन्दा न सही, किन्तु वन्दना क्यों? क्या अन्यायी की वन्दना अन्याय को बढ़ावा देना नहीं है?

विचारक—न तो नरसी मेहता, न गांधीजी ही अन्यायी की वन्दना करते हैं। वे तो उसके भीतर विराजमान प्रभु की ही वन्दना करते हैं। तुलसीदास ने इसको खोलकर कहा है, 'सीयराम मय सब जग जानी, करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।' यह भेद, यह द्वैत व्यावहारिक सत्य ही है, वास्तविक सच्चाई तो ईश्वर ही है। गांधीजी मानते थे कि इसको बिना समझे हम एक दूसरे

---

१. वही पृ० ३७९।
२. वही पृ० ४३३।

से लड़ते हैं, लेकिन जब समझ जाते हैं, तो हम कुछ नहीं रह जाते, ईश्वर ही सब कुछ बन जाता है। ईश्वरमय समझकर सबको वन्दना करना भी आपत्तिजनक है क्या ?

जिज्ञासु—वाच, काछ, मन—अर्थात् वाणी, कार्य और मन की निश्चलता का तात्पर्य क्या है ? क्या उन्हें बिल्कुल निष्क्रिय बना देना चाहिए ?'

विचारक—नहीं यहाँ निश्चल का मतलब निष्क्रिय नहीं है, विषयों और प्रलोभनों के बीच भी अचंचल रहना है। वाणी, कार्य और मन के विकारों को दूर कर उन्हें संयत किये बिना आत्मशुद्धि संभव नहीं है। गांधीजी के अनुसार, "शुद्धि का मार्ग विकट है। शुद्ध बनने का अर्थ है, मन से, वचन से और काया से निर्विकार बनना, राग-दोषादि से रहित होना।"[१] इस विकट मार्ग पर विनम्रता और जागरूकता के साथ चलनेवाले साधक भगवान की कृपा से सफल होते हैं, ऐसा उनका दृढ़ विश्वास था।

(भजन की अगली पंक्तियाँ पूर्ववत् उभरती हैं)

समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे

विवादी—बाबा रे, बाबा क्या किसी संसारी व्यक्ति के लिए ऐसा संभव भी है कि वह समदृष्टि हो, तृष्णा त्यागी हो, परस्त्री को सदा माता समझे, कभी असत्य न बोले और पराये धन को हाथ न लगाये। ऐसी बातें जो अव्यावहारिक हैं, प्रवंचना मात्र हैं। सुनने, सुनाने में अच्छी लगती हैं भीतर-भीतर सब जानते हैं कि ये केवल हाथी के दिखावटी दाँत हैं।

विचारक—आपकी बात अपने में कई शंकाएँ समेटे हैं। ऐसा लगता है कि आप संसारियों के लिए सन्तों, भक्तों, संन्यासियों से बिलकुल अलग आदर्श चाहते हैं। लेकिन एक बात भूल जाते हैं कि मूलभूत आदर्श तो संसारियों और संन्यासियों का एक ही है, कम से कम गांधीजी की दृष्टि में और वह है ईश्वर दर्शन या आत्म दर्शन। हां, स्थिति के अनुसार दोनों के मार्ग अलग-अलग हैं। पर मूल आदर्श एक होने के कारण उसके लिए आवश्यक गुण भी बहुत कुछ एक से ही होंगे।

१. वही, पृ० ४३३।

जिज्ञासु—किन्तु क्या यह बात ठीक नहीं है कि आदर्श व्यावहारिक होने चाहिए, ऐसे होने चाहिए जिन्हें हम अपने जीवन में उतार सकें।

विचारक—सच तो यह है कि विकास की कोई सीमा नहीं है। हम अपने जीवन में जिस स्तर तक विकास कर चुके होते हैं, क्या वहाँ रुक कर सन्तोष पा सकते हैं? सीधा उत्तर है, नहीं। अर्थात् हमारा आदर्श इतना ऊँचा होना चाहिए कि हम वहाँ तक भले न पहुँच सकें किन्तु पहुँचने के प्रयास में निरन्तर ऊपर उठते जायें। ईश्वर दर्शन जैसे ऊँचे साध्य के साधन भी तो ऊँचे ही होंगे। उनकी ऊंचाई यदि हमें डराये तो हमें उचित है कि हम अपने से एक सीढ़ी ऊँचे की ओर ही देखें। पर्वत की ऊँचाई देखकर दुर्बल व्यक्ति का डरना स्वाभाविक हो है, किन्तु वही जब श्रद्धा और दृढ़ निश्चय के साथ एक-एक कदम चढ़ता चलता है तो चोटी तक पहुँच ही जाता है। वही बात इन कठिन साधनों के लिए भी सत्य है।

जिज्ञासु—क्या इन साधनों का संसारी गृहस्थ भी व्यावहारिक जीवन में पालन कर पाये हैं?

विचारक—हमारी श्रद्धा है कि ऐसे कर्मयोगी गृहस्थ होते रहे हैं। स्वयं गांधीजी ऐसे ही गृहस्थ थे। यह ठीक है कि कोई आरम्भ से ही समदृष्टि नहीं हो जा सकता, पर इसका क्रमिक विकास सम्भव है। गाधीजी को साखी है, "मेरी अपनी यह मान्यता है कि आस्तिक मनुष्यों में, जो अपने में विद्यमान ईश्वर को सबमें देखना चाहते हैं सबके साथ अलिप्त होकर रहने की शक्ति आनी चाहिए।"[1] यही बात तृष्णा त्याग के लिए भी सत्य है। विचार-पूर्वक देखा जाये तो परस्त्री जिसके लिए माता के समान है, पराये धन को जो स्पर्श नहीं करता, ये कथन तो गृहस्थों पर ही लागू होते हैं। संन्यासी तो कामिनी कांचन का बिलकुल त्याग कर देता है, उसकी अपनी स्त्री या सम्पत्ति तो होती ही नहीं। अतः इन पंक्तियों का उद्देश्य सद्गृहस्थों को अपनी पत्नी और सम्पत्ति से सन्तुष्ट रहने का उपदेश देना है। यह भी नहीं समझना चाहिए कि यह बात केवल पुरुषों के लिए है। गांधीजी के शब्दों में इसका भावार्थ है, 'पुरुष परस्त्री को मां बहन के समान समझे और इसी तरह स्त्री पर-पुरुष को भाई और बाप के समान माने।"[2]

विवादी—मेरी समझ में तो यदि यह संभव हो भी जाये तो भी व्यवहार में असत्य बोले बिना तो काम चल ही नहीं सकता।

---

१. वही, पृ० २४२।

२. बापू की कलम से, पृ० २२२।

विचारक--देखिये, आरम्भिक जीवन में गांधीजी वकालत करते थे। सभी की धारणा है कि वकालत बिना झूठ बोले चल ही नहीं सकती किन्तु गांधी जी ने वकालत भी सच्चाई के आधार पर की थी। गांधीजी ने साफ-साफ लिखा है, 'वकालत के धन्धे में मैंने कभी असत्य का प्रयोग नहीं किया।''[१] केवल वकालत में ही नहीं राजनीति तथा अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों में भी असत्य का प्रयोग उन्होंने कभी नहीं किया था। फिर इसे अव्यावहारिक आदर्श कैसे माना जा सकता है।

(पूर्ववत् भजन की अगली पंक्तियाँ उभरती हैं)

मोह माया व्यापे नहिं जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे
राम नामशुं ताली लागी, सकल तरथ तेना तनमां रे

जिज्ञासु--जिसको मोह माया नहीं व्यापती, जिसके मन में दृढ़ वैराग्य है, वह तो स्वयं मुक्त है, फिर उसे राम नाम जपते रहने की क्या आवश्यकता है ?

विचारक--बात यह है कि यदि व्यक्ति केवल अपने बलबूते पर निर्भर रह कर अपने को मोह-माया से मुक्त और वैराग्यवान् मानने लगता है तो उसमें अहंकार जाग सकता है। अहंकार के जागते ही व्यक्ति का पतन हो जाता है। राम नाम के निरन्तर जप से व्यक्ति प्रभु पर निर्भर होना सीखता है। तब वह मानता है कि उसमें जो भी थोड़े से गुण आ पाये हैं वे प्रभु की कृपा के फलस्वरूप ही आ पाये हैं। इस प्रकार एक महान् आधार पर अवलम्बित होने की भावना जागती है और साधक अधिक निरापद हो जाता है।

विवादी—यह तो अन्धविश्वास फैलाना हुआ। जैसे बहुत से लोग जन्तर मन्तर करवा कर अपने को निरापद मानते हैं, वैसे ही सन्त, भक्त और गांधी जी रामनाम जपकर अपने को सुरक्षित मान लेते हैं, भला राम नाम जपने से वास्तविक आधार कैसे प्राप्त हो जा सकता है ?

विचारक--यह तर्क से अधिक अनुभव का विषय है। तर्क के लिए तो इतना ही कहा जा सकता है कि अर्थ समझ कर भावपूर्ण राम नाम जप के द्वारा मन राम के गुणों की ओर उन्मुख होता है। क्रमशः वे गुण जाने अनजाने, कम-बेशी मात्रा में जापक में आने लगते हैं। इससे निश्चय ही वह पहले से अच्छा व्यक्ति बन जाता है। तर्क को छोड़कर यदि सन्तों, भक्तों की साखियों का विचार करें तो मानना पड़ता है कि उन्हें इसका प्रत्यक्ष अनुभव

१. आत्मकथा, पृ० ३१६।

होता था कि राम नाम लेने से उन्हें परम शांति मिलती है, उनके विकार दूर होते हैं और उनमें दिव्य शक्ति का संचार होता है। गांधीजी का अपना अनुभव भी यही था। उनकी दृढ़ घोषणा थी : मैंने कहा है कि राम नाम अथवा किसी भी रूप में हृदय से ईश्वर का नाम लेना एक महान् शक्ति का सहारा लेना है। वह जो कर सकती है, सो दूसरी कोई शक्ति नहीं कर पाती। उसके मुकाबले अणुबम कोई चीज नहीं। उससे सब दर्द दूर होते हैं। हाँ यह सही है कि हृदय से नाम लेने की बात कहना आसान है, करना कठिन है। सो वह कितना भी कठिन क्यों न हो, वही सर्वोपरि वस्तु है।[१]

जिज्ञासु—क्या यह जरूरी है कि राम नाम ही जपा जाये ? क्या ईश्वर का कोई और नाम नहीं जपा जा सकता ?

विचारक—क्यों नहीं जपा जा सकता। जिसको जिस नाम पर श्रद्धा हो उसको वही नाम जपना चाहिए। गांधी जी ने इस विषय में साफ कहा है, "राम के नाम हजारों नहीं, अरबों हैं, अगणित हैं। अल्लाह कहो, खुदा कहो, रहीम कहो, रहमान कहो, रज्जाक कहो, रोटी देनेवाला कहो, सब उसी के नाम हैं।"[२]

(पूर्ववत् भजन की अगली पंक्तियाँ उभरती हैं)

वणलोभी ने कपट रहित छैं, काम क्रोध निवार्या रे
मरो नरसैंयों तेंनु दरसन करतां, कुल एकोतेर तार्या रे

जिज्ञासु—जो निलोभ को कपट रहित हो, जिसने काम क्रोध को जीत लिया हो, भक्त नरसी कहते हैं कि उसके दर्शन से इकहत्तर पीढ़ी तर जाती है। क्या भक्त नरसी के इस कथन को आप भी सत्य मानते हैं ?

विचारक—देखिये, साधारण मनुष्य तो काम, क्रोध, लोभ के गुलाम हैं। फिर अपने इन भावों को छिपाने के लिए उन्हें कपट भी करना ही पड़ता है। ऐसी स्थिति में यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसने काम, क्रोध, लोभ को जीत लिया हो तो निश्चय ही वह महान् है। ऐसे सज्जन को हम लोग श्रद्धा से सन्त कहा करते हैं। सन्तों को भगवान के समान मानना चाहिए, ऐसी हमारे देश की मान्यता है। अतः सन्त के दर्शन से, उसके सत्संग से हमारी वृत्तियाँ भी शुद्ध हो जाती हैं। बात यह है कि धर्म की शिक्षा धर्म पालन द्वारा ही दी

---

१. बापू की कलम से, पृ० ४०८-९

२. वही पृ० ३०१

जा सकती है। जो सच्चा सन्त है, सच्चा वैष्णव है, वह तो धर्म का मूर्त्तरूप है। उसके सम्पर्क के कारण हम लोग भी धर्म का आचरण करने लगते हैं। इसी से कहा गया है कि सच्चे वैष्णव के दर्शन से हम तर जाते हैं। गांधीजी सत्संग की स्तुति करते थकते नहीं थे। उनका विश्वास था, "भक्ति से, सत्संग से श्रद्धा प्राप्त होती है। जिन्हें, जिन्हें सत्संग का प्रसाद प्राप्त हुआ है, उन्होंने 'सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्' वचनामृत का अनुभव अवश्य किया होगा।"[१]

विवादी—जो सत्संग करेगा, वह अच्छा बनेगा, यह तो ठीक है। पर उसकी इकहत्तर पीढ़ी उससे कैसे तर जायेगी ?

विचारक—यह तो श्रद्धा का विषय है। इकहत्तर तो केवल प्रतीकात्मक संख्या है। अभिप्राय यह है कि ऐसे सच्चे वैष्णवों का सत्संग करनेवाला स्वयं वैष्णव बन जाता है और उससे उसका कुल, उसका समाज पवित्र हो जाता है। उसके बाद की पीढ़ियाँ उसके आचरण को देखकर, उसके उदाहरण को सुनकर, पवित्र बनती हैं और उसके पहले की पीढ़ियाँ उसके पुण्य से। यदि आपका बुद्धिवाद उसके पहले की पीढ़ियों का तरना न भी स्वीकार करे तो भी कोई हानि नहीं है। गांधीजी के साथ इतना तो आप मानेंगे ही कि "व्यष्टि और समष्टि के बीच ऐसा निकट का सम्बन्ध है कि एक की शुद्धि अनेकों की शुद्धि के बराबर हो जाती है।"[२] स्वयं पवित्र होकर दूसरों को पवित्र बनाने वाले वैष्णव के इस रूप को ही गांधी जी ने अपना आदर्श माना था।

× × ×

वाचिका—गांधी जी का सारा जीवन इस वैष्णव साधना का जीवन्त उदाहरण है। वे वैष्णव की तरह जिये और वैष्णव की तरह ही कर्तव्य की वेदी पर बलिदान हो गये। हे राम उनके मुख से निकला अन्तिम शब्द था। भारत में रामराज्य की स्थापना ही उनका जीवन-स्वप्न था। उन्होंने बताया था "रामराज्य शब्द का भावार्थ यह है कि उसमें गरीबों की सम्पूर्ण रक्षा होगी, सब कार्य धर्मपूर्वक किये जायेंगे और लोकमत का हमेशा आदर किया जायेगा।"[३] इस स्वप्न को सत्य बनाकर ही हम गांधी जी को सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं।

---

१. वही पृ० १२०
२. आत्मकथा पृ० ४३३
३. बापू की कलम से पृ० १७९

५.

हिन्दी आलोचना को

श्री बालमुकुन्दगुप्त की देन

"आलोचना की रीति अभी हिन्दी में भलीभाँति जारी नहीं हुई है और न लोग उसकी आवश्यकता ही को ठीक-ठीक समझे हैं। इससे बहुत लोग आलोचना देखकर घबरा जाते हैं और बहुतों को वह बहुत ही अप्रिय लगती है। यहाँ तक कि जो लोग स्वयं इस मैदान में कदम बढ़ाते हैं, अपनी आलोचना होते देख कर वही तुर्शरू हो जाते हैं। इससे हिन्दी में आलोचना करना भिड़ के छत्ते को छेड़ लेना है। छेड़नेवाले को चाहिए कि बहुत सी भिड़ों के डंक सहने के लिए प्रस्तुत रहे।"[१] ये पंक्तियाँ बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने १९०६ ई० में लिखी थीं। हिन्दी आलोचना की तत्कालीन परिस्थिति इनसे बहुत स्पष्ट हो जाती है। वास्तव में जैसा आ० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, 'हिन्दी साहित्य में समालोचना पहले-पहल केवल गुण-दोष दर्शन के रूप में प्रकट हुई।' उस पर भी तुर्रा यह था कि गुण अपेक्षाकृत रूप से कम बताये जाते थे दोष ही ज्यादा गिनाये जाते थे। स्वाभाविक था, इसके चलते आलोचना न केवल अप्रिय हो बल्कि व्यक्तिगत रागद्वेष की वृद्धि का भी हेतु बने। यह परिणाम दुर्भाग्यजनक है किन्तु उत्तर भारतेन्दु युग की हिन्दी आलोचना में इस अनपेक्षित तत्त्व की उपस्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भारतेन्दु युग की विरासत, आलोचना के क्षेत्र में मुख्यतः पं० बालकृष्ण भट्ट तथा पं० बदरीनारायण चौधरी के प्रयासों तक ही सीमित थी। भाषा सम्बन्धी न्यूनताएँ एवं अशुद्धियाँ, अनुवाद सम्बन्धी त्रुटियाँ आदि ही आलोचकों द्वारा मुख्यतः विवेच्य मानी जाती थीं। पुस्तकों के परिचय भी प्रकाशित होते रहते थे। उर्दू में आजाद के आबेहयात और हाली के शेरोशायरी के मुकद्दमे से आलोचना की भूमि कुछ अधिक विस्तृत हो गयी थी। नवशिक्षित साहित्यकार अंग्रेजी से भी प्रेरणा ग्रहण करने लगे थे। हिन्दी साहित्य के विकास के समानान्तर ही आलोचना के विकास की भी ऐतिहासिक आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था। भारतेन्दु युग के ठीक बाद जिन महानुभावों ने हिन्दी आलोचना को समृद्ध करने का प्रयास किया उनमें पं०

---

१. गुप्त निबन्धावली, पृ० ४२७ (प्र० सं०)।

महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, पं० गोविन्दनारायण मिश्र, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुंदर दास, मिश्रबन्धु आदि प्रमुख हैं। ये विद्वान् भारतेन्दु युग के संस्कारों में पले थे और क्रमशः अपने युग के अनुरूप भारतेन्दु युग को विरासत का विकास कर रहे थे। भाषा सुधार, प्राचीन-नवीन-सत्साहित्य के विस्तृत परिचय द्वारा हिन्दी लेखकों और पाठकों की अभिरुचि का संस्कार, गौरवोज्जवल भविष्य के प्रति दृढ़ आशावाद का प्रचार, नवीन लेखकों को प्रोत्साहन देकर नवीन विषयों का संभार आदि ही उनके प्रधान लक्ष्य थे। अवश्य ही यह कहा जा सकता है कि इतने से ही उच्चकोटि की आलोचना का उत्तरदायित्व पूर्ण नहीं हो जाता किन्तु यह भी सत्य है कि इस दृढ़ नींव के बिना हिन्दी की परवर्ती आलोचना इतनी सक्षम और सशक्त नहीं हो सकती थी।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त मुख्यतः पत्रकार और निबन्धकार थे किन्तु आलोचना के क्षेत्र में भी वे अपने युग के अन्यतम महारथियों में से एक थे। उनकी पहली उपलब्ध आलोचना पं० श्रीधर पाठक के 'ऊजड़ ग्राम' को है जो 'कोहेनूर' (उर्दू साप्ताहिक) में १८८८ ई० में प्रकाशित हुई थी। स्मरण रहे कि उस समय भारतेन्दु के स्वर्गवास को कुल चार वर्ष हुए थे, तथा पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० बदरीनारायण चौधरी की 'संयोगिता-स्वयवर' की सलालोचनाओं को निकले कुल दो वर्ष बीते थे। यह भी उल्लेखनीय है कि डॉ० उदयभानु सिंह के अनुसार पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की कुमारसंभव भाषा की आलोचना १८९६ ई० के आरम्भ में 'काशी पत्रिका' में प्रकाशित हुई थी।'[१] संभवतः यही उनकी लिखी पहली आलोचना थी। इससे यह साफ हो जाता है कि बाबू बालमुकुन्द गुप्त हिन्दी आलोचना की नींव डालने वालों में एक थे।

गुप्तजी के व्यक्तित्व में सफल आलोचक के अनेकानेक गुण थे। वे थे अपने साहित्य के अतीत के मर्मज्ञ, उसके वर्त्तमान के नियन्ता और उसके भविष्य के आस्थावान् रचयिता ! प्रो० आजाद के आबेहयात से अनुप्रेरित होकर वे हिन्दी साहित्य का उसी प्रकार का इतिहास लिखना चाहते थे। उसके लिए उन्होंने सामग्री जुटानी शुरू कर दी थी और 'हिन्दी भाषा की भूमिका' तथा 'हिन्दी भाषा' शीर्षक उनके लेख उस इतिहास के आरम्भिक अंश के प्रारूप समझे जाने चाहिए। सौभाग्य से उन्हें पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा पं० दुर्गाप्रसाद

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ० १३५ (प्र० आवृत्ति)

मिश्र जैसे गुरुतुल्य मार्गदर्शक तथा पं० मदनमोहन मालवीय, पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० श्रीधर पाठक, पं० दीनदयाल शर्मा, पं० माधवप्रसाद मिश्र आदि जैसे धुरन्धर राजनीतिक, साहित्यिक एवं सामाजिक सहयोगी प्राप्त हुए थे। इन सबके साथ निश्चय ही वे अपने समय के हिन्दी साहित्य की गति-विधि का नियंत्रण कर रहे थे। अपने समय में हिन्दी प्रदेश में भारतीय पुन-र्जागरण के पुरोधा ये ही लोग थे। देश की सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक हलचलों से गुप्तजी न केवल परिचित थे बल्कि उनको स्वस्थ रूप देने की चेष्टा करनेवाली शक्तियों के साथ थे। अपने देश के अतीत, वर्तमान और भविष्य से प्रतिबद्ध रहने के कारण ही उनकी रचनाओं में दृढ़ता, शक्तिमत्ता, उदारता तथा रचनात्मकता आ सकी थी। उनका साहित्य-बोध ऊँचे स्तर का था और वे प्रतिष्ठित साहित्यकारों की दुर्बलता तथा नये लेखकों की सबलता को सहज ही रेखांकित कर सकते थे। इसका एक उदाहरण लीजिए। अपने पिता के उल्लेख के अनन्तर अपना परिचय देते समय पं० प्रतापनारायण मिश्र ने एक दोहा लिखा था—'तासु तनय परताप हरि, परम रसिक बुधराज। सुघर रूप सत कवित बिन, जिहिं न रुचत कछु काज।' पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने मार्च १९०६ की सरस्वती में मिश्रजी की जीवनी लिखते हुए इस दोहे के आधार पर मिश्रजी का अपने को 'सुघर रूप' कहना अनुचित समझा। वस्तुतः मिश्रजी ने अपनेको सुघर रूप नहीं कहा था। इस पर गुप्तजीने आत्मा-रामीय टिप्पण 'अपने तौर पर' लिखते हुए इसकी सही व्याख्या यों की थी, 'उसका बेटा प्रताप हरि परम रसिक बुधराज है। जिसे सुघर रूप और सत् कविता के बिना कोई काम नहीं रुचता। प्रताप यह नहीं कहता कि मेरा रूप सुघर है, वरञ्च वह कहता है कि अच्छे रूप और अच्छी कविता के बिना मुझे कुछ नहीं रुचता।"[१] गुप्तजी की यह व्याख्या संगत है और उनके सूक्ष्म साहित्य-बोध का प्रमाण है। अपने मत को युक्तियों से प्रमाणित एवं प्रतिपक्षी की मान्यता को खण्डित करने की क्षमता का प्रदर्शन उन्होंने अनेक बार किया था। जिसको वे सत्य समझते थे उसका निर्भय समर्थन करते थे भले ही उसके लिए उन्हें कितने ही विरोध एवं कष्ट क्यों न सहने पड़ें। हिन्दी बंगवासी के सम्पादन का परित्याग उनकी सहृदयता, सत्यनिष्ठा तथा दृढ़ता का अकाट्य प्रमाण है। किसी भी प्रकार के प्रलोभन से अपने कर्तव्य-पथ से उनके न विचलित होने का एक अन्य पुष्ट प्रमाण यह भी है कि कलकत्ते के मारवाड़ी समाज की खरी, कल्याणकारी आलोचना करने में वे कभी नहीं चूके। वे उन

---

१. गु० नि० पृ० ४९५।

थोड़े से लोगों में थे जिनकी लेखनी कभी नहीं बिकी ! 'पंडित होइ सो हाट न चढ़ा'—जायसी की यह उक्ति उन पर सर्वथा लागू होती थी। उनकी तेजस्विता का कारण यही निर्लोभ वृत्ति थी। वे अपने न्याययुक्त पक्ष में प्रबल आन्दोलन चला सकते थे और उसे इतना शक्तिशाली बना सकते थे कि प्रतिपक्षी को उनकी बात मान लेनी पड़े। व्यक्तिगत स्तर पर विनीत होते हुए भी हिन्दी के स्वाभिमान पर आघात करनेवालों के लिए वे उग्र रूप धारण कर सकते थे। उनके इन गुणों की छाप उनकी आलोचना पर सहज ही देखी जा सकती है।

गुप्तजी की दृष्टि में आलोचना का अर्थ गुणदोष-विचार ही था। उनके युग में उसके विकसित रूप की धारणाएँ सम्भव ही नहीं थीं जिनके अनुसार साहित्यिकों की विशेषताओं और उनकी अन्तःप्रवृत्ति की छानबीन[१] करना या मनोवैज्ञानिक अथवा समाजशास्त्रीय दृष्टि से रचयिता के मानस-विश्लेषण अथवा वर्गगत प्रभाव के विवेचन द्वारा रचना की व्याख्या करना आलोचना का धर्म है। गुप्तजी का मत आलोचना के सम्बन्ध में इस प्रकार था, "अपने बहुत से गुण-दोष मनुष्य बहुत समझदार होने पर भी स्वयं नहीं समझता, समालाचक की लेखनी से जब गुण-दोष प्रगट होते हैं, तब ही वह उसकी समझ में आते हैं; आगे उसे अधिकार है कि चाहे वह उसकी सुनकर नाराज हो या समझ कर लाभ उठावे।[२]" हाँ, यह गुण-दोष-कथन सहानुभूतिपरक, रचनात्मक, निष्पक्ष एवं ईर्ष्या-द्वेष रहित होना चाहिए। स्थान-स्थान पर उन्होंने अपने लेखों में आलोचना के इन गुणों को आवश्यक बताया है और बहुत दूर तक अपनी आलोचनाओं में उनका ध्यान रखा है। आलोचक को अहम्मन्य होकर, अपने को बहुत ऊँचा और लेखक को नीचा समझ कर आलोचना नहीं लिखनी चाहिए, तथा अपनी गलती मान लेने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए, यह उनका सुचिन्तित मत था।[३] लेखक और आलोचक के बीच सहानुभूति और सहयोगिता का भाव ही आलोचना को बहुमूल्य बना सकता है। आलोचना का उद्देश्य किसी को अपदस्थ कर उसकी रचना-शक्ति को कुण्ठित करना नहीं, उसकी त्रुटियों को दूर कर उसे समर्थ लेखक बनने में सहायता पहुँचाना है। नीति और सभ्यता की रक्षा के लिए किये गये शिष्ट विरोध से

---

१. आ० रा० चं० शुक्ल कृत हि० सा० का इ० पृ० ५६२ (सं० २००३ का सं०)।

२. वा० स्मा० ग्रं० के पृ० ११९ पर उद्धृत।

१. गु० नि० पृ० ४३२

आलोचना की रचनात्मकता खण्डित नहीं होती। अपनी इस विचारधारा को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बाबू रामकृष्ण वर्मा के एक पत्र के उत्तर में भारतमित्र में 'आपका उत्साह' शीर्षक लेख में लिखा था, "भारतमित्र-सम्पादक आप ही का नहीं, सब हिन्दी वालों का है। सदा वह सब हिन्दी-प्रेमियों का उत्साह बढ़ाने की चेष्टा किया करता है। हिन्दी वालों का बराबर तरफदार रहता है। उनके छोटे मोटे कोई दोष दिखावे तो उन पर कान भी नहीं धरता। केवल इतना अवश्य करता है कि जो पोथी उसे बुरी, नीति और सभ्यता के विरुद्ध जँचती है, या जिस पोथी से वह हिन्दुओं की हानि देखता है, उसके बनाने वाले को टोक देता है, जिससे वह वैसा करने से बाज रहे। यह बर्ताव उसका सदा सबसे है। अपने मित्रों और तरफदारों की पोथियों में भी उसने कोई दोष देखा तो धीरे से बता देने की चेष्टा की। उसने यदि किसी का मुकाबला किया है तो उसका जो अपनी बड़ाई के लिये दूसरे हिन्दी वालों की बेइज्जती करने आया।"[१] अपने मित्रों की पोथियों का दोष धीरे से बताना शील है, किन्तु उनकी अहेतुक प्रशंसा करना अन्याय है; ठीक उसी तरह शत्रु की पोथी की अहेतुक निन्दा भी अन्याय है। आलोचना अन्याय पर आश्रित न होनी चाहिए। व्याकरण-विचार शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है, "पोथी मित्र की हो या शत्रु की—अपने की हो या बेगाने की, आलोचना उसकी न्याय से होनी चाहिए। यह तो कोई बात नहीं कि मित्र की हो तो उसकी प्रशंसा की जाय और शत्रु की हो तो निन्दा। इतनी अनुदारता लेकर साहित्य के मैदान में कभी आगे न बढ़ना चाहिये। ऐसी दुर्दशा हिन्दी में आलोचना की है।"[२] दुर्भाग्य से उस समय की सामाजिक परिस्थिति के अनुसार विचारकगण निर्णय देते समय वर्ण, धर्म आदि का भी ध्यान रखते थे। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी से हुए आलोचना-समर में गुप्तजी को इसका कटु अनुभव हुआ था। आवेशपूर्ण भाषा में इस मनोवृत्ति का विरोध करते हुए उन्होंने लिखा था, "द्विवेदीजी हों या और कोई, मतलब बात से है न कि लेखक के कुल-शील से और उसके नाम-धामसे। बहस भाषा और व्याकरण की है, चाहे उसे आत्माराम लिखे या भारतमित्र-सम्पादक। चाहे लेखक वर्ण से ब्राह्मण हो या नाई, धार्मिक हो या अधार्मिक। भाषा की बहस में हम तो यही समझते हैं कि धर्म या जाति, स्वर्ग या नरक की जरूरत नहीं है। बात का बात से उत्तर दो, विचार से

---

१. बा० स्मा० ग्रं० के पृ० ११९ पर उद्धृत: यह पूरा लेख न० गु० के पुस्त० में सुरक्षित है।

२. गु० नि० पृ० ४२८

उत्तर दो, बिगड़ने या नाराज होने की कोई जरूरत नहीं है।"[१] आलोचना निष्पक्ष और विचार-सम्मत होनी चाहिए, यह उनका पक्का सिद्धान्त था! केवल एक ही बार वे इसका पूर्णतः पालन नहीं कर सके थे, उसकी चर्चा यथास्थान की जायेगी।

आलोचना करते समय उन्हें कई बार अपने पक्ष के समर्थन के लिए व्यापक सहानुभूति प्राप्त करने की दृष्टि से आन्दोलन भी चलाने पड़े थे। इन आन्दोलनों में उनके समय के अनेकानेक हिन्दी विद्वान उनके पक्ष या विपक्ष में लिखते रहे। गुप्तजी ऐसे आन्दोलनों को सदा शुभ मानते रहे। यह जरूर है कि कभी कभी इनसे व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष को भी बढ़ावा मिलता था, किन्तु यह तो आन्दोलन में भाग लेने वाले व्यक्तियों की दुर्बलता मात्र है, इससे उचित आन्दोलन छेड़ना गलत काम नहीं कहा जा सकता। यह आन्दोलक प्रवृत्ति पत्रकार होने के कारण उनमें अधिक निखरी थी। उनके राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक आन्दोलनों की चर्चा का स्थान यह नहीं है किन्तु इतना कह देना अनुचित न होगा कि उन क्षेत्रों में भी इस दिशा में उन्हें विशेष यश प्राप्त हुआ था। हिन्दी-उर्दू-द्वन्द्व में जिस शानदार तरीके से उन्होंने हिन्दी का समर्थन किया वह अतिशय प्रशंसनीय है। एक लिपि विस्तार के आन्दोलन को भी उन्होंने आगे बढ़ाने की चेष्टा की थी, ब्रज भाषा बनाम खड़ी बोली आन्दोलन में भी वे पड़े थे। आलोचना के क्षेत्र में उनके तीन प्रसिद्ध वाद-विवाद हुए थे जिन्होंने आन्दोलन की शक्ल ले ली थी। इनमें से दो में अर्थात् 'अश्रुमती नाटक' एवं 'शेष का अर्थ' के सम्बन्ध में चलाये गये विवादों में उनकी बात न्यायोचित मान्य हुई थी तीसरे अर्थात् 'भाषा की अनस्थिरता' सम्बन्धी विवाद में भी उन्हें पर्याप्त यश मिला था। इस सम्बन्ध में 'शेष का शेष' नामक लेख में उन्होंने लिखा था, "शेष का झगड़ा बहुत बढ़ा। आजकल हिन्दी भाषा जिस प्रकार पितृमातृहीन बनी हुई है, उससे उसके विषय में इस प्रकार झगड़ा उठना मगल सूचक है। उससे अनेक संशयों की मीमांसा हो जाती है।"[२] इन आन्दोलनों से तत्कालीन हिन्दी साहित्य-सेवियों पर उनका प्रभाव भी प्रमाणित होता है।

गुप्तजी की आलोचनाओं पर विशेष विचार करने के पूर्व उनकी ज्ञात या उपलब्ध आलोचनाओं की कालक्रमिक सूची इस विश्वास के साथ प्रस्तुत की

---

१. गु० नि० पृ० ४३१

२. 'शेष का शेष' न० कि० गु० के पुस्त० में सुरक्षित।

जा रही है कि इससे उनके आलोचक रूप को ठीक-ठीक समझने में सहायता मिलेगी।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त कृत उपलब्ध या ज्ञात साहित्यिक आलोचनाओं की

कालक्रमिक सूची—

(१) पं० श्रीधर पाठक के हरमिट के अनुवाद (एकान्तवासी योगी) की आलोचना—कोहेनूर (उर्दू) के १८८८ के पूर्वार्ध के किसी अंक में प्रकाशित अनुपलब्ध; गुप्तजी के द्वारा ही 'ऊजड़गाम' की आलोचना में इसका संकेत— बा० स्मा० ग्रं० पृ० २५।

(२) पं० श्रीधर पाठक के 'ऊजड़ग्राम' की आलोचना—कोहेनूर के १८८८ के उतरार्ध के किसी अंक में प्रका० उप० बा० स्मा० ग्रं० पृ० २५-२६ पर उद्धृत।

कोहेनूर में हिन्दोस्थान की समालोचना करने का उल्लेख पं० मदनमोहन मालवीय ने २६ अप्रैल १८८६ के पत्र में किया है। (बा० स्मा० ग्रन्थ पृ० २७।) बाबू राधाकृष्ण दास के २३-८-९२ के गुप्तजी के नाम लिखे पत्र से ज्ञात होता है कि उन्होंने 'सती प्रताप' तथा कुछ अन्य पुस्तकें भी गुप्तजी के पास 'भारत प्रताप' (उर्दू सा० पत्र) में समालोचनार्थ भेजी थीं। यह नहीं पता चलता कि उन्होंने 'सती प्रताप' की समालोचना की या नहीं क्योंकि बाबू साहब ने अपने २०-१२-९३ के पत्र में समालोचना करने के लिए पुनः अनुरोध किया था। ये दोनों पत्र बा० स्मा० ग्रं० के पृ० ५५-५६-५७ में प्रकाशित हैं। इससे यह संगत अनुमान किया जा सकता है कि गुप्तजी उन दिनों भी प्रभावशाली समालोचना करते रहते होंगे तभी बाबू राधाकृष्ण दास जैसे प्रतिष्ठित लेखक ने अपनी पुस्तकें उनके पास समालोचनार्थ भेजी थीं।

(३) मडेल भगिनी के हिन्दी अनुवाद 'शिक्षिता हिन्दूबाला' की दोषपूर्ण भाषा के लिए फटकार बतानेवाला लम्बा आलोचनात्मक पत्र, हिन्दी बंगवासी के सम्पादक के नाम। १८९२ ई० अनुप० संदर्भ बा० स्मा. ग्रं. पृ. ६१ हिन्दी बंगवासी के सम्पादक पं० अमृतलाल चक्रवर्ती ने इस पत्र की एक पंक्ति अपने संस्मरण में उद्धृत की है :—"साहित्य की मर्यादा बिगाड़नेवाला वह कौन मनुष्य है जो 'मडेल भगिनी' उपन्यास की मिट्टी खराब कर रहा है।[१]"

बा. स्मा. ग्रं. पृ. २७५; इसी तेजस्वी पत्र के कारण गुप्तजी हिन्दी बंगवासी के सम्पादक बनाये गये थे।

(४) कविता पर कविता (१)—'श्री सुशीलजी' कृत गोल्डस्मिथ की रचनाओं के अनुवाद 'उजाड़ गाँव, साधु तथा यात्री' की आलोचना–इनमें से पहली दो पुस्तकें पं॰ श्रीधर पाठक कृत ऊजड़ ग्राम तथा एकान्तवासी योगी की भद्दी नकल थीं–अतः गुप्तजी द्वारा दोनों की तुलनात्मक आलोचना एवं निष्कर्ष में सुशीलजी को कड़ी फटकार—यह पूर्ण लेख उपलब्ध नहीं—काफी लम्बा अंश बा. स्मा. ग्रं. के पृ० १०३-१०५ में उद्धृत–भा. मि. २१ अगस्त १८९९ ई० ।

(५) कविता पर कविता (२)–श्रीपत्तनलालजी 'सुशील कवि' का उपर्युक्त आलोचना से सम्बन्धित पत्र प्रकाशित कर उस पर पुनः टिप्पणी–पत्तनलालजी द्वारा पुनः उनकी आलो० यह लेख अंशतः बा स्मा. ग्रं. पृ. १०५-१०६ में उद्धृत–पूर्णतः श्री नवलकिशोर गुप्तजी के व्यक्ति. पुस्त. में; भा. मि. १८९९ का उत्तराध या १९०० का आरम्भ (गुप्तजी की कतरनों के रजिस्टर में पं० झाबरमल्ल शर्मा की टिप्पणी–१९०० की कतरनें) गुप्तजी के द्वारा अपना समर्थन किये जाने से उत्साहित होकर पण्डित श्रीधर पाठक ने ट्रैवेलर का अनुवाद श्रान्तपथिक के नाम से किया ।

(६) बूढ़े वृक्ष का फल । कामशास्त्र के लेखक लाला शालिग्राम वैश्य को कड़ी समालोचना, भा. मि. ५ फरवरी १९०० अनुप.; बा. स्मा. ग्रं० पृ० १११ में संकेतित ।

(७) सुन री सरस्वती—सरस्वती की भाषा सं. कुछ भूलों की आलोचना—भा. मि. १९०० ई. उप. न. गु. के पुस्त. में सु.

(८) शेष का अर्थ—शेष का अर्थ समाप्त या अन्त भी होता है, इसको प्रमाणित करने के लिए लिखित—भा. मि. ३० जुलाई १९०० आंशिक रूप से उप. बा. स्मा. ग्रं. पृ. ११४-११५

(९) शेष का शेष—शेष सं० विवाद का समाहार—प्रतिपक्षी की प्रशंसा भी भा. मि. १९०० ई. उप., न. कि. गु. के पुस्त. में सु.

(१०) हिन्दी में उपन्यास—भा. मि. २०-४-१९०१, न. कि. गु. के पुस्त. में सु.

(११) नायिका भेद—कविता में शृंगार रस, तुक, अनुप्रास आदि पर विचार–भा. मि. २० जुलाई १९०१ उप. न. कि. गु. के पु. में सु.

(१२) चाहते हैं सो होता नहीं—तुक, यमक आदि की उपयोगिता का समर्थन—भा. मि. ७ सितम्बर १९०१ उप., न. कि. गु. के पुस्त. में सु.

(१३) अश्रुमती नाटक—श्री ज्योतिरिन्द्रनाथ टैगोर के बंगला नाटक की कड़ी समालोचना—भा. मि. १९०१ (गु. नि. में मुद्रित)

(१४) अश्रुमती कर्त्ता का प्रतिवाद तथा आनन्द समाचार—गुप्तजी की आलोचना पढ़कर श्री टैगोर ने दो पत्र लिखे—एक में कलात्मक दृष्टि से अपना समर्थन किया दूसरे में ऐतिहासिक दृष्टि से अपनी भूल स्वीकार कर क्षमायाचना की वे पत्र और उन पर गुप्तजी की टिप्पणी भा. मि. ५ अक्टूबर (१९०१) न. कि. गु. के पुस्त. में सु.

(१५) सामायिक साहित्य स्तम्भ के अन्तर्गत सरस्वती के अक्टूबर १९०१ के अंक की आलो.—भा. मि. १९०१ न. कि. गु. के पुस्त. में सु.

(१६) सा. सा. स्तम्भ के अन्त 'तुलसी सुधाकर' की आलोचना भा. मि. १९०२ ई. गु. नि. में मुद्रित

(१७) सा. सा. स्तम्भ के अन्त. 'समालोचक पर सरस्वती'—समालोचक (पत्र) की अनुचित आलोचना के लिए सरस्वती की आलोचना—भा. मि. १९०२ न. कि. गु. के पुस्त. में सु.

(१८) सरस्वती की नाराजी—सरस्वती की आलो. (न. कि. पु. के पुस्त में सु.) भा. मि. १९०२ ई.

(१९) 'हिन्दी प्रदीप' की प्रशंसा पर एक छोटा सा नोट (न. कि. गु. के पुस्त. में सु.) भा. मि. १९०३ ई.

(२०) सा. सा. के स्तम्भ में 'सरस्वती' की पुनः आलोचना—इसी अंक से पंडित म. प्र. द्विवेदी सरस्वती के सम्पादक हुए थे। ३१ जनवरी १९०३ गद्य रचनाओं की प्रशंसा करते हुए भी 'सरस्वती का विनय' नामक कविता की त्रुटियों की चर्चा। (न. कि. गु. के पुस्त. में सु.)

(२१) उक्त कविता के समर्थन में लिखे पं. गंगाप्रसाद अग्निहोत्री के लेख का उत्तर (न. कि. गु. के प्रस्त. में सु.) (१९०३)

(२२) सरस्वती के 'साहित्य समालोचना' चित्र की आलोचना भा. मि. २५ (अनुप. गु. नि. के पृ. ५२८ में संकेतित) अप्रैल १९०३

(२३) श्री सत्यनारायण कविरत्न की कविता पर प्रशंसात्मक टिप्पणी—२५-५-१९०३ (बा. स्मा. ग्रं. ने पृ. २०१ पर उद्धृत)

(२४ प्रवासी की आलोचना—१९०३ ई.

(२५ बँगला साहित्य—१९०६ ई.

(गु. नि. में मुद्रित, प्रवासी द्वारा हिन्दी साहित्यिकों पर चोरी का अभियोग लगाने पर इन दोनों लेखों में बँगला के साहित्यिकों द्वारा अन्य भाषाओं के ग्रन्थों के भावों के अपहरण के प्रमाण—

(२६) तारा उपन्यास—पं० किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास की आलोचना १९०३ ई. (गु. नि. में मुद्रित)

(२७) साहित्य सेवा—सुदर्शन में प्रका. किसी साहित्यसेवी के लेख का उत्तर—१९०३ या १९०४ ई. (न. कि. गु. के पुस्त. में सु.)

(२८) नन्ददास की रासपंचाध्यायी और भँवरगीत की भूमिका—सन् १९०४ ई. (बा. स्मा. ग्रं. के पृ. १५८-१६१ में उद्धृत)

(२९) हिन्दी साहित्य—हिन्दी साहित्य की हँसी उड़ाने वाले किन्हीं मि. शुक्ला के ऐडवोकेट में प्रकाशित लेख की कड़ी भर्त्सना—(न. कि. गु. के पु. में सु.) १९०५ ई.

(३०) सामयिक साहित्य स्तम्भ के अन्तर्गत मुंशी देवीप्रसाद मुन्सिफ द्वारा सम्पादित महिला मृदुवाणी का प्रशंसात्मक परिचय—(न. कि. गु. के पुस्त. में सु.) १९०५

(३१) तजकिरह आसारूस् शोराये हुनूद—मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ के द्वारा संगृहीत—उर्दू के हिन्दू कवियों के कविता-संकलन का प्रशंसात्मक परिचय (न. कि. गु. के पुस्त. में सु.) १९०५ ई.

(३२) तहजीबुल इस्लाम—मियाँ अब्दूल गफूर (उर्फ धर्मपाल द्वारा कृत 'इस्लाम' की कड़ी आलोचना का परिचय धर्मपालजी की प्रवृत्ति से असहमति (न. कि. गु. के पुस्त. में सु.) १९०५ ई.

(३३) अधखिला फूल—पं अयोध्या सिंह उपाध्याय के उपन्यास की आलोचना (गु० नि० में मुद्रित) १९०५ ।

(३४) मुन्शी पीताम्बरप्रसाद की कविता पर प्रशंसात्मक टिप्पणी—१९०६ (बा० स्मा० ग्रं० में पृ० १९९ पर उद्धृत) ।

(३५-४४) 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक लेखमाला—दिसम्बर (?) १९०५ से ३ फरवरी १९०६ तक। (गु० नि० में मुद्रित)।

(४५-४६) आत्मारामीय टिप्पण—(गु० नि० में मुद्रित) १९०६।

(४७) व्याकरण विचार— (,,) १९०६।

(४८-५४) हिन्दी में आलोचना शीर्षक लेखमाला-

(गु० नि० में मुद्रित)

(१) हिन्दी में आलोचना १९०६
(२) ईर्ष्या द्वेष १९०६
(३) नेक नजर और नेकनीयती १९०६
(४) नेक नजर और नेकनीयती १९०६
(५) नेक नजर और नेकनीयती १९०६
(६) आत्मारामकी आलोचना १९०६
(७) कुछ नमूने १९०६

(५५) भाषादानी की सनदात
(५६) वाक्य का विचार
(५७) आत्मारामीय टिप्पण
(५८) आत्मारामी नोट

ये चारों रचनाएँ भी 'भाषा की अनस्थिरता' सम्बन्धी आंदोलन से संबद्ध एवं भारतमित्र में १९०६ प्रकाशित हैं गुप्त निबंधावली में संगृहीत नहीं—किन्तु न. कि. गु. के पुस्त. में सु०

(५९) आपका उत्साह

बाबूरामकृष्ण वर्मा के एक पत्र का उत्तर—

(न० कि० गु० के पुस्त० में सु०) १९०६

(६०) आदर्श सुरुचि—

म. प्र. द्वि. की कविता प्रियंवदा की आलोचना

(न० कि० गु० के पुस्त० में सु०) १२-१-१९०७

(६१) हिन्दुस्तानी जवानों की शायरी—

नागरी अक्षरों के अपनाने से भारतीय कवियों की रचनाओं का रसास्वादन आसानी से संभव। (न० कि० गु० के पुस्त० में) १९०७

(६२) गुलशने हिन्द—

उर्दू कवियों की जीवनियों का संग्रह—उसकी भूमिका की ही चर्चा (गु० नि० में मुद्रित) १९०७

खेद है कि 'अखबारे चुनार', 'कोहेनूर' 'हिन्दोस्थान', 'भारत प्रताप', 'हिन्दी बंगवासी', 'जमाना', आदि की फाइलें कलकत्ते में उपलब्ध न होने के कारण उन पत्रों में प्रकाशित गुप्तजी की आलोचनात्मक रचनाओं की चर्चा नहीं की जा सकी। भारतमित्र की भी फाइल नहीं मिल सकी। श्री नवलकिशोरजी गुप्त के यहाँ सुरक्षित उसकी कुछ कतरनों का ही उपयोग किया जा सका। हमारा विश्वास है कि गुप्तजी ने और भी अनेक आलोचनाएँ लिखी होंगी। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का अनुमान था कि गुप्तजी ने ही रामभजराम के नाम से खिलौना की उनकी आलोचना के विरुद्ध लेख लिखा था (गु० नि० पृ० १२१) गुप्तजी ने इसे स्वीकार नहीं किया किन्तु शैली से लगता है कि यह लेख गुप्तजी का हो सकता है। इसका महत्वपूर्ण अंश गुप्त निबन्धावली के पृ० ५१९-२० में उद्धृत है। बालमुकुन्द स्मारक ग्रन्थ के १५८वें पृष्ठ पर संकेम मिलता है कि गुप्तजी ने पं० अम्बिकादत्त व्यास के बिहारी बिहार की आलोचना की थी। इस संकेत में काल का निर्देशन नहीं है अतः उसे भी उक्त सूची में सम्मिलित नहीं किया जा सका। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के एक पत्र से अनुमान किया जा सकता है कि १८९९ या उसके पूर्व यह आलोचना निकल चुकी थी।[1] इस सूची में हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार या विकास-सूचक वे लेख नहीं लिए गये हैं जिनका सीधा सम्बन्ध आलोचना से नहीं है। इसी तरह यद्यपि डा० नत्थन सिंह ने अपने शोध-प्रबन्ध में 'आलोचक बालमुकुन्द गुप्त' की चर्चा करते हुए उनके लिखे साहित्यिकों के जीवनचरितों को भी आलोचना में ही शामिल कर लिया है, तथापि इस विचार को युक्तियुक्त न समझने के कारण हमने ऐसा नहीं किया है और इस सूची में उन जीवनचरितों को भी स्थान नहीं मिला है। हमारी समझ में इन जीवन चरितों में साहित्यिक आलोचना की दृष्टि नहीं है, अतः उनका विचार अलग करना ही उचित होगा।

---

१. बा० स्मा० ग्रं० पृ० १२४-२५।

१८८८ ई० में लिखी 'ऊजड़ ग्राम' की आलोचना से १९०६ में लिखी 'भाषा की अनस्थिरता' सम्बन्धी लेखमाला की तुलना करने पर ज्ञात होगा कि गुप्तजी की शैली और दृष्टि में कितनी परिपक्वता आयी थी। इस विकास से यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि ४२ वर्ष की अल्पायु में ही यदि उनका निधन न हो गया होता तो, निश्चय ही वे आलोचक के रूप में भी कहीं अधिक गौरवपूर्ण स्थान के अधिकारी होते।

गुप्तजी की समस्त आलोचनाओं को इन तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, (१) परिचयात्मक आलोचना (२) विषयवस्तु सम्बन्धी आलोचना (३) भाषा सम्बन्धी आलोचना। वस्तुतः ये वर्ग आत्यन्तिक नहीं कहे जा सकते। साधारणतः किसी भी आलोचना में इन तीनों अंशों का समाहार हो सकता है, किन्तु गुप्तजी की आलोचनाओं को देखने से स्पष्ट हो जायेगा कि उनकी आलोचनाओं में, कुछ में तो रचनाओं का साधारण परिचय मात्र देकर लेखक के उद्देश्य के प्रति सहमति या असहमति प्रकट की गयी है, कुछ में जम कर विषयवस्तु का विचार किया गया है और कुछ में भाषा की ही मुख्यतः चर्चा की गयी है। अतः उनकी आलोचनाओं का वर्गीकरण करते समय इन्हीं तीन तत्त्वों को आधार के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

परिचयात्मक आलोचना

भारतेन्दु के समय से ही पत्र-पत्रिकाओं में ग्रंथों की परिचयात्यक आलोचना की परिपाटी चल निकली थी। भारतमित्र की कतरनों को देखने से ज्ञात होता है कि 'सामयिक साहित्य' स्तम्भ के अन्तर्गत सद्यः प्रकाशित पुस्तकों, पत्रिकाओं या फुटकर रचनाओं की भी समालोचना प्रकाशित की जाती थी। इन आलोचनाओं में पुस्तक का संक्षिप्त परिचय, अपना अभिमत, ग्रन्थकार के लिए कुछ सुझाव हुआ करते थे। ऐसी आलोचनाओं में प्रमुख हैं, 'ऊजड़ ग्राम' 'तुलसी सुधाकर' हिन्दी प्रदीप, सरस्वती, महिला मृदुवाणी, तजकिरह आसारुस् शोरायेहुनूद, तहजीबुल इस्लाम, अधखिला फूल और गुलशने हिन्द पर लिखी गयी आलोचनाएँ। सत्यनारायण कविरत्न एवं मुंशी पीताम्बरप्रसाद आदि पर लिखी गयी शुभाशंसात्मक टिप्पणियाँ भी इन्हीं के अन्तर्गत आयेंगी। गुप्तजी के अभिमत एवं सुझाव, एक तरफ तो उनकी रुचि को स्पष्ट करते हैं, दूसरी तरफ लेखकों के प्रति उनके सहानुभूतिपरक एवं रचनात्मक-दृष्टिकोण को! यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जिस प्रकार उर्दू पत्र कोहेनूर में उन्होंने हिन्दी कविता पुस्तक 'ऊजड़ ग्राम' की आलोचना की थी, उसी प्रकार हिन्दी के भारतमित्र में तजकिरह आसारुस् शोराये हुनूद तथा गुलशने हिन्द

जैसी उर्दू पुस्तकों की भी प्रशंसात्मक आलोचना प्रकाशित की थी। बँगला के अश्रुमती नाटक एवं प्रवासी पत्र की आलोचना भी उन्होंने लिखी थी। वस्तुतः हिन्दी, उर्दू, बँगला, संस्कृत और अंगरेजी साहित्य के अनुशीलन ने उनकी दृष्टि को विशाल भी बनाया था और उदार भी। इन परिचयात्मक आलोचनाओं में भी गुप्तजी की सहृदयता और स्पष्टभाषिता की पर्याप्त झलक मिलती है। ऊजड़ ग्राम की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा था, "तर्जुमे की हिन्दी आलादर्जे की मीठी है। खूबी यह है कि लफ्ज-लफ्ज तर्जुमा है और फिर इतना साफ है कि अगर असल किताब की खूबसूरती देखी जाय तो इससे ज्यादा नहीं है और अगर श्रीधरजी अपने ही खयालात को अदा करते तो भी इससे उम्दा न कर सकते थे।"[१] ऊजड़ ग्राम की प्रशंसा केवल भाषा की मिठास और अभिव्यंजना की कुशलता के ही लिए नहीं, विषय की नवीनता और उपयुक्तता के लिए भी करते हुए उन्होंने उर्दू कवियों को सलाह दी थी कि वे भी इसी प्रकार 'नेचरल नजारों की तरफ फर्जी खयालात को तर्क करके मुतवज्जह होंगे।"

तुलसी सुधाकर की जो बात उन्हें सबसे ज्यादा खटकी थी वह थी उसकी क्लिष्टता। गुप्तजी सरल स्वभाव, सरल जीवन और सरल अभिव्यंजना के पक्षपाती थे। अतः 'महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी जी जैसे प्रवीण विद्वान' की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा, "हमारा यह भी अनुमान था कि कुण्डलियाँ लिखकर सुधाकर जी महाराज तुलसी सतसई को सरल कर देंगे। वह बात उलटी निकली...तुलसी ने जहाँ कोई बड़ा कूट दोहा लिखा है, सुधाकरजी महाराज ने वहाँ महाकूट कुण्डलियाँ बनाई हैं। कहीं-कहीं तुलसी का दोहा सरल है, वहाँ भी सुधाकरजी टेढ़े चले हैं।"[२] साथ ही वे सुधाकर जी की विद्वत्ता की प्रशंसा भी करते हैं क्योंकि उनके मतानुसार "तुलसी सतसई बड़ी विकट है। यह सुधाकर जी का ही काम है कि उन्होंने उसका अर्थ समझा है।" प्रशंसा के स्थान पर प्रशंसा और असहमति के स्थान पर असहमति व्यक्त करने का कार्य उन्होंने अनेकों के संबंध में अनेकों बार किया है। नवीन लेखकों को प्रोत्साहन देने के साथ-साथ दिशा निर्देश का ढंग गुप्तजी का अपना था। श्री सत्यनारायण कविरत्न की कविता प्रकाशित करते समय उन्होंने उस पर जो टिप्पणी लिखी थी उससे उनकी इस प्रवृत्ति का अच्छा

---

१. वा. स्मा. गृ.—पृ. २५।
२. गु. नि.—पृ. ५५३-५४।

परिचय मिलता है। टिप्पणी यों है "यह एक बालक की कविता श्रीयुक्त पं० श्रीधर पाठक की मारफत हमारे पास पहुँची है बालक तबियतदार है। यदि अभ्यास करेगा तो भविष्य में अच्छी कविता कर सकेगा। अपनी तरफ से हम इतना ही कहते हैं कि भाषा जरा वह और साफ करे। कुछ नये ढंग की कविता में अभ्यास बढ़ावे, क्योंकि जिस ढंग को यह कविता है वैसी हिन्दी में बहुत अधिक और उत्तम से उत्तम हो चुकी है।"[१]

गुप्तजी का मुख्य कार्य हिन्दी के आधुनिक साहित्य के क्षेत्र में ही था किन्तु मध्यकालीन साहित्य विशेषतः भक्ति साहित्य के वे बड़े प्रशंसक थे। मानस और सूरसागर का तो नित्य पाठ ही करते थे। भक्ति साहित्य के प्रति उनका अनुराग नन्ददास की रासपंचाध्यायी और भँवरगीत की भूमिका से ज्ञात होता है। भारतमित्र के पाठकों को रासपंचाध्यायी और भँवरगीत उपहार में देते हुए भूमिका में नन्ददासजी का संक्षिप्त परिचय देकर उन्होंने प्राचीन काव्य ग्रन्थों के शुद्ध पाठ के उद्धार की समस्या की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था, साथ ही नन्ददासजी की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा भी की थी।

विषयवस्तु सम्बन्धी आलोचना

गुप्तजी मर्यादा के उपासक थे अतः यदि कभी उन्हें लगता था कि कोई लेखक सस्ती ख्याति के लिए गैर-जिम्मेदार ढंग से नैतिक औचित्य का उल्लंघन कर रहा है तो वे उस पर पूरी शक्ति से प्रहार करते थे। हिन्दुत्व पर लांछन लगाने का प्रयास हो या अश्लीलता के प्रचार की कुचेष्टा, साहित्यिक चोरी हो या हिन्दी के गौरव पर आघात; व्यक्तिगत राग-द्वेष का प्रकाशन हो या किसी मान्य धर्म का अपमान, गुप्तजी के लिए ये सब और ऐसी बातें असह्य थीं। उन्होंने ऐसे ग्रंथों या लेखों का उग्र विरोध किया था। साथ ही साहित्य को स्वस्थ नवीन दिशा की ओर उन्मुख करनेवालों का समर्थन भी किया था। इस वर्ग की आलोचनाओं में उनकी सर्वाधिक शक्तिमती आलोचना थी अश्रुमती की। कवीन्द्र रवीन्द्र के बड़े भाई श्री ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने नाटक अश्रुमती में महाराणा प्रताप की कल्पिता कन्या अश्रुमती का सलीम के प्रति प्रेमभाव वर्णित किया था। अश्रुमती का सम्पूर्ण चरित्र हिन्दुत्वनिष्ठ गुप्तजी को नितान्त कलंकपूर्ण लगा और वस्तुतः महाराणा प्रताप की ज्वलन्त हिन्दूनिष्ठा को उनकी कल्पिता कन्या अश्रुमती के उन्मत्त प्रेम द्वारा कलुषित करने का ठाकुर महाशय का प्रयास अत्यन्त आपत्तिजनक था। गुप्तजी ने

१. बा. स्मा. ग्र.—पृ. २०१।

इसके हिन्दी अनुवाद की आलोचना हिन्दी बंगवासी में की थी जिसे पढ़कर अनुवादक मुंशी उदितनारायणजी ने अनुवाद की समस्त प्रतियाँ गगाजी में फेंक दी थी। १६०१ में गुप्तजी ने भारतमित्र में मूल बँगला नाटक की उग्र आलोचना की। भावुकतापूर्ण आवेश और तर्किकता का जैसा मणिकांचन संयोग इस आलोचना में हुआ वैसा उनको अन्य किसी आलोचना में नहीं हुआ। इस आलोचना मे प्रकट भावात्मक आवेश का एक उदाहरण देखिये, "हम बंग देश के पढ़े लिखे लोगों से पूछते हैं कि इस पुस्तक को पढ़कर बंगदेश की लड़कियों को क्या शिक्षा मिलेगी और आप सब बंगाली लोग न्याय से कहें कि आप ही को उससे क्या उपदेश मिला ! इस पुस्तक के पढ़ने से आपकी गर्दन नीची होती है या ऊँची ? बंग साहित्य में यदि ऐसी पुस्तकें बढ़ें तो उस साहित्य का मुँह काला होगा कि नहीं ? जिस पुस्तक का नाम कुछ और मोटो कुछ और है तथा मोटो कुछ और उद्देश्य कुछ और है, वह साहित्य में घोर कलंक की वस्तु है या नहीं ?"[१]

इसी आलोचना में उन्होंने एक और गंभीर प्रश्न उठाया था कि ऐतिहासिक महापुरुषों के चरित और स्वरूप को कलंकित करनेवाली कल्पना का साहित्य में क्या स्थान हो सकता है ? ऐतिहासिक नाटकों या उपन्यासों की रचना के पूर्व लेखक को अपने विषय से सम्बद्ध इतिहास और भूगोल का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना चाहिए या नहीं ? अश्रुमती के कथानक से प्रचुर उद्धरण देकर गुप्तजी ने सिद्ध कर दिया कि इस नाटक की कथा तथा उसका देशकाल चित्रण सर्वथा इतिहास विरुद्ध अतः निन्दनीय है। अपना निर्णय देते हुए गुप्तजी ने लिखा, "दुःख है कि अश्रुमतीकार मेवाड़ और राजपूतों के विषय में कुछ भी नहीं जानता, किन्तु नाटक लिखने बैठ गया। वह जानता नहीं कि अश्रुमती प्रताप की लड़की तो क्या, किसी राजपूत—यहाँ तक कि किसी हिन्दुस्तानी की लड़की का भी नाम नहीं होता। मेवाड़ के वन-पर्वत-जंगल-झीलों के विषय में उक्त ग्रन्थकार कुछ भी नहीं जानता। इसीसे उसने बड़ी ऊटपटांग बातें लिखी हैं। अपनी आलोचना के अन्त में गुप्तजी ने लेखक से प्रार्थना की कि अब अपनी इस पोथी का छापना बन्द कीजिये और जो पोथी छपी हुई बाकी है, उन्हें फूंक-जलाकर उनकी राख गंगाजी में फेंक दीजिये।"

गुप्तजी की इस तेजस्वी आलोचना का अनुकूल परिणाम हुआ। श्री ज्योतिरिन्द्र नाथ ठाकुर ने दो पत्र इस आलोचना के सम्बन्ध में लिखे। पहले पत्रमें

---

१. गु. नि.—पृ. ५४६।

उन्होंने कला की दृष्टि से अपने कथानक का समर्थन किया था किन्तु दूसरे पत्र में गुप्तजी की आलोचना को न्याययुक्तता को स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा कि "आपके द्वारा संकेतित विचार पहले मेरे ध्यान में नहीं आया था किन्तु अब जब आपने जनता के समक्ष मुख्यत: कल्पित रचना के रूप में उपस्थित किये जाने वाले नाटक में कुछ राजपूत वीरों के नामों के आने की अवांछनीयता की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया है, मैं निश्चय ही आपके द्वारा प्रस्तावित पहले या दूसरे विकल्प को कार्यान्वित करने के लिए कदम उठाऊँगा।"[१] गुप्तजी ने अपने लेख में सुझाव दिया था कि या तो इस नाटक से महाराणा प्रताप सिंह, आदि के नाम हटा दिये जायें या इसका प्रचार बन्द कर दिया जाये। ज्योतिरिन्द्र बाबू के पत्र के अन्त में इन्हीं दो विकल्पों की ओर संकेत है। गुप्तजी ने ५ अक्टूबर १९०१ के भारतमित्र में 'अश्रुमती कर्त्ता का प्रतिवाद तथा आनन्द समाचार' नाम से उक्त दोनों पत्र छाप दिये और ठाकुर महाशय को अपनी भूल स्वीकार करने के लिए धन्यवाद भी दिया। इस सम्बन्ध में एक गुत्थी उलझी रह गयी है। पं० झाबरमल्ल शर्मा ने बा. स्मा. ग्रं. के पृ. १११ पर लिखा है कि "गुप्तजी की आलोचना के प्रभाव से भारत जीवन के मालिक बाबू रामकृष्ण वर्मा जी की प्रकाशित और बंगभाषा से अनूदित 'चित्तौड़चातकी' एवं 'अश्रुमती' नाम की दो पुस्तकों के विरुद्ध हिन्दी जगत् में ऐसा आन्दोलन हुआ कि दोनों पुस्तकें गंगाजी में प्रवाहित करनी पड़ी थीं।" आ. रा चं शुक्ल ने भी अपने हिं. सा. के इ. के पृ. ४९७ पर बा० रामकृष्ण वर्मा द्वारा अनूदित चित्तौड़चातकी के सम्बन्ध में लिखा है कि "यह पुस्तक चित्तौर के राजवंश की मर्यादा के विरुद्ध समझी गई और इसके विरोध में यहाँ तक आन्दोलन हुआ कि सब कापियाँ गंगा में फेंक दी गई।" दिक्कत यह है कि गुप्तजी की 'चित्तौड़चातकी' पर कोई आलोचना नहीं मिलती। डा० नत्थन सिंह ने अपने शोधग्रन्थ गद्यकार बाबू बालमुकुन्द गुप्त जीवन और साहित्य के पृ. १३२ पर भारतमित्र में प्रकाशित आलोचनाओं की चर्चा करते हुए लिखा है "इनके अतिरिक्त भारतजीवन के मालिक बाबू रामकृष्ण वर्मा द्वारा बंगला से अनूदित चित्तौड़ की चातकी या अश्रुमती नाटक की आलोचना" भी भारतमित्र के २८ सितम्बर सन् १९०१ के अंक में हुई थी। २८ सितम्बर १९०१ के भारतमित्र की कतरन हमें देखने

---

१. गु. नि. पृ. ५५०

२. बा. स्मा. गं. पृ. ११२ पर उद्धृत अंग्रेजी पत्र के एक अंश का अनुवाद।

को नहीं मिली किन्तु ५ अक्टूबर १९०१ के अंक में 'अश्रुमतीकर्त्ता का प्रतिवाद तथा आनन्द समाचार' शीर्षक लेख छपा है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि २८ सितम्बर का लेख अश्रुमती सम्बन्धी ही होगा। सवाल है क्या 'चित्तौड़चातकी' और अश्रुमती एक ही पुस्तक के दो नाम हैं या वे दो पुस्तकें थीं ? गुप्तजी ने अश्रुमती के अनुवादक का नाम मुंशी उदितनारायण लाल लिखा है अतः अश्रुमती के क्या हिन्दी में दो अनुवाद हुए थे ? आवश्यक सामग्री के अभाव में ये प्रश्न अमीमांसित रह गये हैं।

श्री किशोरीलाल गोस्वामी के तारा उपन्यास का विरोध भी गुप्तजी ने उसकी मर्यादाहीनता के कारण ही किया था। अपनी भानजी का विवाह एक मुसलमान से करने की अर्जुन की कामना की तथा दारा जहाँनारा के भाई बहन होकर भी अत्यन्त निकृष्ट कोटि के कामुकतापूर्ण वार्तालाप करने की तीव्र भर्त्सना के बाद गुप्तजी ने चेतावनी दी थी "हम नागरी प्रचारिणी सभा को सावधान करते हैं कि यदि सचमुच वह हिन्दी की उन्नति चाहती है तो सबसे पहले तारा पढ़े और गोस्वामीजी महाराज को उनकी पुस्तक के गुणदोष समझावे कि वह कैसा गन्दा और भयानक काम कर रहे हैं।"[१]

सुदर्शन में किसी 'साहित्यसेवी' ने एक लेख लिख कर हिन्दुओं की धर्म पुस्तकों से यौन उच्छृङ्खलता के उदाहरण दिये थे और प्रकारान्तर से आधुनिक उपन्यासों की यौन उच्छृङ्खलता का समर्थन किया था। उसका करारा जवाब गुप्तजी ने 'साहित्य सेवा' नामक लेख लिखकर दिया था। उपन्यासों में यौन उच्छृंखलता के चित्रण का विरोध करते हुए उन्होंने उक्त साहित्यसेवियों को यों फटकारा था, "साहित्यसेवी चाहे कोई हो पर अवश्य वह अपने को उपन्यास लेखक समझता है और अवश्य ही उसने गोस्वामी किशोरीलाल का सा कोई गन्दा उपन्यास लिखा है। उस गन्दे उपन्यास की हिमायत के लिए ही उसने रामकृष्ण वर्मा के नाम का सहारा ढूँढ़कर यह वेदशास्त्रों की निन्दा की है।"[२] इसी लेख में उन्होंने अश्लीलता का बड़ा समीचीन विवेचन किया था। गुप्तजी के मतानुसार "अश्लील वह बात होती है जो स्त्री-पुरुषों में अयोग्य विकार को उत्पन्न करे किंवा जो दुर्वासना से ग्राम्य शब्दों में कही जाय, वैद्यक, डॉक्टरी, धर्मशास्त्र आदि की विद्या सम्बन्धी बातें इसलिए अश्लील नहीं कि

१. गु. नि. पृ. ५६४

२. साहित्य सेवा न. कि. गु. के पुस्त. में सु.

उनमें उक्त लक्षण का समन्वय नहीं हो सकता।"[1] अश्लीलता लेखक की दुर्वासनापूर्ण दृष्टि से उत्पन्न होती है और अयोग्य विकार उत्पन्न करती है, अश्लीलता का यह लक्षण आज भी माननीय है। तुलसीभक्त गुप्तजी का यह मर्यादापूर्ण आदर्शवाद केवल श्लील-अश्लील की सीमा तक ही नहीं अँटका रह गया, साहित्य के विविध क्षेत्रों में प्रतिफलित हुआ।

इसी मर्यादावाद के चलते उन्होंने साहित्यिक चोरी करनेवालों को फटकारा था, चाहे वे 'सुशील कवि' हों, चाहे बाबू गंगाप्रसाद गुप्त। हिन्दी के कई लेखक बंगला या अंग्रेजी ग्रंथों की नकल करते थे, यह एक दुःखद सत्य था और ऐसा करने के कारण गुप्तजी स्वयं उन लेखकों की भर्त्सना करते रहते थे। किन्तु जब इसी बात को लेकर 'प्रवासी' ने हिन्दी लेखकों का उपहास किया तो हिन्दी के अभिमानी गुप्तजी को वह असह्य हो गया। उन्होंने 'प्रवासी की आलोचना' तथा 'बंगला साहित्य' लेख लिख कर सिद्ध कर दिया कि बंगला के वंकिम बाबू, दीनेन्द्रकुमार राय, उपेन्द्रनाथ मुकर्जी, प्रियनाथ मुकर्जी जैसे प्रतिष्ठित लेखक भी अंग्रेजी और फ्रांसीसी पुस्तकों की नकल बिना उनके नाम दिये किया करते हैं। साथ ही यह भी लिखा "पर इन सब बातों के लिखने से हमारा यह मतलब नहीं कि हिन्दीवाले बंगला किताबों का तरजुमा किया करें और असली ग्रन्थकर्ताओं का नामोनिशान न दिया करें और न उनसे तरजुमा करने की अनुमति लिया करें। वरंच हम यही दिखाना चाहते हैं कि जो दोष हिन्दी अनुवादकर्त्ताओं में आ गये हैं, वह बंगला लेखकों में भी हैं। आशा है कि प्रवासी उस ओर भी ध्यान देगा।"[2] इसी प्रकार जब किसी मि० शुक्ला ने 'ऐडवोकेट' नामक अंग्रेजी पत्र में हिन्दी पत्रकारों और साहित्यकारों की हँसी उड़ाते हुए उन पर चोरी एवं अयोग्यता का आरोप लगाया था तब भी गुप्तजी का हृदय तिलमिला उठा था। स्वाभिमान के साथ-साथ आत्मविश्वास का परिचय देते हुए उन्होंने 'हिन्दी साहित्य' नामक लेख में लिखा, "यदि उनका एक भी दावा सच है तो दूसरे कागज को क्यों भारतमित्र ही को लें और उसमें ऐसे लेख दिखाते चलें जिनमें सम्पादक ने अपनी योग्यता को भूल कर बुलहवसी से काम लिया हो। अथवा उसमें ऐसे लेख लिखे गये हों जिनके विषय को लेखक स्वयं भलीभाँति न जानता हो।········हिन्दी साप्ताहिकों में ऐसे पत्र हैं जिनमें पुराने नामी ग्रेजुएट लिखते हैं। वह मुकाबिले में अपने देश

---

१. वही।

२. गु. नि. पृ. ५६१।

की किसी भाषा के किसी पत्र से किसी बात में कम नहीं हैं। इतने पर भी यदि शुक्ला साहब सन्तुष्ट नहीं हैं तो स्वयं हिन्दी में अच्छी-अच्छी किताबें लिखें और अपने उन मित्रों से लिखवाएँ जो आपकी समझ में फाजिल और लायक हों। अङ्ग्रेजी कागजों में घर की नालायकी का परिचय देने क्यों जाते हैं?" हीनता-ग्रन्थि से ग्रस्त व्यक्ति केवल ध्वंसात्मक आलोचना करके अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण देना चाहते थे। गुप्तजी उनमें आत्मविश्वास का भाव जगाकर उन्हें रचनात्मक कार्य करने के लिए ललकारते थे।

पाखण्ड का प्रचार करनेवाले ला० शालिग्राम वैश्य को जिस प्रकार उन्होंने फटकारा था उसी प्रकार घृणा का प्रचार करनेवाले मियाँ अब्दुलगफूर बी० ए० उर्फ धर्मपाल का भी विरोध किया था। शालिग्रामजी का दावा था कि स्वप्न में सिद्धमहात्मा गोरखनाथ ने 'कामशास्त्र' उन्हें देकर उसका प्रचार करने की आज्ञा दी थी। मियाँ अब्दुलगफूर शुद्धि करवाकर धर्मपाल बन गये थे और तहजीबुल इस्लाम नामक पोथी में उन्होंने इस्लामी प्रथाओं की कड़ी निन्दा की थी। हिन्दुत्वनिष्ठ गुप्तजी न तो शालिग्रामजी के अन्धविश्वास के प्रचार का स्वागत कर सके न धर्मपालजी की अन्ध घृणा का! स्वधर्म त्यागी द्वारा अपने पुराने धर्म की अतिरंजित निन्दा भी उनके मर्यादावाद और शील को अनुचित ज्ञात होती थी।

गुप्तजी ने साहित्य के क्षेत्र में नवीन आदर्शवादी विचार-धाराओं और नूतन रचना शैलियों का स्वागत तरते हुए भी पुरातन रिक्थ का सर्वथा परित्याग करने की सलाह नहीं दी थी। भारतमित्र के तेईसवें वर्ष का सिंहाव-लोकन करते हुए उन्होंने लिखा था, "हिन्दी पद्य की भी कुछ चर्चा भारतमित्र में गत वर्ष हुई। उससे कम से कम इतना हुआ कि हिन्दी के कवि अपने लिये एक पथ निकाल सकते हैं। परन्तु अपने जी में इतना समझ रखें कि प्यारी की विरह-व्यथा वर्णन और नायिका-भेद बतलाने का समय अब नहीं है। पिछले कवि उक्त विषय में जो कुछ कविता कर गये वह कम नहीं है। इस समय के कवि उनकी नकल करके नाम नहीं पा सकते। अब दूसरा मार्ग तलाश करना चाहिये। हम पं० श्रीधर पाठक तथा पं० महाबीर प्रसादजी द्विवेदी का हृदय से धन्यवाद करते हैं। हिन्दी पद्य को पथ पर ले जाना आप जैसे लोगों ही का काम है।"[१] हिन्दी कविता में युगान्तर करने के लिए श्रीधर पाठक के ऊजड़ग्राम और एकान्तवासी योगी की वे पहले भी प्रशंसा

१. बा. स्मा. गु. के पृ० १२० में उद्धृत पूरा लेख न. कि. गु. के पुस्त. में सु.।

कर चुके थे। पाठकजी ने श्रान्त पथिक का अनुवाद एक तरह से उन्हीं के आग्रह से किया था। द्विवेदी जी की कविताएँ भी वे हिन्दोस्थान, हिन्दी बंगवासी, भारतमित्र में निरन्तर प्रकाशित करते रहे थे किन्तु उनकी भाषा की क्लिष्टता तथा रूक्षता और तुक, अनुप्रास आदि के त्याग की वृत्ति उन्हें नहीं अच्छी लगती थी। स्वयं भी उन्होंने नये ढंग की कविताएँ लिखी थीं तथा सत्यनारायण कविरत्न एवं मुंशी पीताम्बर प्रसाद आदि अनेक कवियों को नवीन विषयों पर कविता लिखने के लिए प्रोत्साहित भी किया था किन्तु शृंगार रस या तुक, यमक, अनुप्रास आदि एकदम त्याज्य हैं, वे ऐसा भी नहीं मानते थे। इस विषय पर उन्होंने 'नायिका भेद' तथा 'चाहते हैं सो होता नहीं' शीर्षक दो लेख लिखे। वे पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की इस बात से तो सहमत थे कि आज के युग में नायिका भेद का जमाना नहीं रहा किन्तु इसके लिए प्राचीन कवियों की लानत-मलामत करना अच्छा नहीं समझते थे, साथ ही यह भी मानते थे, कि नायिका-भेद और शृंगार रस की कविताएँ लिखने की परिपाटी केवल हिन्दो में ही न होकर अन्य भाषाओं में भी थी और है। बंगला के गुणाकर भारतचंद्र और शिशिरकुमार घोष जैसे पुराने, नये कवियों के उद्धरण देकर उन्होंने अपने मत का समर्थन किया था। कविता के लिए तुक, अनप्रास, यमक, गणविचार, मात्राविचार, छन्दविचार आदि को वे आवश्यक तथा उपयोगी मानते थे फिर भी नवीन प्रयोगकर्त्ताओं को अपने सिद्धान्त को प्रमाणित करने का अवसर देने के लिए वे सदा तैयार थे। उनका कहना था कि तुक अनुप्रास छन्द बिना यदि कोई कविता लिखना चाहे तो पुरानों को बिना कोसे अच्छी कविता लिख कर दिखा दे, उसकी बात मान ली जायगी। ऐसा करने में असमर्थ होने पर केवल पुराने को कोसते रहना निन्दनीय है। पुरातन के प्रति श्रद्धा और श्रेष्ठ, उपयोगी नवीन का अभिनन्दन, गुप्तजी का सहज स्वभाव रहा है।

ललित-साहित्य के साथ-साथ उपयोगी शास्त्रों की रचना भी हिन्दी में हो, यह उनकी बड़ी इच्छा थी। एक स्थान पर उन्होंने उपन्यास लेखन की तुलना में इतिहास लेखन को अधिक महत्त्व दिया है। भारतीय पुनर्जागरण के एक उद्योक्ता के अनुरूप ही मर्यादा और उपयोगिता, अतीत गौरवबोध और उज्जवल भविष्य के निर्माण की स्पृहा तथा साधना को ही गुप्तजी ने चरम मूल्य के रूप में स्वीकारा था और उन्हीं के अनुसार साहित्य का कायाकल्प करना चाहा था।

भाषा-सम्बन्धी आलोचना :

गुप्तजी की भाषा-सम्बन्धी पकड़ बड़ी सच्ची थी। भाषा के वे स्वयं बड़े अच्छे प्रयोक्ता थे और भाषा सम्बन्धी त्रुटियों की सूक्ष्म विवेचना भी कर सकते थे। वस्तुतः आलोचना के क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी देन भाषा सुधार की ही है। भाषा सम्बन्धी उनके सिद्धान्त बड़े स्पष्ट थे। उनका विश्वास था भाषा सरल, प्रवाहमयी, बामुहावरा, चुस्त और जीवन्त होनी चाहिए। कृत्रिम, क्लिष्ट, अनगढ़, शिथिल और निष्प्राण भाषा उन्हें अप्रिय थी, अवसर मिलने पर ऐसी भाषा का उन्होंने विरोध किया और कभी-कभी जम कर विरोध किया।

भाषा संस्कार की ओर उनकी दृष्टि आरम्भ से ही थी। हिन्दी बंगबासी का सम्पादन पद उन्हें भाषा-संस्कार की क्षमता के कारण ही प्राप्त हुआ था। सन् १८९२ ई० में मडेलभगिनी के हिन्दी अनुवाद की दोषपूर्ण भाषा के लिए फटकार बताने वाला आलोचनात्मक पत्र उन्होंने लिखा था। पं० अमृतलाल चक्रवर्ती, पं० प्रभुदयाल पांडे तथा बाबू बालमुकुन्दगुप्त के सह-सम्पादन में हिन्दी बंगवासी सन् १८९३ से १८९८ तक निकला। तीनों विद्वान् भाषा की शुद्धता के प्रति अत्यन्त जागरूक थे। पं० अमृतलाल चक्रवर्ती ने अपने संस्मरण में लिखा था, "हिन्दी-बंगवासी का आर्डर देने के दिन को हम तीनों साथ रह कर 'कतल की रात' बनाते थे। भाषा-निर्णय के लिए हमारी लड़ाई ऐसी गहरी होती थी कि किसी-किसी दिन सारी रात बीत जाती था। किस प्रान्त के किस शब्द को कहाँ जोड़ने से भाषा का समुचित लालित्य होगा, इसपर बड़ी जोरदार बहस होती थी।...पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'हिन्द बंगवासी' को 'भाषा गढ़ने की टकसाल' बतलाते थे। उस टकसाल का कोई सिक्का बाबू बालमुकुन्द गुप्त की छाप के बिना नहीं निकलता था।"[१]

गुप्तजी उर्दू से हिन्दी में आये थे। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि खड़ी बोली उर्दू पद्य-गद्य में ही पहले साहित्यिक संस्कार प्राप्त कर कर सकी थी। यह भी स्मरणीय है कि भाषा की सरलता का अर्थ गुप्तजी यह नहीं समझते थे कि उसे कृत्रिम रूप से सरल बनाने की चेष्टा की जाये और इस तरह उसके आभिजात्य को नष्ट कर दिया जाये। हरिऔध जी के 'अधखिला फूल' की आलोचना करते हुए उन्होंने हिन्दी को कृत्रिम ढंग से सरल बनाने का विरोध किया था। दो टूक शब्दों में उन्होंने कहा था, "हम ठेठ हिन्दी के तरफदार

१. बा. स्मा. ग्रं० पृ० २७६-७७

नहीं। ठेठ हिन्दी का हमारी समझ में कुछ अर्थ भी नहीं।''[1] यह ठेठ हिन्दी किस प्रकार इंशा द्वारा साहित्य में प्रयुक्त हुई इसकी चर्चा करने के अनन्तर गुप्तजी ने 'अधखिला फूल' के कुछ चित्य प्रयोगों की समीक्षा करते हुए अन्त में इस शैली के सम्बन्ध में अपना स्पष्ट निर्णय इस प्रकार दिया था ''हमारे लिये इस समय वही हिन्दी अधिक उपकारी है, जिसे हिंदी बोलनेवाले तो समझ ही सकें, उनके सिवा उन प्रांतों के लोग भी उसे कुछ न कुछ समझ सकें जिनमें वह नहीं बोली जाती। हिन्दी में संस्कृत के सरल-सरल शब्द अवश्य अधिक होने चाहिये इससे हमारी मूल भाषा संस्कृत का उपकार होगा और गुजराती बंगाली, मराठे आदि भी हमारी भाषा को समझने के योग्य होंगे।......... अयोध्यासिंहजी स्त्री को 'इसतिरी' मित्र को 'मितर' स्वर्ग को 'सरग' शब्द को 'सबद' आदि लिख के अपनी भाषा को सौ साल पीछे धकेलने की चेष्टा क्यों करते हैं ?''[2] इस सिद्धांत के बहुलांश से सहमत होते हुए भी इसके अतिरेक को हम संशोधन सापेक्ष्य समझते हैं। यह ठीक है कि संस्कृत के तत्सम शब्दों का बहिष्कार करनेवाली नीति नितान्त त्याज्य है, यह भी ठीक है कि मित्र को 'मितर' के रूप में कृत्रिम ढंग से सरल करना भी गलत है किन्तु उचित अवसर पर सरग, सबद जैसे प्रचलित तद्भव शब्दों का प्रयोग करना अपराध है, ऐसा हम नहीं मानते। गुप्तजी संभवतः उर्दू के उस्तादों की मतरूकात की नीति से प्रभावित थे। उन्होंने इसी लेख में लिखा था, कि 'किसी प्रांत के बेपढ़े लोग बोलते हों तो ऐसे शब्द साधारण भाषा में नहीं आने चाहिए।' नागरता का अभिमान रखनेवाले संस्कृत हिन्दी के आचार्यों ने भी 'ग्राम्यता' को दोष माना है। हमारा मन्तव्य सिर्फ यही है कि बेपढ़ों के द्वारा प्रयुक्त और देशज शब्द भी अवसर के अनुकूल साहित्य में व्यवहृत हो सकते हैं। आंचलिक कथाकार हिन्दी में ऐसा कर रहे हैं और इससे भाषा की व्यंजना शक्ति बढ़ती है, उसमें ताजगी आती है, ऐसा हम मानते हैं।

इसी तरह इस लेख में और अन्यत्र भी गुप्तजी ने प्रो० आजाद के इस विचार को दुहराया है कि हिन्दी अर्थात् खड़ी बोली, ब्रज भाषा से बनी है। भाषा विज्ञान के पंडितों ने इस मत को अशुद्ध प्रमाणित कर दिया है। वस्तुतः खड़ी बोली, ब्रजभाषा के समान ही शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न हुई है।

---

१. गु. नि. पृ. ५६५।
२. वही, पृ. ५७०।

शब्दों के प्रयोग में वे कितने सावधान थे और अपने प्रयोग को शुद्ध प्रमाणित करने के लिये वे अपने पक्ष में पुष्ट उदाहरण देकर प्रतिपक्षी को कैसे परास्त कर सकते थे, इसका अच्छा उदाहरण शेष के अर्थ को लेकर श्री वेंकटेश्वर समाचार के सम्पादक पं० लज्जाराम मेहता से हुआ उनका विवाद था। गुप्तजी ने शेष का प्रयोग अन्त के अर्थ में किया था, जब कि मेहता जी उसका अर्थ अवशिष्ट करते थे। अन्त में मेहता जी को मानना पड़ा कि शेष का एक अर्थ अन्त भी होता है। यह १९०० ई० की घटना है।

शिथिल या अशुद्ध भाषा का प्रयोग करने के लिए उन्होंने सरस्वती की कई बार आलोचना की थी। इन व्यंग्यात्मक आलोचनाओं की चरम परिणति 'भाषा की अनस्थिरता' सम्बन्धी गुप्त-द्विवेदी विवाद में हुई। इस विवाद ने अखिल भारतीय रूप धारण किया और उस समय के हिन्दी के प्रायः सभी प्रमुख विद्वानों ने इस विवाद में भाग लिया। यह दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि इस विवाद को व्यक्तिगत मानापमान का प्रश्न बना लिया गया और फिर तो व्यक्तिगत आक्षेपों की ऐसी बौछार हुई कि मूलभूत विवेचनीय तत्त्व या तो विस्मृत कर दिये गये या हठ एवं अर्ध-सत्य का सहारा लेकर मीमांसित किये गये। उस समय की गर्मागर्मी में यदि इसको मानवीय दुर्बलताजन्य स्खलन मान भी लिया जाये तो भी यह अपेक्षित था कि परवर्त्ती विद्वान इस विवाद में अन्तर्निहित आधारभूत सिद्धांतों की विवेचना करते किन्तु खेद की बात है कि ऐसा नहीं हुआ। विस्तार में बिना गये हम चेष्टा करेंगे कि इस विवाद के बुनियादी प्रश्नों पर विचार करें।

समग्र दृष्टि से विचार करने पर यह मानना पड़ता है कि इस विवाद के मूल में व्यक्तिगत अक्रोश भी एक तत्त्व था। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जनवरी १९०० ई० में हिन्दी शिक्षावली के तृतीय भाग की कठोर समालोचना करते हुए उसमें संगृहीत 'खिलौना' पुस्तक की कुछ कविताओं की भी धज्जियाँ उड़ायीं थीं। 'खिलौना' के लेखक गुप्तजी थे। रामभजराम के नाम से लिखे लेख में खिलौना की कविताओं पर किये गये अक्षेपों का उत्तर दिया गया था। इस पर पुनः आलोचना प्रत्यालोचना हुई। यह जान कर कि खिलौना के लेखक गुप्तजी ही हैं द्विवेदीजी ने व्यक्तिगत पत्र लिखकर अनजान में की गयी अपनी आलोचना के लिए खेद प्रकाश किया, साथ ही प्रत्यालोचना की कठोरता को मित्रता के व्यवहार से दूर की बात बताया।[१] गुप्तजी ने अपने

---

१. गु. नि. पृ. ५२१

२५-२-१९०० के उत्तर में यह तो लिखा कि "खिलौना पर आपके लिखने से मुझे हर्ष है दुःख नहीं। ऐसी बातों का खयाल मुझे नहीं होता।' किंतु यह बात उनके मन में चुभ अवश्य गयी थी। इसी पत्र में उन्होंने आगे लिखा था, "आपकी कविता में दोष दिखाने की चेष्टा नहीं की परन्तु आज्ञा हो तो करूँ ? पर शर्त्त यह है कि उसमें अन्य भाव न समझा जावे। वास्तव में तो मैं इस बात का तरफदार हूँ कि किसी पर बेजा हमला न हो। जबरदस्ती किसी का दोष दिखाना मेरी आदत नहीं। मेरे महराज पर इतनी रोक-टोक और पंडित श्रीधरजी के महराज को कुछ नहीं।"[१] इससे यह ध्वनि निकलती है कि गुप्तजी समझते थे कि खिलौना की कविताओं पर बेजा हमला किया गया था। एक सूक्ष्म ध्वनि यह भी है कि द्विवेदी जी की आदत जबरदस्ती दूसरों का दोष दिखाने की थी। इसके पहले भी गुप्तजी द्विवेदी जी से ५-१२-९९ और ११-१२-९९ के अपने पत्रों में प्रार्थना कर चुके थे कि लाला सीताराम की अधिक कड़ी आलोचना नहीं की जानी चाहिए। उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि सीतारामजी न उनके मित्र हैं न उनसे उनका पत्र-व्यवहार या जान-पहचान ही है, "मेरा मतलब यह है कि किसी अच्छे लेखक से कुछ भूल भी हो तो उस पर अधिक कटाक्ष न होने पावे।"[२] गुप्तजी द्विवेदी जी को कठोर आलोचना पद्धति से पहले से ही असन्तुष्ट थे, अब यह असन्तोष और बढ़ गया। गुप्तजी को लगता था कि द्विवेदी जी अपने को बहुत ऊँचा और अन्य लेखकों को बहुत नीचा समझ कर उनकी समालोचना करते हैं। दोनों स्वाभिमानी और मनस्वी थे, दोनों को एक दूसरे की स्पष्टभाषिता कुछ-न-कुछ जरूर खली होगी।

इसके बाद द्विवेदीजी ने गुप्तजी के बारे में तो नवम्बर १९०५ तक आलोचनात्मक कुछ नहीं लिखा किन्तु अन्य लेखकों पर आलोचना का निर्भीक और निर्मम कुठार वे चलाते रहे। द्विवेदी जी द्वारा सरस्वती का सम्पादन स्वीकार करने के पहले ही गुप्तजी सरस्वती की आलोचना मर्यादोल्लंघन, भाषा की शिथिलता और अशुद्धियों के लिए करते रहे थे। ऐसी टिप्पणियों में 'सुन री सरस्वती', 'समालोचक पर सरस्वती' 'सरस्वती की नाराजी' शीर्षक टिप्पणियाँ उपलब्ध हैं। द्विवेदी जी के सरस्वती-सम्पादक होने के बाद भी वे 'सरस्वती का विनय' कविता, 'साहित्य-समालोचना' सं० चित्र आदि को ले

१. वा. स्मा. ग्रं. पृ. १२६-२७
२. वा. स्मा. ग्रं. पृ० १२३

व्यंग्यपूर्ण शैली में उसकी आलोचनाएँ करते रहे। ये आलोचनाएं अनुचित थीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता किन्तु इनमें कभी-कभी द्विवेदी जी पर गहरा कटाक्ष रहता था। गुप्तजी ने 'नायिका भेद', 'चाहते हैं सो होता नहीं' शीर्षक लेख मुख्यतः द्विवेदी जी के विचारों का आंशिक खण्डन करने के लिए लिखे थे। 'हिन्दी में आलोचना' शीर्षक गुप्तजी की लेखमाला से ज्ञात होता है कि इनके अतिरिक्त भी दो, तीन लेख द्विवेदी जी के विचारों का संशोधन करते हुए उन्होंने लिखे थे। यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि द्विवेदी जी जैसे दबंग स्वभाव के व्यक्ति ने अपने विचारों की इतनी आलोचनाओं को चार-पाँच वर्षों तक मौन भाव से सहा।

इस पृष्ठभूमि के बाद गुप्तजी ने आत्माराम के नाम से 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक लेखमाला लिखी। 'व्याकरण विचार' शीर्षक लेखमें उन्होंने दावा किया था, "आत्माराम के कटाक्ष, उसकी चुलबुली दिल्लगियाँ-मीठी छेड़, जो कुछ है, द्विवेदी जी के लिखने के ढंग पर, उनकी भाषा की बनावट पर, उनके व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान पर, उनके दखलदरमाकूलात पर, उनके गम्भीरता की सीमा-लंघन करने आदि पर हैं। हमारी समझ में बहस की सीमा से बाहर आत्माराम बहुत कम गया है। किसी बातको उसने तूल भी नहीं दिया।"[१] किन्तु औरों की समझ में उनके कटाक्ष मीठी छेड़ से बहुत आगे जाकर कड़ुए हो गये थे, बहस की सीमा के बाहर जाकर शायद पहली बार अपने सिद्धान्त के विपरीत उन्होंने व्यक्तिगत आक्षेप भी किये थे और बहुत सी बातों को तूल भी दिया था। खेद है कि हम औरों की समझ को भित्तिहीन नहीं समझते। गुप्तजी के मतानुसार द्विवेदी जी के 'भाषा और व्याकरण' लेख से यह नहीं स्पष्ट होता "कि हिन्दी भाषा में कोई व्याकरण नहीं है और उसमें एक नया व्याकरण बनाना चाहिये", न ही "हिन्दी या हिन्दी के किसी लेखक के साथ उसमें कुछ सहानुभूति या श्रद्धा प्रगट होती है", "केवल यही स्पष्ट होता है कि हिन्दी में गदर मच रहा है। जितने पुराने लेखक थे, सब अशुद्ध लिखते थे। नये भी अशुद्ध और बेठिकाने लिखते हैं। जितने व्याकरण हिन्दी में हैं वह किसी काम के नहीं, शुद्ध हिन्दी लिखना कोई जानता नहीं। जो कुछ जानते हैं सो उस लेख के लेखक।"[२] हमारा विश्वास है कि गुप्तजी स्वयं आवेश उतर जाने के बाद यदि द्विवेदी जी का 'भाषा और व्याकरण' लेख तथा अपना यह निर्णय शान्त चित्त से पढ़ते तो उन्हें इसकी अतिरंजनाएँ और

---

१. गु० नि० पृ० ४३०
२. गु. नि. पृ. ४२९।

विकृतियाँ अनुचित लगतीं। द्विवेदी जी की अन्यत्र भले ही लाला सीताराम आदि कुछ लेखकों की आलोचनाएँ शिष्टता का अतिक्रमण करती हों, इस लेख में उनका स्वरसंयत और विचारप्रधान है, न किसी मान्य लेखक की अवज्ञा का प्रयास है, न अपनी सर्वज्ञता के प्रदर्शन का! उक्त लेख के इस उद्धरण से द्विवेदी जी की विनीत भूमिका स्पष्ट हो जायेगी। "यहाँ पर हम व्याकरण विरुद्ध हिन्दी रचना के दो-चार उदाहरण देना चाहते हैं। पर जिनकी रचना के ये उदाहरण हैं उनसे, इस कारण, हम शतवार क्षमा-प्रार्थना करते हैं—चाहे वे इस समय इस लोक में हों, चाहे परलोक में। इसमें बुरा मानने की बात नहीं। हम स्वयं भी बहुधा व्याकरण विरुद्ध लिख जाते हैं। इसका कारण यह है कि व्याकरण की तरफ लोगों का ध्यान ही कम है।"[१] लेखकों से शतवार क्षमा प्रार्थना करना उनके प्रति अश्रद्धा प्रकट करना है या 'हम स्वयं भी बहुधा व्याकरण विरुद्ध लिख जाते हैं' लिखना अपनी सर्वज्ञता का प्रदर्शन करना है, यह मानना किसी के लिए भी मुश्किल होगा। उस लेख से यदि किसी को यह भी ध्वनित होता हुआ न ज्ञात हो कि लेखक का अभिप्राय हिन्दी के सर्वांगपूर्ण व्याकरण की रचना की आवश्यकता दिखला कर विद्वानों का ध्यान व्याकरण-रचना की ओर तथा लेखकों का ध्यान व्याकरण शुद्ध भाषा लिखने की ओर आकृष्ट करना है तो उसका क्या इलाज है?

हम यह नहीं कहते कि उस लेख में द्विवेदी जी को कहीं कोई गलती नहीं है, सिर्फ यही कहते हैं कि द्विवेदी जी ने वह विचारपूर्ण लेख जिस उद्देश्य से लिखा था, उसे गलत समझ कर गुप्तजी ने जिस ढंग से जिस शैली में उसकी हँसी उड़ाते हुए आलोचना की उससे प्रश्न व्याकरण विचार का न रह कर व्यक्तिगत मानापमान का हो गया। 'अनस्थिरता' का हौवा दिखा-दिखा कर जिस तरह द्विवेदी जी को आतंकित करने की चेष्टा की गयी, उससे भाषा-परिमार्जन के गंभीर सिद्धान्तों पर युक्तियुक्त विचार होने के स्थान पर किसी न किसी प्रकार 'अनस्थिरता' को व्याकरण शुद्ध सिद्ध करने की जिद बढ़ी, एक दूसरे पर बेजा हमला करने और एक दूसरे के प्रयोगों में जबरदस्ती दोष दिखाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला। गुप्तजी की इस असन्तुलित आलोचना का पहला शिकार उन्हीं का आलोचना सिद्धांत हुआ। 'आत्माराम की आलो-

---

१. सरस्वती के नवम्बर १९०५ और फरवरी १९०६ के अंकों में 'भाषा और व्याकरण शीर्षक से दो खण्डों में द्विवेदी जी का जो लेख छपा था वह उनकी पुस्तक वाग्विलास में संकलित है। हमने उस लेख के उद्धरण उसी ग्रन्थ से लिये हैं। वाग्विलास पृ. ८९-९०।

चना' लेख में उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा है कि अपनी लेखमाला में उन्होंने द्विवेदी जी पर व्यक्तिगत आक्षेप कहीं नहीं किया है जबकि द्विवेदी जी और उनके समर्थकों ने उन पर अनेक प्रकार के व्यक्तिगत और वर्णगत आक्षेप किये हैं। यह ठीक है कि द्विवेदीजी, पं० गोविन्दनारायण मिश्र तथा कुछ और विद्वानों ने अनुचित आवेश में ऐसे अशोभन आक्षेप किये हैं किन्तु आत्माराम ने ही इसकी पहल की थी यह भी दुःखद सत्य है। उदाहरण के लिए द्विवेदी जी के सम्बन्ध में यह लिखना उन पर व्यक्तिगत आक्षेप करना ही है कि, "सचमुच जिस भाषा के ठेकेदार आप जैसे घर घमण्डी हों उस अभागी का विनाश ही होता है।"[१] "एक विशेष प्रकार के जलपत्ती की भाँति द्विवेदीजी को किनारे के कीचड़ ही में सब मिल जाता है।"[२] इसी तरह के कुछ और आरोपों से क्षुब्ध होकर द्विवेदीजी ने लिखा था "हमारा देहातीपन, हमारा संस्कृत श्लोकों का लासानी उच्चारण, हमारा बहुत तरह की बातों का फाँक जाना, हमारा संस्कृत का अद्वितीय ज्ञान—न हमारे शरीर से कुछ सरोकार रखता है, न हमारे कामों से।"[३] और पं० गोबिन्दनारायण मिश्र के सम्बन्ध में गुप्तजी ने लिखा था, "अब एक पहाड़ी खखोडर के पुराने उल्लू की गुड़म-गुड़म सुनिये। बहुत दिन से यह गोबरगणेश चुपचाप था। अब उसने बंगवासी के धर्मभवन पर बैठ कर अपने पट्ठों सहित बोलना शुरू किया है।"[४] क्या यह निम्न कोटि का व्यक्तिगत आक्षेप नहीं है और क्या इसका कुछ भी सम्बन्ध विचारणीय विषय से या मिश्रजी के लेख से है? हमें यह देख कर आन्तरिक क्लेश होता है कि अपने जीवन में शायद पहली और आखिरी बार गुप्तजी इतने असंयत हो गये कि स्वयं अपने घोषित और अब तक आचरित सिद्धान्त के प्रतिकूल लेखनी चला बैठे। इन्हीं गुप्तजी ने १९०२ ई० में सरस्वती सम्पादक को बाबू गोपालराम गहमरी पर अनुचित व्यक्तिगत आक्षेप के लिए फटकारते हुए लिखा था, "सरस्वती को चाहिये कि हबशियों का काला रंग मिटाने की जगह अपने सम्पादक का छिछोरापन मिटाये क्योंकि किसी पुस्तक की समालोचना करते करते, उसके सम्पादक की समालोचना करने लग जाना निरा छिछोरापन है। लोग सरस्वती के लेखों की समालोचना करने का अधि-

---

१. गु. नि. पृ. ४३५।

२. वही, पृ. ४६६।

३. वाग्विलास पृ. १५८-५९।

४. गु. नि. पृ. ४८१।

कार रखते हैं, उसके सम्पादक की आलोचना करने का नहीं।"[१] यह दुर्भाग्य-पूर्ण तथ्य है कि उभय पक्षों के व्यक्तिगत आक्रोश और आवेश के कारण विवादग्रस्त विषय पर सुसंगत विचार नहीं हो सका।

'भाषा की अनस्थिरता' लेखमाला के शीर्षक एवं उसके प्रत्येक लेख के अंत में अनस्थिरता को व्याकरण से सिद्ध करने की चुनौती के कारण गुप्तजी के लेखों में उठायी गयी भाषा सम्बन्धी अन्य गम्भीर समस्याओं की तरफ विद्वानों का ध्यान उचित मात्रा में न जाकर अनस्थिरता के चारों ओर ही केन्द्रित हो गया। बार-बार की चुनौती से स्थिति ऐसी हो गयी कि यह माना जाने लगा कि यदि अनस्थिरता व्याकरण से सिद्ध नहीं होती है तो द्विवेदी जी की हार है और यदि व्याकरण से अनस्थिरता सिद्ध की जा सकती है तो गुप्तजी की पराजय है। स्पष्टतः गुप्तजी की स्थिति मजबूत थी क्योंकि साधारण रूप से संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'अस्थिरता' शब्द बनता है 'अनस्थिरता' नहीं। पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने उस स्थिति का वर्णन करते हुए श्री गोविन्द निबन्धावली के प्राक्कथन में लिखा था, "वैकुण्ठवासी बाबू बालमुकुन्द गुप्त जिस समय 'अनस्थिरता' शब्द के कारण 'भारतमित्र' में श्रीयुत पंडित महावीर प्रसादजी द्विवेदी को दबोच रहे थे और द्विवेदीजी भी दबते जाते थे उस समय मिश्रजी ने 'हिन्दी बंगवासी' "आत्माराम की टें टें" शीर्षक लेखमाला से द्विवेदीजी का पक्ष समर्थन किया था और अच्छा किया था। कहनेवाले अब भी कहते हैं कि यदि मिश्रजी मैदान में न आते तो द्विवेदी जी बेतरह दब जाते।"[२] पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने अनस्थिरता शब्द को संस्कृत व्याकरण से नहीं हिन्दी व्याकरण से सिद्ध किया। उनका तर्क था, "हिन्दी शब्दों में व्यंजन के आगे आने वाले निषेधवाचक 'न' को भी 'अन' होता है। इससे हिन्दी में 'अनरीति' 'अनरस', 'अनहोनी' 'अनमिल' 'अनमोल' 'अनपढ़' 'अनहित' 'अनगणित' 'अनसुनी' 'अनहुई' आदि अनेकों शब्द सर्वथा विशुद्ध ही माने जाते हैं। ऐसी अवस्था में हिन्दी के लेख में द्विवेदीजी ने 'अनस्थिरता' लिख ही दी तो अनर्थ क्या किया?" गुप्तजी 'अनस्थिरता' की अशुद्धि को आवश्यकता से बहुत अधिक तूल दे चुके थे अतः इतनी आसानी से 'अनस्थिरता' शब्द को किसी भी व्याकरण से शुद्ध नहीं मान सकते थे। हिन्दी व्याकरण के अनुसार 'अनस्थिर' शब्द बन सकता है यह मान कर भी

---

१. समालोचक पर सरस्वती—न. कि. गु. के पुस्त. में सु.।

२. (श्री गोविन्द निबन्धावली पृ०)।

'भाषा की अनस्थिरता' के दसवें लेख में 'अनस्थिरता' शब्द पर इस आधार पर उन्होंने आपत्ति की कि हिन्दी के अनमिल, अनमोल, अनपढ़ आदि शब्दों में 'ता' नहीं जोड़ी जा सकती अतः 'अनस्थिर' यदि हिन्दी का शब्द है तो उसके आगे भी 'ता' नहीं लगायी जा सकती और इस तरह 'अनस्थिरता' शब्द शुद्ध नहीं ठहरता। गुप्तजी को यह आशा भी थी कि शायद द्विवेदी जी मिश्रजी की इस युक्ति को स्वीकार न करें क्योंकि इससे उनके संस्कृत ज्ञान को बट्टा लगता था। किन्तु गुप्तजीकी दोनों धारणाएं ठीक नहीं निकलीं। पं० गोविन्द-नारायण मिश्र के पास सीधा तर्क था कि 'स्थिर' के समान ही 'स्थिरता' भी हिन्दी का शब्द है अतः हिन्दी व्याकरण के अनुसार स्थिरता के आगे अन लगाकर अनस्थिरता शब्द बन सकता है। उधर द्विवेदीजी ने भी फरवरी १९०६ की सरस्वती में संस्कृत से भी अनस्थिरता शब्द दो तरह सिद्ध हो सकता है यह कह कर भी वर्तमान विवाद के लिए अपने वाचकों से यही प्रार्थना की "कि संस्कृत के बखेड़े में न पड़कर 'अनस्थिरता' को वे 'अनमिल' 'अनहित' 'अनरीति', 'अनमोल' 'अनगैरी' 'अनदेखी' और 'अनसुनी' की तरह का हिन्दी शब्द समझें।[1] गुप्तजी की 'ता' सम्बन्धी आपत्ति की चर्चा करते हुए द्विवेदीजी ने लिखा, "इच्छा तो हमारी यह थी कि जिस 'ता' से आपको इतनी नफरत है उसे हम 'अनहित' 'अनमिल' 'अनरस' आदि शब्दों में भी लगा दें पर 'ता' का बहुत अधिक खर्च हम नहीं करना चाहते। यदि 'ता' का खजाना यहीं खाली हो जायगा तो गुप्तविद्वान अपने अत्यन्त शुद्ध हिन्दी-शब्द 'निरधनता' के लिए 'ता' कहाँ पावेंगे।[2]

इसके अतिरिक्त द्विवेदीजी ने अस्थिरता और अनस्थिरता के अर्थ में भी कुछ अन्तर किया था। उनका कहना था, "अस्थिरता शब्द केवल स्थिरता के प्रतिकूल अर्थ का बोधक है, जो स्थिर नहीं है वह अस्थिर है। परन्तु जिसमें अतिशय अस्थिरता है, जिसमें अस्थिरता की मात्रा अत्यन्त अधिक है, उसके लिए अनस्थिरता ही का प्रयोग हम अच्छा समझते हैं।"[3] वस्तुतः इस सिद्धांत को मान लेने के बाद कि 'अनस्थिर' हिन्दी व्याकरण से शुद्ध है 'अन-स्थिरता के लिए विशेष आपत्ति का अवकाश नहीं रह जाता। जैसे हिन्दी के 'निरधन' शब्द से 'निरधनता' 'सुघर' से 'सुघरता' आदि शब्द बन सकते हैं वैसे ही हिन्दी के जिन शब्दों में 'ता' प्रत्यय शोभा के साथ लग सकता है, उनमें

१. श्री गोविन्द निबन्धावली, आत्माराम की टें टें पृ० ९-१०।
२. वाग्विलास पृ० १४२।
३. वही, पृ० १५७।

क्यों न लगाया जाये ? हमें 'अनरसता' 'अनगढ़ता' जैसे शब्द अर्थ द्योतन और श्रुतिमाधुर्य दोनों दृष्टियों से अच्छे लगते हैं। फिर गुप्तजी सिद्धांततः यह आपत्ति नहीं कर सकते। आपत्ति का आधार तो यही है कि एक भाषा के शब्द में दूसरी भाषा के उपसर्ग या प्रत्यय नहीं लगाने चाहिए किन्तु गुप्तजी स्वयं धड़ल्ले के साथ व्याकरणदानी, भाषादानी, कविताफ़हमी, बेसिद्धि जैसे शब्दों का प्रयोग करते थे। यदि वे संस्कृत शब्दों के साथ फारसी प्रत्यय और उपसर्ग लगा सकते थे तो दूसरों को हिन्दी शब्दों में संस्कृत के या संस्कृत शब्दों में हिन्दी के उपसर्ग और प्रत्यय लगाने से कैसे रोक सकते थे ?

हिन्दी से अनस्थिरता को सिद्ध करने पर गुप्तजी ने व्यंग्य किया कि उसे अंग्रेजी के 'अनस्क्रुपुलस' 'अनथॉट,' 'अनसिविलाइज्ड' जैसे शब्दों के अनुरूप अंग्रेजी व्याकरण से भी सिद्ध किया जा सकता है।[1] इसी लेख में उन्होंने उसके संस्कृत-व्याकरण से भी सिद्ध किये जा सकने की द्विवेदी जी की उक्ति की चुटकी भी ली थी। द्विवेदीजी ने उस समय तो नहीं किन्तु 'वाग्विलास' के प्रकाशन के समय अनस्थिरता को हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत से सिद्ध करने की युक्ति भी दी। उनका तर्क था, 'यदि अनस्थिरता संस्कृत भाषा का शब्द माना जाय, तो संस्कृतव्याकरण के अनुसार भी वह शुद्ध ही है। यथा—न विद्यते अस्थिरं यस्मात् तत् अनस्थिरं, तस्यभावः अनस्थिरता अर्थात् जिससे बढ़कर अस्थिर वस्तु और कोई है ही नहीं, उसे अनस्थिर कहना चाहिए। उससे अत्यन्त अस्थिर का भाव सूचित होता है। ऐसे कई प्रयोग संस्कृत भाषा में पाये जाते हैं। देखिए—'गंगातीरमनुत्तमं' हि सकलं तत्रापि काश्युत्तमा' यह एक प्रसिद्ध श्लोक का पहला चरण है। इसमें 'अनुत्तम' शब्द का अर्थ अत्यन्त उत्तम है। विवादियों ने अपनी अज्ञता के कारण इस शब्द को अशुद्ध बता कर व्यर्थ अपना और दूसरों का समय नष्ट किया था। म० प्र० द्विवेदी, २१-१०-१९२७'[2]

जो हो उस समय हिन्दी व्याकरण से भी 'अनस्थिरता को सिद्ध कर द्विवेदी पक्ष को लगा कि उसकी विजय हो गई है, गुप्तजी को भी स्वीकार करना पड़ा कि गरीब आत्माराम लठैतों के दल में घिर गया।

किन्तु क्या यह विजय वास्तविक थी ? 'अनस्थिरता' को अर्ध सत्य के सहारे हिन्दी या संस्कृत व्याकरण से सिद्ध कर क्या द्विवेदीजी अपने सम्मान

---

१. गु. नि., पृ. ४९० ।
२. वाग्विलास, पृ. ८४ ।

की रक्षा के लिए अपने सिद्धांतों की बलि नहीं चढ़ा रहे थे ? द्विवेदीजी ने अपना लेख आखिर इसीलिए तो लिखा था कि लोग भाषा के व्याकरण-विरुद्ध या कम युक्तियुक्त प्रयोगों को छोड़कर व्याकरण-शुद्ध सर्वमान्य प्रयोग किया करें। अपने निबन्ध में स्थान-स्थान पर उन्होंने यह मत प्रकट किया था और निष्कर्ष के रूप में लिखा था, 'हिन्दी को कालसह अर्थात् कुछ काल के लिए स्थायी, करने के लिए यह बहुत जरूरी बात है कि उसकी रचना व्याकरण-विरुद्ध न हो; उसमें सिर्फ ऐसे-ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जो विशेष व्यापक हों अर्थात् जिन्हें अधिक प्रान्तों के आदमी समझ सकें'[१] प्रश्न है क्या इस सिद्धांत के अनुसार वे 'अनस्थिरता' का परित्याग नहीं कर सकते थे। अनस्थिरता को यदि नितांत व्याकरण-विरुद्ध न भी माना जाये तो भी वह कम युक्तियुक्त है, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। हिन्दी के लेखकों ने जब देखा होगा कि 'भाषा और व्याकरण' के लेखक आचार्य द्विवेदी यह कहते हुए भी कि 'हम वैयाकरण नहीं; और न किसी पंडित या अपंडित समाज में वैयाकरण कहलाये जाने की हमें महत्त्वाकांक्षा ही है। संभव है हम इसी नोट में कितने ही शब्द और वाक्य व्याकरण-विरुद्ध लिख गये हों।'[२] अपने एक ऐसे शब्द को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं जो विद्वानों द्वारा साधारणतः अशुद्ध माना जाता है तब उन्हें किस बात की प्रेरणा मिली होगी, व्याकरण-विरुद्ध और कम युक्ति-युक्त प्रयोगों के परित्याग की अथवा अपने मनमाने प्रयोगों को किसी न किसी प्रकार व्याकरण-शुद्ध सिद्ध करने की ! क्या निर्णय दे आज का विवेचक उस आलोचना समर पर जिसके दोनों प्रतिपक्षियों ने दूसरे पर हावी होने के लिए अपने अपने सिद्धान्त त्याग दिये हों ?

२१-१०-१९२७ को भी एक पाद टिप्पणी लिखकर द्विवेदीजी ने 'अनस्थिरता' को व्याकरण-शुद्ध सिद्ध करना चाहा था किन्तु पं० किशोरीदास वाजपेयीका कहना है कि १९३१ या ३२ में जब उन्होंने आ० द्विवेदीसे 'अनस्थिरता' सम्बन्धी विवाद की चर्चा छेड़ी थी तब उन्होंने जो कुछ कहा, उसका सार यह है, "भैया, गलती से वह 'अनस्थिरता' शब्द निकल गया था मैं उस समय भी उसे गलत समझता था और आज भी गलत समझ रहा हूँ। गलत न सही, प्रवाह प्राप्त तो वह है ही नहीं। प्रवाह ही भाषा में बड़ी चीज है। मैं तुरन्त स्वीकार कर लेता यदि उस तरह कोई पूछता—कहता। बात कुछ दूसरे ढंग से कही गयी। यह भी नहीं कहा गया कि 'अनस्थिरता' सही है

१. वही, पृ. १०६।

२. वही, पृ. ११७।

था गलत, बल्कि कहा यह गया कि द्विवेदीजी अनस्थिरता को व्याकरण से सिद्ध करें। सो, इस ललकार का जवाब मैंने दिया और अनस्थिरता को व्याकरण से सिद्ध कर दिया"[1] वाजपेयी जी के अनुसार द्विवेदीजी ने यह भी कहा था कि हिन्दी का काम करने के लिए प्रभाव की जरूरत थी, उस समय दब जाने से फिर मैं हिन्दी का काम उस रूप में न कर सकता, अतः नहीं दबा। यह मानना मुश्किल है कि अपनी बात को गलत मानते हुए भी उसे ठीक सिद्ध करने का प्रयास करने के कारण विचारकों की दृष्टि में द्विवेदीजी का प्रभाव बना रहा, जब कि अपनी गलती मान लेने पर उनका प्रभाव नष्ट हो जाता और वे हिन्दी का कुछ काम न कर पाते। हाँ, यह ठीक है कि गुप्तजी की आलोचना पद्धति ऐसी थी कि द्विवेदी जी जैसे स्वाभिमानी व्यक्ति अपनी गलती को भी सही साबित करने के लिए उत्तेजित हो उठे।

किन्तु 'अनस्थिरता' को ही उक्त विवाद की धुरी मान लेना उचित नहीं है। ऐसा मानने के कारण ही यह विवाद अपने मूल विषय भाषा-परिष्कार के सिद्धान्तों के विवेचन से परे हट गया था। 'अनस्थिरता' के घटाटोप में अधिकांश लोगों ने गुप्तजी के अन्य महत्त्वपूर्ण विचारों पर ध्यान ही नहीं दिया और जिन्होंने दिया, वे भी गुप्तजी द्वारा बतायी गयी द्विवेदीजी के शब्दों, वाक्यों और मुहावरों की त्रुटियों की व्याख्या करते रहे, जिन सिद्धान्तों के चलते गुप्तजी ने इन तथाकथित त्रुटियों को त्रुटियाँ माना था, उनकी विवेचना से पराङ्मुख ही रहे।

उधर द्विवेदी पक्ष के विचारकों ने गुप्तजी के लेखों में भी बहुत से ऐसे प्रयोग ढूँढ़ निकाले थे जो उनकी दृष्टि से संशोधनसापेक्ष थे। इन समस्त चिन्त्य प्रयोगों पर इस लेख में विचार करना सम्भव नहीं है, अतः हम ऐसे प्रयोगों की अलग-अलग चर्चा न कर द्विवेदीजी और गुप्तजी के लेखों के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों की विवेचना ही करेंगे।

हमारी समझ से गुप्तजी और द्विवेदी जी के भाषा सम्बन्धी विवाद में अन्तर्निहित मुख्य विचारणीय प्रश्न ये थे :—

(१) व्याकरण और शिष्ट-भाषा-प्रवाह में कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है ?

(२) संस्कृत-हिंदी और फारसी-उर्दू की परम्पराओं का समन्वय कैसे किया जाये ?

---

१. बा. स्मा. ग्रं. पृ. ४१०।

(३) अच्छी भाषा का आदर्श क्या हो ?

(४) पुराने और बड़े लेखकों की भूलें निकालना कहाँ तक उचित है ?

(५) पुराने शब्दों का नये अर्थों में प्रयोग समीचीन है या नहीं ?

इन प्रश्नों का विचार करना आज भी उपयोगी है किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि इनमें से कुछ प्रश्नों के उत्तर दो टूक नहीं दिये जा सकते न किसी एक विचारक के उत्तर अन्तिम माने जा सकते हैं। अतः विचार के साथ-साथ यह भी देखना होगा कि हिन्दी के लेखकों ने पिछले साठ वर्षों में व्यवहार के द्वारा इनकी मीमांसा किस प्रकार की है।

पहले प्रश्न के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि द्विवेदीजी ने व्याकरण को और गुप्तजी ने शिष्ट-भाषा-प्रवाह को (या उनके शब्दों में बामुहावरा भाषा को) अधिक महत्त्वपूर्ण माना था। इसका यह अर्थ नहीं है कि द्विवेदी जी शिष्ट-भाषा-प्रवाह की या गुप्तजी व्याकरण की उपेक्षा करते थे। दोनों ने अनेक स्थलों पर इन दोनों तत्त्वों की उपयोगिता स्वीकार की थी। द्विवेदी जी की धारणा थी कि बहुत से लेखक अपनी त्रुटियों को भाषा-प्रवाह या मुहावरे की ओट में छिपाकर हिन्दी में व्यर्थ प्रयोग-भेद बढ़ा रहे हैं, अतः भाषा की स्थिरता की रक्षा के लिए व्याकरण को उनका नियमन करना चाहिए। द्विवेदी जी के शब्दों में, 'इस तरह की सारी त्रुटियों को हम मुहाविरा नहीं समझते। यदि वे सब मुहाविरा समझ ली जायँगी, तो मुहाविरा की परिभाषा के बाहर शायद एक भी त्रुटि न रह जाय। सभी उसमें आ जायँगी। हम मुहाविरा के खिलाफ नहीं। मुहाविरा ही भाषा का जीव है। पर उसकी सीमा का होना आवश्यक है।'[१] तथा 'यह बात बहुत जरूरी है कि लिखित भाषा, कथित भाषा की अपेक्षा, अधिक समय तक स्थायी रहे। चिरकाल तक उसे स्थायी करने का एक मात्र साधन व्याकरण है।'[२] दूसरी तरफ गुप्तजी का मत था, 'लिखने की भाषा भी वही अच्छी समझी जाती है जो बोलचाल की भाषा हो, मनघड़न्त न हो। उसी को बामुहावरा भाषा कहते हैं। मुहावरे का अर्थ बोलचाल है। अहलेजुबान और जुबानदान लोगों की बोलचाल बामुहावरा बोली की गिनती में है। उक्त बामुहावरा भाषा ही बहुत काल पीछे तक समझ में आती है।...जो लेखक रोजमर्रह की भाषा नहीं लिख सकते, वह कितनी ही व्याकरणदानी से काम लें, उनकी भाषा उन्हीं तक रह जाती

---

१. वा. वि. पृ. ६४।

२. वही पृ. ८८।

है ।'[1] क्योंकि, 'व्याकरण में शक्ति नहीं है, जो भाषा के जोड़-तोड़ की इस प्रकार की भूलों को बता सके ।'[2] 'व्याकरण यह बता सकता है कि यह तीनों बोले जाते हैं; इनको मिटा तो नहीं सकता ।'[3]

इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी जी और गुप्तजी की दृष्टियों में मौलिक अन्तर कहाँ था, एक लिखित भाषा को चिरस्थायी करने का एकमात्र साधन व्याकरण है, यह मानकर मुहावरे की सीमा देखता था, दूसरा बामुहावरा भाषा को ही बहुत काल पीछे तक समझ में आने योग्य मानकर व्याकरण की शक्तिहीनता की ओर संकेत करता था । हमारा विश्वास है कि इसी मुख्य दृष्टि-भेद के कारण दोनों को एक ही भाषा के दृश्य भिन्न-भिन्न दिखते थे । एक को राजा शिवप्रसाद की भाषा में कर्त्तृपदों का समूल संहार और व्याकरण का उल्लंघन दिखता था तो दूसरे को शब्दलाघव और चुस्त भाषा-प्रवाह; एक गो० राधाचरण, काशीनाथ खत्री की बहुत-सी अशुद्धियाँ दिखाकर उनका कारण व्याकरण के प्रति ध्यान न होना बताता था तो दूसरा उनमें से कुछ को बामुहावरा मानता था और कुछ के सम्बन्ध में कहता था कि पुराने मुहावरे के अनुसार वे ठीक हैं, अब मुहावरा बदल गया है । एक कथित भाषा और लिखित भाषा में अधिक अन्तर मानता था और कथित भाषा को स्वतन्त्रता देकर भी लिखित भाषा में व्याकरण की सहायता से एकरूपता लाना चाहता था; दूसरा शिष्टजनों की बोलचाल की और लिखने की भाषा में कोई अन्तर नहीं मानना चाहता और प्रयोग-भेद की छूट देना चाहता था । एक की दृष्टि में स्थिरता और व्यापकता लिखित भाषा के बड़े गुण हैं तो दूसरे की दृष्टि में जीवन्तता और स्वाभाविकता ।

सत्य दोनों की बातों में है और व्यावहारिक दृष्टि से मध्यम मार्ग अपनाना ही उचित है । फिर भी हमें लगता है कि व्याकरण का अनुल्लंघनीय शासन उन्हीं भाषाओं पर चल सकता है जो अब जनसाधारण द्वारा प्रयुक्त नहीं होतीं, जैसे संस्कृत, प्राकृत, ग्रीक, लैटिन आदि । लोग व्याकरण के सहारे ही जनसाधारण द्वारा अप्रयुक्त भाषा को सीखते हैं और उसी के अनुसार उसका प्रयोग करते हैं । जीवित भाषाओं में ऐसा नहीं हो सकता । व्याकरण भी शिष्टजनों के प्रयोगों को ही दृष्टि में रखकर बनाया जाता है उनके प्रयोगों की भिन्नता

---

१. गु. नि. पृ. ४४२-४३ ।
२. वही पृ. ५३३ ।
३. गु. नि. पृ. ५३४ ।

और विशिष्टता के कारण ही उसके नियमों में अपवाद रखे जाते हैं : केवल व्याकरण के सहारे सीख कर लिखी जानेवाली भाषा अर्थबोध कराने मे भले समर्थ हो जाये, प्रयोगगत चारुता से कोसों दूर रहती है। इसीलिए वैयाकरण की तुलना में कवि की भाषा को श्रेष्ठ माना जाता है : यह भी समझना ठीक नहीं है कि व्याकरण और शिष्ट-भाषा-प्रवाह में सदा विरोध होता है। व्याकरण के नियमों का स्थूल अनुगमन होने के स्थान पर शिष्टों की भाषा में उनका सूक्ष्म अन्तर्भाव होता है जो साहित्यिक प्रयोगों की लोकोत्तरता और सुन्दरता का हेतु है। अतः हम यह मानते हैं कि साहित्य-रचना के लिए शिष्ट-भाषा-प्रवाह का अनुशीलन अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह अवश्य है कि प्रयोगगत भेदों में यथासम्भव एकरूपता लाने की चेष्टा होनी चाहिए। परवर्ती लेखकों ने यथासम्भव इसी समन्वित पथ पर चलने को चेष्टा की है।

दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि खड़ी बोली साहित्य में पहले उर्दू कविता के साँचे में ढली। उसे माँजने और निखारने में सौदा, मीर, आतिश, नासिख, गालिब और जौक जैसे बड़े कवियों ने पर्याप्त श्रम किया। सूर, तुलसी, बिहारी, देव, घनआनन्द और पद्माकर ने भाषा परिष्कार के सम्बन्ध में जो कार्य किया था उसका पूरा लाभ खड़ी बोली के हिंदी लेखकों को नहीं मिला। आधुनिक युग में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली को हिन्दी साहित्य का वाहन चुनने के बाद हिन्दी लेखकों के समक्ष जो समस्या आयी वह यह थी कि संस्कृत-हिन्दी और फारसी-उर्दू की परम्पराओं का समन्वय कैसे किया जाये। संस्कृत-हिन्दी की परम्परा तो जीवनस्रोत ही थी, उधर फारसी-उर्दू परम्परा में मँजकर खड़ी बोली का जो परिष्कार हुआ था, उसका उपयोग करना और उसके सहारे अपने प्रयोगों को प्रशस्त करना नितांत समीचीन था। खड़ी बोली हिन्दी के बहुत से आरम्भिक लेखक उर्दू से प्रभावित और उपकृत थे। किन्तु इन दोनों परम्पराओं के अतिरेक एक दूसरे से टकराते भी थे। द्विवेदी-गुप्त विवाद में इन दोनों परम्पराओं की टकराहट स्पष्ट दीख पड़ती है। इस मूल सिद्धांत पर दोनों एक मत थे कि हिंदी के खड़ी बोली-रूप का विकास मुख्यतः संस्कृत के तत्त्वावधान में उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार होना चाहिए। द्विवेदीजी के शब्दों में, 'हिंदी की उत्पत्ति संस्कृत से है। इसलिए हमको यथासम्भव संस्कृत व्याकरण की सहायता से उसे नियंत्रित करना चाहिए। हाँ यदि पूर्वोक्त प्रकार के मुहाविरों से लेखकों को बहुत ही प्रेम हो गया हो अथवा, यदि उससे भाषा में विशेष सौंदर्य आने की उन्हें आशा हो तो उन्हें वे रहने दें।'[१] गुप्तजी का मत था,

१. वा. वि., पृ. १०२।

'हिंदी में संस्कृत के सरल-सरल शब्द अवश्य अधिक होने चाहिये, इससे हमारी मूल भाषा संस्कृत का उपकार होगा और गुजराती, बंगाली, मराठे आदि भी हमारी भाषा को समझने के योग्य होंगे, किसी देश की भाषा उस समय तक काम की नहीं होती, जब तक उसमें उस देश की मूल भाषा के शब्द बहुतायत के साथ शामिल नहीं होते।'[१] इस पर भी दोनों एक मत थे कि उर्दू कवियों और लेखकों के उद्योग से खड़ी बोली का जो परिष्कार हुआ है, उसका यथासंभव उपयोग करना चाहिए। गुप्तजी तो उर्दू से हिंदी में आये थे अतः उनकी भाषा और शैली पर उर्दू का जबरदस्त प्रभाव था ही, द्विवेदीजी ने भी सरस्वती के लिए अन्य लेखकों की रचनाओं का संशोधन करते समय तथा अपने लेखों में भी अरबी फारसी शब्दों और उर्दू शैली का इतना प्रयोग किया था कि उससे अनेक लेखक और पाठक असन्तुष्ट हो गये थे, श्री कामता प्रसाद गुरु ने उन्हें पत्र लिखकर अपना असन्तोष व्यक्त किया था।[२] इस पर भी दोनों सहमत थे कि 'उर्दू के दोष नकल करना मुनासिब नहीं,' गुप्तजी ने एक क्षेत्र में तो द्विवेदीजी के भी आगे जाकर उसके एक भयंकर दोष को हिंदी में चलाने का विधान करने के लिए काशी की नागरी प्रचारणी सभा का घनघोर विरोध किया था। जब सभा ने निश्चय किया था कि उर्दू शब्दों के शुद्ध उच्चारण के लिए नागरी लिपि में भी यथा-स्थान नुकता लगाना चहिये तब गुप्तजी ने 'हिंदी में बिंदी' लेख लिखकर उसका प्रभावशाली विरोध किया था। उर्दू के मर्मज्ञ होने के बावजूद गुप्तजी अपने लेखों में आनेवाले अरबी फारसी के शब्दों में नुकता नहीं लगाया करते थे। जब कि द्विवेदीजी अपने लेखों में सभा के इस अनुचित निर्णय के पालन की चेष्टा करते थे। फिर भी दोनों के भाषा सम्बन्धी संस्कारों में जो अन्तर था वह इन दोनों परम्पराओं के अन्तर से प्रभावित था और इस विवाद में वह स्पष्टतः उभर आया। पहली हलकी टकराहट हुई जब, तब, और जो, तो, के प्रयोग को लेकर। द्विवेदीजी का आग्रह था कि समय सूचक जब के साथ तब का और शर्त बतानेवाले यदि के साथ तो का प्रयोग करना चाहिए। जहाँ जब का प्रयोग शर्त के लिए करना हो वहाँ जो का प्रयोग करने का सुझाव भी उन्होंने दिया था जब के साथ तो और जो के साथ तब लाने का विरोध किया था एवं इस सन्दर्भ में गालिब का एक शेर गद्य रूप मे उपस्थित कर जब के साथ तो लाने को अनुचित कहा था। गुप्तजी का कहना था कि उर्दूवाले

---

१ गु नि., पृ. ५७०।

२. म. प्र. द्वि. और उनका युग, पृ. २५०-५१।

पहले जब तब और जो तो चारों शर्त में लाते हैं, जो को पहले उर्दू वाले समय और शर्त दोनों में लाते थे अब कम लाते हैं जब के मुकाबिले में 'तो' भी नहीं लाते उसे गायब ही कर देते हैं। अपनी पसन्द उन्होंने तब और तो को गायब करने की ही बतायी।

दूसरी टकराहट हुई 'लेखनी उठाना चाहिये' 'शिक्षा लेना होगी' और 'जड़ी बूटियाँ इकट्ठी करते थे' जैसे प्रयोग वैषम्य को लेकर। एक ही वाच्य में कहीं क्रिया कर्त्ता के अनुकूल हो, कहीं कर्म के, कहीं क्रिया का पहला टुकड़ा स्त्रीलिंग हो कहीं दूसरा, यह अव्यवस्था द्विवेदी जी को अखरी थी और अपनी तरफ से कोई सुझाव न देते हुए इस पर विचार कर एकरूपता लाने की सिफारिश उन्होंने की थी। इस पर गुप्तजी ने विस्तारपूर्वक दिल्ली और लखनऊ की बोलचाल के अन्तर के कारण उत्पन्न उर्दू के दो सम्प्रदायों की चर्चा की और कहा दिल्ली वाले लिखते हैं (१) लेखनी उठानी चाहिये। (२) शिक्षा लेनी चाहिये (३) जड़ी बूटियाँ इकट्ठी करते थे। जब कि लखनऊ वाले लिखा करते हैं (१) लेखनी उठाना चाहिये। (२) शिक्षा लेना होगी। (३) जड़ी बूटियाँ इकटठा करते थे। हिन्दी में भी इन दोनों प्रकार के प्रयोगों को शुद्ध मानने का आग्रह गुप्तजी ने किया क्योंकि ये दोनों नगर भाषा के मखजन हैं और वहाँ के लोग ऐसा ही बोलते हैं। इसके लिए व्याकरण की किसी दलील की जरूरत उन्होंने नहीं समझी। इस पर द्विवेदीजी ने व्यंग्य कसा, 'हिन्दी में बहुरूपियापन पैदा करने के लिए देहली और लखनऊ के जुबांदानों की बोली की नकल अचूक अपना काम करेगी और थोड़े ही समय में जितने मुँह उतनी ही बोलियाँ हो जायँगी।···हिन्दी में जो सजीवता है वह उसे संस्कृत और प्राकृत से मिली है अरबी फारसी से नहीं। पर जिस हिन्दी के टुकड़े खाकर उर्दू जिन्दा है उसी हिन्दी को अब उर्दू के द्वार पर भीख माँगने—उसके सेवकों की बोली की नकल करने देहली-आगरे जाना होगा।'[१]

तीसरी टकराहट हुई वह, यह के एकवचन और बहुबचन दोनों में प्रयुक्त किये जाने को लेकर। द्विवेदी जी का मत था वह यह का प्रयोग एकवचन में और वे ये का प्रयोग बहुवचन में होना चाहिए गुप्तजी ने बड़े आवेश के साथ वे को गँवारी बताया और कहा कि वो और ये बहुवचन में चले नहीं। उनके अनुसार 'व्याकरणों में साफ़ लिखा है कि 'वह' एकवचन और बहुवचन दोनों

---

१. वा. वि. पृ. १५४-५५।

है और वे गैरफसीह है।'[१] उन व्याकरणों के नाम उन्होंने नहीं बताये किन्तु निश्चय ही वे उर्दू व्याकरण ही होंगे।

हमारी समझ में इन तीनों प्रसंगों में गुप्तजी उर्दू की जो परम्पराएँ हिन्दी में प्रचलित करना चाहते थे वे हिन्दी की परम्पराओं के विरुद्ध थीं। पहले प्रसंग में यदि जब और जो के बाद उचित रूप से तब और तो का प्रयोग न किया जाये तो कोई हानि नहीं अन्यथा जब के साथ तब का और जो के साथ तो का प्रयोग ही प्रशस्त है। हाँ, जब के साथ तो का प्रयोग अपवाद के रूप में शर्त के अर्थ में किया जा सकता है।

उर्दू में दिल्ली और लखनऊ के प्रयोगों को प्रामाणिक माना जाता है, अच्छी बात है, माना जाये, किन्तु वही परम्परा हिन्दी में क्यों चले? हिन्दी में कलकत्ता, पटना, काशी और इलाहाबाद साहित्य के गढ़ रहे हैं तो क्या उनके प्रान्तीय प्रयोगों को भी अलग-अलग प्रामाणिक माना जाये, फिर जबलपुर, जयपुर, आदि नगरों के साहित्यकार अपनी परम्परा का आग्रह क्यों न करें? हिन्दी के व्याकरण के सर्वमान्य नियम हैं कि कर्तृवाच्य में कर्त्ता के लिंग और वचन के अनुसार क्रिया के लिंग वचन होते हैं और कर्मवाच्य में कर्म के लिंग वचन के अनुसार। इन्हीं के अनुसार (१) लेखनी उठानी चाहिये। (२) शिक्षा लेनी चाहिये। (३) जड़ी बूटियाँ इकट्ठी करते थे, जैसे प्रयोग उचित माने जायेंगे, केवल दिल्ली की बोलचाल की सनद के कारण नहीं। अन्यथा लखनऊ, काशी, इलाहाबाद, कलकत्ता, पटना आदि नगरों के प्रान्तीय भेदों को भी प्रामाणिक मानना पड़ेगा और इससे भाषा में सचमुच बहुरूपियापन आ जायेगा। मुहावरा या भाषा-प्रवाह की ओट लेकर इन विभेदों को बढ़ाना उचित नहीं माना जा सकता, विशेष कर जब हिन्दी राष्ट्र-भाषा हो गयी हो।

उर्दू में भले ही वह यह का एकवचन और बहुवचन दोनों में प्रयोग होता हो किन्तु हिन्दी में आरम्भ से ही वह और यह एकवचन में तथा वे और ये बहुवचन में प्रयुक्त होते रहे हैं। पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने हिन्दी के पुराने कवियों के अनेक उद्धरण देकर इस बात को सिद्ध कर दिया है।[२] हिन्दी में एकवचन में यह, वह के और बहुवचन में ये, वे के प्रयोग को ही शुद्ध माना जाना चाहिए।

---

१. गु. नि. पृ. ४६६।
२. श्री गो. नि. पृ.—आत्माराम की टें टें ३५-३८।

हिन्दी के लेखकों ने पिछले साठ वर्षों में मुख्यत; हिन्दी परम्पराओं को ही आगे बढ़ाया है। उत्तरोत्तर उर्दू की ओर देखने की प्रवृत्ति कम हुई है। उर्दू के अतिरेकों को हिन्दी में चलाने का प्रयास करने वाले लेखकों की संख्या नगण्य है। यह हिन्दी की शक्ति और स्वतन्त्र साहित्यिक चेतना का प्रमाण माना जाना चाहिए।

हिन्दी में प्रचलित दूसरी भाषा के शब्दों में भी संस्कृत व्याकरण के अनुसार पर-सवर्ण षत्व और णत्व का विधान करना अनुचित है, इस बारे में द्विवेदीजी और गुप्तजी दोनों सहमत हैं।[१] दोनों का मत है कि पोस्टमास्टर की जगह पोष्टमाष्टर और गवर्नमेन्ट की जगह गवर्नमेण्ट लिखना ठीक नहीं है। द्विवेदीजी जी अन्जुमन की जगह अञ्जुमन लिखना भी अनुचित मानते हैं। द्विवेदीजी और गुप्तजी के मतभेदों को इतना उछाला गया है कि दोनों का बहुत से विषयों पर मतैक्य था, यह तथ्य दब गया है। हमारी धारणा है कि दोनों विद्वानों के मतों में भिन्नता से समानता कहीं अधिक थी। वस्तुगत दृष्टि से विचारने पर सहजता से यह तथ्य प्रमाणित किया जा सकता है।

तीसरा प्रश्न गुप्तजी द्वारा द्विवेदीजी की भाषा पर लगाये गये आरोपों से उभरा। गुप्तजी का मत था, 'द्विवेदीजी तरजमे से भाषा तैयार करते हैं, उसमें असलियत कहाँ? भाषापन कहाँ?'[२] क्योंकि 'लिखने की भाषा भी वही अच्छी समझी जाती है, जो बोलचाल की भाषा हो, मनघड़न्त न हो।.... शिक्षित लोगों की बोलचाल लिखी जाने पर बहुत काल तक ठहरती है और समझ में आती है। वह खूब गठीली और चुस्त होती है, गुट्ठल और बेडौल नहीं होती।'[३] द्विवेदीजी की भाषा में जहाँ संस्कृत के कुछ कठिन शब्द आये हैं, वहाँ गुप्तजी को जटिलता की शिकायत हुई है।[४] ऊपर लिखा जा चुका है कि १-१२-१८९९ के अपने पत्र में गुप्तजी ने द्विवेदीजी से सरल भाषा लिखने का अनुरोध किया था। किंचित् कठिन संस्कृत शब्दों के साथ हो जहाँ द्विवेदी जी की शैली भी गम्भीर हो जाती थी वहाँ गुप्तजी की शिकायत और बढ़ जाती थी। उदाहरण के लिए द्विवेदीजी के एक वाक्य पर गुप्तजी की प्रतिक्रिया देखिये। 'आप व्याकरण शास्त्र का पता बताते हैं—'व्याकरण वह

---

१. वा. वि. पृ. १०७ गु. नि. पृ. ४८६।
२. गु. नि. पृ. ४३६।
३. वही, पृ. ४४२-४३।
४. वही, पृ. ४८४।

शास्त्र है, जिसमें शब्दों और वाक्यों के परस्पर सम्बन्ध के अनुसार अपेक्षित अर्थ के जानने के नियम होते हैं।' क्या गुट्ठल इबारत है। मजाल है कोई जरा अर्थ समझ जाय।'[१] एक बात को कई बार दोहराने और संक्षेप में कही जा सकनेवाली बात को बहुत विस्तार से कहने का आरोप भी उन्होंने द्विवेदी जी पर कई बार लगाया था। इन आरोपों से यह बात अपने आप झलकती है कि गुप्तजी सरल, स्वाभाविक, स्वच्छ, चुस्त, चुटीली, गठीली भाषा को अच्छी भाषा समझते थे। निश्चय ही ऐसी भाषा अच्छी कही जायेगी किन्तु गम्भीर, उदात्त, अलंकृत भाषा भी अच्छी हो सकती है।

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि गुप्तजी के आरोपों में सत्यांश है। यह सच है कि द्विवेदीजी की भाषा में प्रवाह कम है। अंग्रेजी, संस्कृत, मराठी, बंगला, उर्दू आदि भाषाओं से अनुवाद उन्होंने बहुत अधिक किया था और स्वभावतः उनकी भाषा स्वच्छन्द न होकर बँधी-बँधी सी लगती है : उसमें कई स्थानों पर शिथिलता भी दृष्टिगोचर होती हैं। किंतु वह कठिन या जटिल कहीं-कहीं ही हुई थी साधारणतः उन्होंने प्रसाद गुण का ध्यान जरूरत से ज्यादा रखा था। उनकी अनपेक्षित विस्तारयुक्त व्यास शैली इसी इच्छा का परिणाम है कि लोग उनकी बात को ठीक-ठीक समझ जाएँ। आचार्य शुक्ल ने भी उनकी व्यास शैली पर चुटकी लेते हुए कहा था, 'द्विवेदीजी के लेखों से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है। एक-एक सीधी बात कुछ हेरफेर—कहीं-कहीं केवल शब्दों के ही—के साथ पाँच छः तरह से पाँच छः वाक्यों में कही हुई मिलती है।'[२] किंतु फिर भी यह सच है कि द्विवेदीजी की व्याकरण शुद्ध भाषा को देखकर उस समय के बहुत से लेखकों ने शुद्ध हिंदी लिखनी सीखी। सरस्वती के सम्पादन-काल में द्विवेदीजी ने अनेकों लेखकों की व्याकरण-विरुद्ध भाषा का संशोधन कर ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य किया है। वस्तुतः द्विवेदीजी हिंदी भाषा के समर्थ शास्ता थे और गुप्तजी कुशल प्रयोक्ता।

चौथे प्रश्न के सम्बन्ध में गुप्तजी का मत था, 'पुराने लेखक इस समय के लोगों के पथ-प्रदर्शक और पायोनियर थे। उनकी मेहनत की तरफ ध्यान करना चाहिये। वह पथपरिष्कार न करते तो इस समय के लोग चलते किधर से।'[३] अतः उनकी भूलें निकालना नितांत अनुचित है। विशेष

१. वही, पृ. ४३७-३८।
२. हि. सा. का इति. पृ. ५०९।
३. गु. नि. पृ. ४६७।

कर बाबू हरिश्चन्द्र की भूल निकालने के कारण द्विवेदीजी पर वे बहुत क्षुब्ध हुए थे। द्विवेदीजी का सिद्धांत यह था कि पुराने लेखकों के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हुए भी भाषा के विकास के लिए उनकी त्रुटियों की परीक्षा करना, न अन्याय है, न अपराध, हमेशा से ऐसा होता आया है और आगे भी ऐसा होगा, तभी भाषा और साहित्य का समुचित कल्याण हो सकेगा।'[१]

गुप्तजी की श्रद्धा भावना का समादर करते हुए भी हम समझते हैं कि द्विवेदीजी का मत ही अनुकरणीय है। प्राचीनों के प्रति सम्मान भाव रखकर उनकी त्रुटियों से बचने के लिए उन पर विचार करने में कोई दोष नहीं है। हमारे पूर्वज भी इसी मत के थे। 'सर्वत्र जयमन्विच्छेत् पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्' 'दोषावाच्या गुरोरपि' जैसे वाक्य उन्हीं की विरासत हैं। सर्वत्र जय की इच्छा रखते हुए भी पुत्र और शिष्य से पराजय की कामना करना, गुरुओं के दोष भी विचारणीय हैं, कहना न केवल उनकी विशाल-हृदयता का परिचायक है बल्कि इस सत्य का भी कि वे जानते थे कि इसी प्रकार संस्कृति का रथ आगे बढ़ सकता है। हाँ, मिथ्या अभिमान और गुरुजनों के अपमान की भावना से किये गये ऐसे प्रयास निन्द्य हैं। किन्तु द्विवेदीजी पर ऐसा आरोप लगाना सत्य का अपलाप करना होगा। यहीं यह भी उल्लेखनीय है कि 'संवादपत्रों का इतिहास' लिखते समय स्वयं गुप्तजी ने भारतमित्र में प्रकाशित भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के एक विज्ञापन की इस प्रकार आलोचना की थी, 'इस विज्ञापन के आरंभ की भाषा बहुत ढीली है, इसमें कई शब्द भर्ती के हैं और उसके अन्तिम वाक्य से वह अर्थ नहीं निकलता जो निकलना चाहिये।'[२] इसी के आगे भारतमित्र में प्रकाशित बाबू हरिश्चंद्र की खड़ी बोली की एक कविता की भी आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा था 'लिखने की चेष्टा की है, पर ठीक हो नहीं सका। 'फिरती है' की जगह फिरें लिखा है तथा अच्छा लिखा है।.........पके का पक्के लिखना पड़ा है और 'भी' भारी हो गई है। इस प्रकार की बहुत सी कठिनाइयाँ वर्त्तमान हिन्दी में कविता करनेवालों को पड़ती हैं और पड़ेंगी'[३] क्या अब भी भारतेन्दु हरिश्चंद्र की आलोचना करने के लिए द्विवेदीजी दोषी ठहराये जा सकते हैं?

पाँचवें प्रश्न के सम्बन्ध में दोनों विद्वानों के विचार मिलते जुलते होकर भी कहीं कहीं एक दूसरे के विरुद्ध चले जाते थे। हिन्दी के शब्द भण्डार के

---

१. वा. वि. पृ. ३४५-४६. १४८-४९।

२. गु. नि. पृ. ४०३।

३. गु. नि. पृ. ४०४।

सम्बन्ध में सिद्धान्ततः दोनों का मत एक ही है। दोनों मानते हैं कि हिन्दी में संस्कृत के सरल शब्द और ऐसे विदेशी शब्द जिन्हें सब लोग समझते हैं, प्रयुक्त होने चाहिये। विदेशी भावों और मुहावरों का अनुवाद हिन्दी की प्रकृति के अनुसार होना चाहिए, यह भी दोनों को मान्य है। द्विवेदीजी का आग्रह है कि ऐसे शब्द जिनका संस्कृत में कुछ अर्थ है पर हिन्दी में अब वे दूसरे अर्थ में प्रयुक्त होने लगे हैं, त्याज्य होने चाहिए। उन्होंने बाधित, निर्भर, आन्दोलन और कटिबद्ध आदि शब्दों को इसी कोटि में रखा था। गुप्तजी बाधित के त्याग से सहमत होकर भी अन्य शब्दों को उचित मानते थे और भिन्न भाषाओं में जाकर मूल भाषा के शब्दों के अर्थ-परिवर्तन के अनेक उदाहरण देकर सिद्ध करना चाहते थे कि इसमें सिद्धान्ततः कोई दोष नहीं है।

ऐसे कुछ शब्द तो बँगला से आये थे और कुछ अंग्रेजी शब्दों के लिये गढ़े गये थे। निर्भर, आन्दोलन और कटिबद्ध अपने नये अर्थों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए। पिछले साठ वर्षों में उनका प्रयोग इतना बढ़ा है कि अब उनकी खटक निकल गयी है। अतः मानना पड़ेगा कि समय का निर्णय गुप्तजी के अनुकूल हुआ है। किन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि द्विवेदीजी पर चोट करने का अवसर पाने पर गुप्तजी अपना यह सिद्धांत भूल जाते थे। द्विवेदीजी का वाक्यांश था, उससे समाज की बड़ी हानि होगी। इस पर गुप्तजी की छींटाकशी देखिये 'किस समाज की हानि होगी? आर्य समाज को? या ब्रह्म समाज की? यह समाज भी आपके अंगरेजी तरजमे की खराबी है। इसका अर्थ इस समय तो समझ में नहीं आता सौ वर्ष बाद आने लगे तो दूसरी बात है।'[१] यह बिलकुल धींगा-धींगी है। सोसायटी के अर्थ में समाज का प्रयोग यहाँ बिलकुल समीचीन है और निर्भर या आंदोलन' की तुलना में अपने मूल अर्थ के बहुत निकट है।

वस्तुतः वे दोनों विद्वान एक ही उद्देश्य से चालित होकर एक ही क्षेत्र में एक ही व्रत के व्रती होकर कार्य कर रहे थे। दोनों में आंतरिक सौहार्द्र था, यह दुर्भाग्य की बात है कि साधारण सी बात को लेकर दोनों में मन-मुटाव हो गया जिसके चलते एक साहित्यिक विवाद में अनावश्यक कटुता आ गयी किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस विवाद के फलस्वरूप हिन्दी जगत् में जो आलोड़न और विचार-विमर्श हुआ उससे भाषा परिष्कार का

१. गु. नि. पृ. ४४८।

कार्य बहुत आगे बढ़ा। इसका ऐतिहासिक महत्त्व है और इसे वितण्डा कहकर उड़ा देने की चेष्टा अनुचित है।

अपने लेख का उपसंहार करने के पूर्व हम यह आवश्यक समझते हैं कि इस विषय से सम्बद्ध हिन्दी के कुछ शोध ग्रन्थों में इस ऐतिहासिक विवाद का कैसा मूल्यांकन किया गया है, इसके कुछ नमूने पेश करें। डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र के शोध प्रबंध 'हिंदी आलोचना उद्‌भव और विकास' में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के भाषा-सम्बन्धी विवादों की चर्चा के अन्तर्गत कहा गया है, 'भाषा और व्याकरण नामक निबन्ध ऐसे ही वाद-विवाद के सिलसिले में लिखा गया है इसमें बालमुकुन्द गुप्त के प्रतिवादों का तर्कयुक्त खण्डन है। 'अनस्थिरता' शब्द पर भी पर्याप्त वाद-विवाद रहा।'[१] कुल जमा दो पंक्तियाँ और वे भी कितनी सारपूर्ण! स्पष्ट है कि इन पंक्तियों को लिखते समय तक विद्वान् शोधकर्त्ता ने 'भाषा और व्याकरण' तथा 'भाषाको अनस्थि-रता' दोनों में से एक भी निबन्ध नहीं पढ़ा था। आलोचक बालमुकुन्दगुप्त पर इस पुस्तक में इन दो पंक्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं लिखा गया है। कैसा ठोस शोधकार्य है डॉ० मिश्रका।

डॉ० उदयभानु सिंह के शोध-प्रबंध 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' के तीसरे अध्याय में 'अनस्थिरता का वितण्डावाद' उपशीर्षक देकर एक पृष्ठ से भी कम में इसका इतिवृत्तात्मक विवरण देने का प्रयास किया गया है। डॉ० सिंह के वर्णन से ज्ञात होता है कि 'भाषा और व्याकरण लेख में अपने प्रयोग को अशुद्ध बताये जाने से क्रुद्ध होकर बालमुकुन्द गुप्त ने भाषा की 'अनस्थिरता' लेख माला प्रकाशित की थी जिसका मुँहतोड़ उत्तर गोविन्द-नारायण मिश्र ने दे दिया। इस पर 'बालमुकुन्दगुप्त ने 'हम पंचन के ट्वाला माँ' लेख लिखकर द्विवेदीजी की बोली बैसवाड़ी का उपहास किया। जिसका उत्तर, क्षुब्ध द्विवेदी जी ने 'सरगौ नरक ठिकाना नाहिं' शीर्षक आल्हे से दिया जिससे गुप्तजी खिसिया गये। फरवरी १९०६ ई० में द्विवेदीजी ने भाषा और व्याकरण' लेख लिख कर गुप्तजी की उक्तियों का विस्तृतखंडन किया। भारतमित्र और सरस्वती का यह झगड़ा बरसों चला। उस वाद-विवाद में साहित्य के दिग्गज विद्वानों ने ओछापन दिखलाया। विवाद के उपरान्त गुप्तजी ने द्विवेदी के चरणों पर सिर रख दिया और द्विवेदीजी ने उन्हें हृदय से लगा लिया।[२] इस संक्षिप्त और सदोष

१. हिं. आ. उ. वि., पृ. २६१।

२. म. प्र. द्वि. और उ. यु. पृ. ६६-६७ का सारांश।

विवरण से लगता है कि जैसे द्विवेदीजी ने अनायास ही गुप्तजी को परास्त कर दिया हो, जब कि वास्तविकता यह थी कि गुप्तजी के प्रहारों से द्विवेदीजी विचलित हो गये थे और तत्कालीन अधिकांश विद्वानों को उनका पक्ष दुर्बल प्रतीत हुआ था। अनस्थिरता के प्रयोगगत औचित्य अनौचित्य के बारे में विद्वान् लेखक ने न यहाँ कुछ कहा है न 'भाषा और भाषा सुधार' सम्बन्धी अध्याय में। द्विवेदी जी ने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक मूल लेख में गुप्तजी का नाम देकर कोई दोष नहीं दिखाया था। इस लेख में उन्होंने अवश्य कुछ ऐसी पंक्तियाँ लिखी थीं जिनसे ज्ञात होता है कि पहले लेख में बिना नाम दिये 'भारतमित्र' से कुछ उद्धरण देकर उनके दोष दिखाये गये थे, किन्तु यह नहीं स्पष्ट होता कि वे उद्धरण गुप्तजी के ही थे। डॉ० सिंह ने जिस निश्चय के साथ 'बालमुकुन्दगुप्त के भी दोष दिखाये' लिखा है, उससे उनका आधार जानने की इच्छा होती है। जहाँ तक हम जानते हैं 'बालमुकुंद गुप्त ने 'हम पंचन के ट्वाला मां' शीर्षक कोई लेख नहीं लिखा था। हाँ, 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक पहले लेख में ही एक वाक्य में इसका प्रयोग अवश्य किया था, 'वही जिसकी रचनाओं को पढ़कर 'हम पञ्चन के ट्वाला माँ' बोलने वाले हिंदी बोलने को चोंच खोलने लगे हैं।'[१] यह कहना भी ठीक नहीं है कि गुप्तजी कल्लू अल्हइत का आल्हा पढ़ कर खिसिया गये थे, उन्होंने उसको अपने लेख में गम्भीरता से लिया नहीं था सिर्फ उस पर फबती कसी थी। उसके जवाब में गुप्तजी ने भी व्यंग्य कविताएँ लिखी थीं 'गुरुजी का हाल' और 'व्याकरणाचार्य'। भारतमित्र और सरस्वती का यह झगड़ा बरसों नहीं चला था गुप्तजी ने भाषा की अनस्थिरता का पहला लेख सम्भवतः दिसम्बर १९०५ के प्रथम सप्ताह में और उस लेखमाला का अन्तिम लेख ३ फरवरी १९०६ को लिखा था। उसके बाद दो या तीन महीने और नोंक-झोंक चली थी। १९०६ के अक्टूबर में वह द्विवेदी-गुप्त मिलन हुआ था जिसकी चर्चा डॉ० सिंह ने इस प्रकार की है जैसे गुप्तजी ने अपनी आलोचनाओं के लिए क्षमायाचना की हो। वस्तुतः गुप्तजी अपनी धार्मिक भावनाओं के कारण ब्राह्मणों को पूज्य समझते थे और उनका चरण स्पर्श कर प्रणाम करते थे। द्विवेदीजी से विवाद के बाद भी वे इसी प्रकार मिले। पं० केदारनाथ पाठक ने द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ में इसको ऐसा रंग दे दिया है जिससे लगता है कि गुप्तजीने अपनी आलोचनाओं के लिए क्षमायाचना की हो।[२]

---

१. गु. नि., पृ. ४३४।
२. द्वि. अ. ग्र., पृ. ५३०-३२।

वस्तुत: गुप्तजी ने अपनी आलोचना कभी वापस नहीं ली थी और वे अन्त तक 'अनस्थिरता' को द्विवेदीजी की त्रुटि और हठधर्मी मानते रहे।

डा० सिंह ने 'भाषा और भाषा सुधार' में 'भाषा और व्याकरण' से गुप्तजी आदि पर तीव्र आक्षेप करने वाला एक उद्धरण अवश्य दिया है किन्तु गुप्तजी द्वारा संकेतित द्विवेदीजी की भाषा-सम्बन्धी त्रुटियों की चर्चा तक नहीं की है जब कि उचित तो यह था कि वे उनकी मीमांसा करते।

उन्होंने अपने शोध प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय 'युग और व्यक्तित्व' में 'पत्र पत्रिकायें' उपशीर्षक के अन्तर्गत लिखा है 'द्विवेदी युग के पूर्व उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में केवल दो ही दैनिक पत्र निकल सके थे 'सुधावर्षण' (१८५४ ई०) और भारतमित्र (१८५७ ई०) दोनों ही अकाल कालकवलित हो गए। १९११ ई० में दिल्ली दरबार के अवसर पर भारतमित्र दैनिक रूप में पुन: प्रकाशित हुआ किन्तु जनवरी १९१२ ई० में बन्द हो गया। मार्च १९१२ ई० से दैनिक रूप में वह फिर निकला और ७२ बर्ष तक चलता रहा।'[१] सुधावर्षण के बारे में तो हम जानते नहीं किन्तु भारतमित्र का प्रकाशन १७ मई सन् १८७८ ई० को हुआ था १८५७ ई० में नहीं। उस समय न वह दैनिक पत्र था, न ही अकाल कालकवलित हुआ था। अपने प्रकाशन के समय वह पाक्षिक था, अपनी दसवीं संख्या से वह साप्ताहिक हो गया और १८९७ ई० तक साप्ताहिक ही रहा। १८९७ से १८९९ तक वह दैनिक भी हुआ, पर इस बीच में उसका दैनिक संस्करण दो बार बन्द हुआ साप्ताहिक संस्करण पूर्ववत् चलता रहा। गुप्तजी के जीवन काल तक वह साप्ताहिक ही रहा। द्विवेदी युग की चर्चा करते समय पत्रकार, निबन्धकार एवं आलोचक के रूप में कहीं-कहीं गुप्तजी का नाम भर दे दिया गया है। उनकी देन का मूल्यांकन नहीं किया गया है। इन प्रामाणिक उल्लेखों और महत्त्वपूर्ण अनुल्लेखों के लिए क्या कहा जाये।

डा० नत्थन सिंह के शोधप्रबंध 'गद्यकार बाबू बालमुकुन्द गुप्त : जीवन और साहित्य' में स्वभावत: इस प्रसंग पर बहुत विस्तार से विचार किया गया है। हम उनकी केवल दो-तीन बातों की चर्चा करेंगे। उन्होंने लिखा है, "गुप्तजी ने.......'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक से दस लेख भारतमित्र (सन् १९०६ ई० में लिखे।'[२] इससे लगता है जैसे ये दसों लेख १९०६ में ही लिखे गये

१. म. प्र. द्वि. उ. मु., पृ. २७३।
२. ग. बा. गु. जी. सा., पृ. १७१।

थे। किन्तु यह लेखमाला संभवतः दिसम्बर १९०५ के पहले सप्ताह से निकलने लगी थी क्योंकि ३ फरवरी १९०६ को इसका दसवाँ लेख निकला था।

'अथ शब्दानुशासनम्' के ऊपर गुलेरीजी की टीका उद्धृत करने के बाद डा० सिंह ने टिप्पणी जड़ी है, 'गुलेरी जी के तर्क के आधार पर 'अनस्थिरता' का अर्थ किया जाय तो 'पीछे स्थिरता' होता है। जो द्विवेदीजी द्वारा अभिप्रेत अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता।'[१] समझ में नहीं आता कि इस टिप्पणी पर रोया जाय कि हँसा जाय। एक तो इससे यह स्पष्ट होता है कि डा० सिंह गुलेरीजी का व्यंग्य नहीं पहचान पाये हैं। गुलेरीजी नहीं मानते कि 'शब्दानुशासनम्' के अनु का अर्थ पीछे है। इसीलिए वे कहते हैं कि यदि वहाँ अनु होने से ही द्विवेदीजी ने यह अथ निकाला है कि पाणिनि ने अपने समय तक के शब्दों का ही अनुशासन किया था तो अनुष्ठान का अर्थ पीछे खड़ा होना, अनुमान का पीछे नापना, अनुसार का पोछे रेंगना, और अनुरोध का पीछे रोकना होना चाहिए, जो वस्तुतः नहीं है। गुलेरीजी के व्यंग्य को डा० सिंह ने अभिधा में ले लिया। चलिये वह भी कोई ऐसी बात नहीं किन्तु उसके बाद जो उन्होंने उसके अनुसार अनस्थिरता का अर्थ पीछे स्थिरता किया है, वह सचमुच विलक्षण है। भला अनस्थिरता के 'अन' का इस 'अनु' से क्या सम्बन्ध ?

द्विवेदीजी के इस दावे पर कि अप्पा शास्त्री विद्यावागीशजी ने अनस्थिरता को संस्कृत से शुद्ध मान लिया था, शंका करते हुए डा० सिंह लिखते हैं, 'पर द्विवेदीजी की उक्त बात को प्रामाणिक मानने में आपत्ति यह है कि उन्होंने वह विधि नहीं बताई जिसके द्वारा विद्यावागीशजी ने आलोच्य शब्द को शुद्ध मान लिया था। दूसरी ओर इसके ठीक विपरीत गुप्तजी तथा उनके समर्थकों ने सबल तर्क और पुष्ट प्रमाणों के आधार पर इस शब्द को अशुद्ध प्रमाणित कर दिया था।'[२] बहुत ठीक शंका है। डा० सिंह ने द्विवेदीजी के उद्धरण का सन्दर्भ यहाँ 'सरस्वती भाग ७, संख्या २ पृ० ७३-७४ दिया है किन्तु उन्हीं की पुस्तक के पृ० १९६ की पादटिप्पणी से ज्ञात होता है कि उस पृष्ठ के दोनों उद्धरण 'वाग्विलास' से दिये गये हैं। हमारी प्रार्थना है कि इसी वाग्विलास के पृ० ८४ की पादटिप्पणी को देखने का यदि वे कष्ट उठायें तो

---

१. वही, पृ. १७९।
२. वही, पृ. २०४।

उन्हें वह विधि मिल जायगी। हमारा विचार है कि उन्हें यह टिप्पणी स्वयं देख लेनी चाहिए थी। अब क्या वे कृपा कर बतायेंगे कि गुप्तजी ने (उनके समर्थकों की बात हम नहीं जानते) कहाँ सबल तर्क और पुष्ट-प्रमाणों के द्वारा अनस्थिरता को अशुद्ध प्रमाणित कर दिया था ? जहाँ तक हम जानते हैं गुप्तजी ने बार-बार द्विवेदीजी को चुनौती भर दी थी कि अनस्थिरता को व्याकरण से सिद्ध कर दीजिये।

डा सिंह ने गुप्तजी की भाषा की भूलें निकालकर अपनी विचक्षणता का परिचय दिया है, उसके भी एक दो उदाहरण देख लिये जायें। डा० सिंह लिखते हैं "गुप्तजी ने 'स' के स्थान पर 'श' 'स' की जगह 'ष', 'ट' के स्थान पर 'ठ' और 'उ' के स्थान पर 'अ' का प्रयोग भी किया है। उदाहरणार्थ, विकाश, ईष्ट इण्डिया, भठ्ठियों (यह छापे की भूल भी हो सकती है) 'फुटपाथ' आदि।"[१] क्या बारीक भूलें निकाली हैं डा० साहब ने। प्रार्थना है कि विकास और विकाश दोनों शब्द शुद्ध हैं। ईष्ट-इण्डिया के सम्बन्ध में आप गुप्तजी का निवेदन ही सुनें 'संस्कृत भाषा के अनुसार दूसरी भाषा के शब्दों में 'षत्व' 'णत्व' लगाना बुरा मालूम होता है। 'पोष्ट मास्टर' की जगह पर 'पोष्ट माष्टर' और 'गवर्नमेंट' की जगह 'गवर्नमेण्ट' लिखने से जी तो बहुत खराब होता है, पर कहीं-कहीं टाइप उसी ढंग के बने हुए हैं। इससे लिखने को चाहे जो लिखो कम्पोजीटर टाइप के अनुसार कर लेता है। बंगाल में यह दोष विशेष है, भारतमित्र भी इससे बचा हुआ नहीं है।' यह आपने पढ़ा तो जरूर होगा पर शायद भूल गये हों। इसी विचार से हमने यहाँ उद्धृत कर दिया। अब भी यदि आप 'ईष्ट-इण्डिया' की अशुद्धि गुप्तजी की ही मानते हों तो हम निरुपाय हैं। भठ्ठी का पहला ठ आपही के अनुसार छापे की भूल हो सकती है। फुट-पाथ में हमें तो कोई अशुद्धि दिखती नहीं....क्या करें।

एक जबरदस्त भूल डॉ० साहब ने गुप्तजी की ओर दिखायी है। उनका कहना है 'इसी प्रकार एकबचन 'वह' को गुप्तजी ने बहुवचन 'वे' के स्थान पर और 'यह' को 'ये' के स्थान पर भी प्रयोग किया है। यथा—'जब तक वह आँखें न होंगी' यहाँ आखें बहुवचन संज्ञा का 'वह' एकवचन सर्वनाम प्रयोग किया गया है। यह अशुद्ध है। 'वह' के स्थान पर 'वे' होना अपेक्षित था।' इसी को कहते हैं कि सात काण्ड रामायण हो गयी और यह पता नहीं चला कि सीताजी किसकी पत्नी थीं। डॉ० साहब के शोध का विषय 'गद्यकार बाल-

१. गु. नि., पृ. ४८६।

मुकुन्द गुप्त जीवन और साहित्य है और वे यहाँ खास अनस्थिरता विषयक-विवाद पर लिख रहे हैं और गुप्तजी की गलती निकालते हैं वे और ये के प्रयोग न करने की। उन्हें जानना चाहिए कि गुप्तजी वे और ये को ही गलत मानते थे, वह और यह को एकवचन और बहुवचन दोनों में प्रयुक्त करते थे और ऐसे ही प्रयोगों को शुद्ध मानते थे। डॉ० साहब से विनय है कि वे गुप्त-निबन्धावली के पृष्ठ ४६५-६६ एकबार फिर पढ़ जायें और अगर गुप्तजी से असहमत हों तो उनके सिद्धांत की आलोचना करें, वे ये को गलती न निकालें क्योंकि गुप्तजी का ही सिद्धान्त था, 'भूल वह होती है, जो भूल से लिखी जावे। जो बात मनुष्य जान कर लिखे वह तो भूल नहीं। वह राय है।'[१] एक बात और है, जब गुप्तजी की गलती निकालने जायें तो कृपया "....एक वचन 'वह' को गुप्तजी ने बहुवचन वे के स्थान पर और यह को ये के स्थान पर भी 'प्रयोग किया है" की जगह 'प्रयुक्त किया है' लिखें या यदि प्रयोग किया है' को ही रखना चाहें तो 'को' के स्थान पर 'का' कर दें क्योंकि गुप्तजी भाषा की स्वच्छता के बड़े पक्षपाती थे। "यहाँ आँखें' बहुवचन संज्ञा का 'वह' एकवचन सर्वनाम प्रयोग किया गया है' का जरा अर्थ भी बतायें और यह भी कि यहाँ 'वह' सर्वनाम है कि सार्वनामिक विशेषण ! इसी प्रकार का पांडित्य डॉ० नत्थन सिंह ने अपने ज्ञानगूढ़ शोध प्रबंध में अनेकानेक स्थानों पर प्रकट किया है।

जो हिंदी शोध कार्य के नियन्ता हैं, उनसे विनीत प्रार्थना है कि हिंदी शोध प्रबंधों की प्रामाणिकता के बारे में कुछ अधिक ध्यान रखें !

हमें खेद है कि यह विषयान्तर आवश्यकता से अधिक लम्बा हो गया। गुप्तजी की लिखी प्रमुख आलोचनाओं पर यत्किंचित् विचार कर लेने के अनन्तर हम इस स्थिति पर पहुँच गये हैं कि उनकी आलोचना शैली और उसके औचित्य अनौचित्य की चर्चा करें। गुप्तजी की परिचयात्मक आलोचना शैली अभिधा प्रधान है। ग्रंथ यदि पसन्द आया है तो उसकी उच्छ्वसित प्रशंसा है, जैसे श्रीधर पाठक एवं नन्ददास की कविताओं की आलोचनाएँ; यदि त्रुटियुक्त लगा है तो धीरे से किन्तु स्पष्टता से वैसा कह दिया है, जैसे तुलसी सुधाकर, अधखिला फूल, तहजोबुल इस्लाम आदि की आलोचनाएँ ! समर्थन की जगह समर्थन और विरोध की जगह विरोध किया है।

---

१. ग. वा. गु. जी. सा., पृ. २०६-२०७।

विषय-वस्तु सम्बन्धी आलोचनाएँ उन्होंने मुख्यतः उन ग्रन्थों या लेखों की की हैं जिनसे वे सैद्धांतिक रूप से असहमत थे, उदाहरणार्थ अश्रुमती, तारा, जैसी पुस्तकें तथा साहित्यसेवी, मि० ऐडवोकेट और प्रवासी आदि के लेख। इन विरोधों में भावुकता का अंश बहुत अधिक है। अतः शैली आवेशपूर्ण हो गयी है। इस आवेश को तर्क सहारा दिये हुए हैं किन्तु वह गौण है। आलोचक के लिए अधिक भावुक होना गुण नहीं कहा जा सकता। इन आलोचनाओं में वस्तुनिष्ठता की इसीलिए कमी है। पुरातन मर्यादा पर तनिक सा आघात भी उन्हें असह्य है और वे आतुरतापूर्वक उसका विरोध करते हैं। जहाँ नवीन विषय-वस्तु का उन्होंने समर्थन किया है वहाँ उनकी भूमिका सुझाव देने वाले की है, आज्ञा देनेवाले की नहीं। कविता में छन्द, यमक आदि का प्रयोग हो इसका समर्थन भी वे दूसरों को अपनी बात प्रमाणित करने का अधिकार देते हुए करते हैं, अपनी बात को अकाट्य मानकर नहीं। ये प्रयोग के स्थल हैं और वे दूसरों की मान्यताओं का उतना ही सम्मान करते हैं जितना अपनी मान्यताओं पर विश्वास ! भाषा सम्बन्धी आलोचनाओं में वे अधिक निश्चित भूमि पर खड़े प्रतीत होते हैं। भले ही दूसरा उन्हें गलत माने किन्तु उनका पक्का आत्मविश्वास है कि उन्हीं का पक्ष सही है। यह आत्मविश्वास उनकी आलोचनाओं को और शक्तिशाली बनाता है। निर्भीकता तो उनकी सहज संगिनी थी ही किन्तु भाषा के व्यंग्य-विनोदपूर्ण प्रयोग उन्होंने जैसे इस क्षेत्र में किये हैं, वैसे आलोचना क्षेत्र में और कहीं नहीं किये। दूसरे के प्रयोगों और सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ा देना उनके बाँयें हाथ का खेल है और वे बराबर ऐसा करते हैं। विवाद के लिए उनकी यह शैलो आदर्श है। हल्की, फुल्की चटुल, चंचल, तेजतर्रार व्यंग्य विनोदमयी भाषा प्रतिपक्षी को खिजला देती है, चौंधिया देती है, हतबुद्धि कर देती है। फिर भी हमारा मत है कि उनकी यह आलोचना शैली गंभीर आलोचना के लिए अनुपयोगी है। इस शैली से विचार की मर्यादा और स्थिति नहीं रह जाती, न मण्डनात्मक उपलब्धि हो सकती है। हिन्दी की गम्भीर आलोचना में उनकी परम्परा नहीं चलो। पं० पद्मसिंह शर्मा ने ही कुछ दूर तक उसका उपयोग किया। हाँ, खण्डन और विवाद के लिए वह उपादेय है किन्तु इस शैली से प्रतिपक्षी कायल होकर मत-परिवर्तन कर लेगा इसकी आशा कम ही करनी चाहिए। इसी शैली का प्रयोग अपेक्षाकृत रूप से एक न्यायोचित बात मनवाने के लिए गुप्तजी ने किया था किन्तु फल उलटा हुआ। द्विवेदीजी की जिद और बढ़ गयी। इसी शैली के आंशिक अनुयायी एवं अत्यन्त शक्तिशाली आलोचक डॉ० रामविलास

शर्मा के निर्मम और कभी-कभी पक्षपातग्रस्त खण्डनों का भी विधायक परिणाम नहीं निकला। अतः हमारी दृष्टि में इस शैली की उपयोगिता निषेधात्मक ही है।

डॉ० नत्थन सिंह ने गुप्तजी को तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति का बीजारोपण करनेवाला भी कहा है। डॉक्टर साहब ने जिस तरह खड्गविलास प्रेस के स्वामी बाबू रामदीन सिंह के प्रकाशन कार्य से भारतेन्दु द्वारा हिन्दी की उन्नति के कार्य की या विद्वानरहित भारत और इंगलैंड की तुलना करनेवाले गुप्तजी के वाक्यों के आधार पर यह मौलिक स्थापना की है वह उनके साहस के अनुकूल ही है। उनके समान साहस न होने के कारण हम इस सम्बन्ध में कुछ भी कहने में अपने को असमर्थ पाते हैं।

यह सच है कि साहित्य की आलोचना के क्षेत्र में गुप्तजी ने कोई ऐसा मौलिक या स्थायी महत्त्व का सिद्धांत प्रस्तुत नहीं किया जिससे वे हिन्दी के अग्रणी आलोचक माने जाते किन्तु अपने समय में उन्होंने जो किया उस युग की सीमा को देखते हुए वह निश्चय ही अभिनन्दनीय है। भाषा की आलोचना के क्षेत्र में उनका कार्य स्थायी महत्त्व का है। हिंदी भाषा के परिष्कार का श्रेय जितना द्विवेदीजी को दिया जाता है, उतना नहीं तो उससे कुछ ही कम गुप्तजी का भी प्राप्य है। व्याकरण के ऊपर शिष्ट-भाषा-प्रवाह को महत्ता स्थापित करना और सरल, स्वच्छ, गठीली, चुस्त प्रवाहपूर्ण भाषा का आदर्श उपस्थित करना उनकी दो बड़ी देनें हैं, जिन्हें कृतज्ञ हिन्दी-भाषी सदा याद रखेंगे। उनकी भाषा की श्रेष्ठता का सबसे बड़ा प्रमाणपत्र उनकी मृत्यु के तीन वर्ष बाद स्वयं आचार्य द्विवेदी ने दिया था। रायकृष्णदास के यह पूछने पर कि, 'आपकी राय में सबसे अच्छी हिन्दी कौन लिखता है ?' आचार्य द्विवेदी ने कहा था—'अच्छी हिन्दी बस एक व्यक्ति लिखता था—बालमुकुन्द गुप्त।'[१] हिन्दी भाषा के परिष्कार कार्य में प्रवृत्त दो प्रमुख विद्वान् हैं—पं० किशोरीदास वाजपेयी और बाबू रामचन्द्र वर्मा। दोनों ही गुप्तजी के प्रति श्रद्धानत हैं। वर्माजी ने यदि उन्हें १९०२-३ से ही भाषा क्षेत्र में अपना आदर्श मान रखा था[२] तो वाजपेयी जी ने अपना श्रद्धेय ! अपने को गुप्तजी का स्पष्ट आभारी मानते हुए उन्होंने कहा है, 'मैं इतना ही कह सकता हूँ कि आचार्य द्विवेदी को छोड़

१. बा. स्मा. ग्रं., पृ. ३६८।

२. वही, पृ. ३६२।

और कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जिसकी भाषा तथा आलोचना पद्धति का मेरे ऊपर वैसा प्रभाव पड़ा हो।'[१]

हिन्दी भाषा के शिव और रुद्र की शतवार्षिकी के अवसर पर हमारी विनीत वन्दना !

ग्रन्थपुटी एवं संकेत-सूची

(१) गुप्त निबन्धावली—स्वर्गीय बालमुकुन्द गुप्त स्मारक संस्करण गु० नि०

(२) बालमुकुन्द स्मारक ग्रन्थ—सं० श्री झाबरमल्ल शर्मा (प्रथम संस्करण)
श्री बनारसीदास चतुर्वेदी बा० स्मा० ग्रं०

(३) हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल सं. २००३
हि. सा. इ.

(४) वाग्विलास—आचार्य पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी (प्र. सं.) वा. वि.

(५) श्रीगोविन्द निबन्धावली—पं. गोविन्दनारायण मिश्र (प्रथमावृत्ति)
श्री गो. नि.

(६) महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग —डा. उदयभानु सिंह
(प्रथम आवृत्ति) म. प्र. द्वि. उ. यु.

(७) गद्यकार बाबू बालमुकुन्द गुप्त—डा नत्थन सिंह (प्र. सं.)
(जीवन और साहित्य) ग. बा. गु. जी. सा.

(८) हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास—डा. भगवत्स्वरूप मिश्र (प्र. सं.)
हि. आ. उ. वि.

(९) द्विवेदी अभिनन्दनग्रन्थ—काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वि. अ. ग्र.
उप. = उपलब्ध

अनुप अनुपलब्ध, न कि. गु. पुस्त. सु.
=नवलकिशोर गुप्त के तुस्तकालय में सुरक्षित

● ●

१. वही, पृ. ४११।

६.

स्वच्छन्दतावादी समीक्षक

नन्द दुलारे वाजपेयी

अपनी-अपनी दृष्टि से साहित्य की परीक्षा, समीक्षा और चर्चा पण्डित, समीक्षक और पत्रकार तीनों करते हैं। जिस प्रकार तीनों की दृष्टियाँ अलग२ होती हैं, उसी प्रकार उपलब्धियाँ भी। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी अपने साहित्यिक जीवन के एक दौर में पत्रकार भी थे और एक दौर में विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष भी (जो पद मुख्यतः पांडित्य की ही अपेक्षा करता है) किन्तु वे मूलतः समीक्षक ही थे, पत्रकार और पंडित नहीं। उनके कर्तृत्व को ठीक-ठीक समझने के लिए इन तीनों की भूमिकाओं का किंचित् विश्लेषण करना लाभदायक होगा।

पंडित किसी रचना की सृजन प्रेरणा के ऐतिहासिक कारणों को जाँच करता है, उसके मूल उपादानों की छानबीन करता है, प्रायः परम्परागत रूप से स्वीकृत प्रतिमानों के आधार पर उसका शास्त्रीय अध्ययन करता है, उसके पाठालोचन या भाषावैज्ञानिक विवेचन में प्रवृत्त होता है, परवर्ती साहित्य पर पड़े उसके प्रभाव का निर्धारण करता है किंतु जैसा कि प्रायः देखा गया है कि अपने तमाम शुष्क, ज्ञानपूर्ण अनुशीलन के बावजूद उस रचना के सौंदर्य का उद्‌घाटन नहीं कर पाता, उसकी मार्मिकता का रसास्वादन नहीं करा पाता। दूसरी तरफ पत्रकार किसी रचना को चलती सी चर्चा स्थूल, सामयिक दृष्टि से कर लेता है, अपनी सतही समझदारी के बल-बूते पर उसके सम्बन्ध में अनुकूल-प्रतिकूल फातवे देकर विवाद खड़ा कर पाने में चरितार्थता का अनुभव करता है। हिंदी के सन्दर्भ में ही बात करनी हो तो पहली कोटि के अन्तर्गत आते हैं, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० माताप्रसाद गुप्त आदि और दूसरी कोटि के अन्तर्गत पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर आदि। इन कोटियों से भिन्न कोटि होती है समीक्षक की, जो शुष्क गवेषणा और सनसनी-खेज फिकरेबाजी दोनों से बचकर रचना के मर्म में प्रवेश करता है, उसको कलात्मक सुंदरता का, उसकी सांस्कृतिक विशिष्टता का प्रतिपादन करता है, उससे प्राप्त होनेवाले आनन्द का, रस का आस्वादन करता—कराता है, जीवन को गति देनेवाली उसकी शक्ति का मूल्यांकन करता है, उसे व्यापक सन्दर्भ में

रखकर उसके महत्व का निरूपण करता है। उसमें पंडित के ज्ञान और पत्र-कार की प्रभविष्णुता का भी अन्तर्भाव रहता है किंतु सीमा के रूप में नहीं, गरिमा के रूप में। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ऐसे ही सुधी समीक्षक थे।

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि वाजपेयी जी को 'पंडित' से पृथक् कोटि का मानना उनकी विद्वत्ता पर शंका करना नहीं है। निश्चय ही वे गम्भीर विद्वान् तथा पूर्व और पश्चिम के साहित्य एवं साहित्य शास्त्र के मर्मज्ञ थे। हमारा अभिप्राय यही है कि वे पुरातात्विकता और शास्त्रीयता के खूँटों से बँधे रहने से इन्कार करते थे। उन्होंने 'पांडित्य' के क्षेत्र में भी काफी काम किया है, सूरसागर और रामचरितमानस का सम्पादन, दर्जनों शोध-प्रबन्धों का निर्देशन आदि इसके प्रमाण हैं किंतु यह उनकी मुख्य दिशा नहीं थी। वे स्वयं शोध कार्य में प्रवृत्त होकर भी नहीं हुए। यहाँ तक कि अपनी पुस्तक 'महाकवि सूरदास' के शोधपरक आरम्भिक परिच्छेद भी उन्होंने स्वयं नहीं लिखे, अपने निर्देशन में अपने छात्र श्री मधुसूदन वाखले से लिखवाये और भूमिका में उन्हें अपने मुखर आशीर्वाद दिये। सूरदास को छोड़कर उन्होंने किसी प्राचीन कवि पर विस्तारपूर्वक नहीं लिखा। न हिंदी साहित्य के इतिहास के अनुसन्धान में, न सैद्धांतिक समीक्षा के मौलिक गम्भीर विवेचन में ही रस लिया। इतिहास सम्बन्धी उनकी छोटी सी पुस्तक और पूर्वी पश्चिमी समीक्षा सिद्धान्तों से सम्बन्धित उनके कुछ निबन्ध मुख्यतः परिचयात्मक एवं प्राध्यापकीय उत्तरदायित्व के निर्वाह मात्र हैं।

सिर्फ इतना ही नहीं, उन्होंने स्थान-स्थान पर शुष्क पांडित्य पर कटाक्ष भी किये हैं, उसे 'स्थविर शास्त्राचार' कहा है। परम्परागत पंडितों के प्रति उनकी मान्यता थी कि उनमें, 'पांडित्य की प्रचुरता तो थी, परन्तु उसका प्रयोग अधिकतर शास्त्रार्थी पद्धति पर किया जाता रहा। लोग बाल की खाल अधिक निकालते थे।'[१] उनकी दृष्टि में पश्चिमी पण्डितों की छत्रछाया में प्राच्य अनुसन्धान के कार्य में संलग्न भारतीय 'पण्डितों की सबसे बड़ी कमी यह थी कि वे अपने पश्चिमी अभिभावकों द्वारा बाँधी गयी लीक से बाहर निकलने में असमर्थ थे।'[२] सीधे पश्चमी पंडितों की संकीर्ण साहित्यिक दृष्टि से असहमी प्रकट करते हुए उन्होंने कहा था, 'पश्चिम के पण्डितों ने काव्य की परिधि बनाते हुए न जाने क्यों धार्मिक और आध्यात्मिक कृतियों को उससे

---

१. महाकवि सूरदास, पृ. ५।
२. ,, ,, ५।

बहिष्कृत सा कर दिया है और ब्लैक, ब्राउनिंग जैसे दार्शनिक कवियों को भी उनका उचित आसन देने में संकोच करते हैं।'[१] केवल पांडित्यपूर्ण गवेषणा करनेवालों को साहित्य-समीक्षक मानने में उन्हें आपत्ति थी। उनकी उक्ति है, 'हमें यह देखकर प्रसन्नता होती है कि डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त जैसे नये शोधकर्ताओं ने साहित्य समीक्षा तथा शोधकार्य का अन्तर समझकर दोनों के बीच चक्कर लगाने की आदत छोड़ दी है।'[२] आ० द्विवेदी सम्बन्धी उनकी मान्यता को हम संशोधन-सापेक्ष मानते हैं, फिर भी इससे उनकी दृष्टि तो स्पष्ट होती ही है। प्राच्य और पाश्चात्य पांडित्य की उपलब्धियों के ज्ञाता होते हुए भी उनकी रूढ़ियों से बँधने से इन्कार करना, शास्त्र-दृष्टि पर आत्म-दृष्टि को प्रधानता देना समीक्षक नन्द दुलारे वाजपेयी की स्वच्छन्दता का एक प्रमुख तत्व है।

यदि वे पांडित्य के घटाटोप से, उसके भारी भरकम निर्णयों से साहित्यिक विदग्धता को आक्रांत होने देना नहीं गवारा करते थे तो पत्रकारों की हल्की फुल्की रायजनी तो उनके लिए और भी अग्राह्य थी। साहित्य और जीवन के प्रगाढ़ पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकारते हुए भी उसके निरूपण में गम्भीरता की मांग एवं सतही पत्रकारी फतवों से वितृष्णा प्रकट करते हुए उन्होंने व्यंग्यमयी शैली में लिखा था, 'जीवन इतना रहस्यमय और अज्ञेय है और परिस्थितियाँ इतनी बहुमुखी हैं कि इस सम्बन्ध में अधिक से अधिक सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, नहीं तो एक कलकतिया सम्पादक जी की तरह सैनिक और साहित्यिक तथा आनन्द भवन और शान्ति निकेतन के बीच में ही अटक रहने का भय है।'[३]

किन्तु जिस प्रकार पांडित्य की परम्परा से अभिभूत न होते हुए भी वैदुष्य का पुष्कल प्रमाण उन्होंने अपनी रचनाओं में दिया है (जो तत्व उनकी समीक्षाओं को श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की समीक्षाओं से पृथक् करता है) उसी प्रकार पत्रकारिता के 'चलतेपन' से बचकर भी उसके प्रश्न मुखर पैनेपन को, उसकी जीवन्त विवादोतेजकता को उन्होंने अपनाया है, (जिसके फल-स्वरूप उनकी समीक्षाएँ डॉ० नगेन्द्र की गुरुगंभीर समीक्षाओं की तुलना में अधिक प्रभावशाली एवं उपभोग्य बन पड़ी हैं।)

---

१. ,, पृ० ८७।
२. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ. २२१।
१. आधुनिक साहित्य पृ. ४०२

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी का ऐतिहासिक कार्य है प्रबल विरोधों के मध्य छायावाद काव्य के महत्व का प्रतिपादन एवं उसके सौन्दर्य का उद्घाटन करना। अवश्य ही श्री शांतिप्रिय द्विवेदी एवं डा० नगेन्द्र के कार्य भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण हैं किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि हरावल में आ० वाजपेयी ही थे। छायावादी काव्य की प्रतिष्ठा के लिए उसके अव्यवहित पूर्व की कविता की तुलना में उसकी श्रेष्ठता का तथा उसके सम्यक् मूल्यांकन में असमर्थ समीक्षकों के प्रतिमानों की संकीर्णता का दिग्दर्शन कराना आवश्यक था। अतीत से प्राप्त संस्कारों में संशोधन कर ही नयी पीढ़ी अपनी जीवन दृष्टि का निर्माण करती है अतः उसके लिए अनिवार्य हो जाता है कि वह अतीत विशेषतः निकट अतीत से अपनी भिन्नता और यदि सम्भव हो तो श्रेष्ठता प्रमाणित करे। आश्चर्यजनक निर्भीकता, स्पष्टता और सफलता के साथ वाजपेयी जी ने यह कार्य सम्पन्न किया। वाजपेयी जी मुख्यतः कविता के ही आलोचक रहे हैं। प्रसंगवश उपन्यास, कहानी, नाटक आदि की चर्चा भी उन्होंने की है किन्तु काव्य समीक्षा के सदृश तलस्पर्शिता का आभास उनकी अन्य समीक्षाओं में नहीं मिलता।

द्विवेदीयुगीन कविता की तुलना में छायावादी कविता को समृद्धतर सिद्ध करना अपेक्षाकृत रूप से सरल कार्य था। आ० महाबीर प्रसाद द्विवेदी के सम्बन्ध में दिया गया उनका यह निर्णय कि उनकी कृतियों में, 'न कल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि, केवल एक शुद्ध प्रेरणा है जो भाषा का भी मार्जन करती है और समय पर सरल उदात्त भावों का भी सत्कार करती है।'[1] द्विवेदीयुगीन कविता के लिए भी सही है। उसके प्रतिनिधि कवि श्री मैथिली शरण गुप्त की मूलभूत विशेषता को रेखांकित करते हुए वाजपेयी जी ने कहा है, 'सारग्राही सरलता के साथ-साथ गुप्तजी की आदर्शवादिता भी चलती है। उस आदर्शवादिता में औदात्य उतना नहीं है, जितनी एक भावुकतामय नैतिकता।[2] अपने कथन की सारवत्ता को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने प्रायः समान विषयों एवं भावों पर रचित गुप्त जी एवं भावों पर रचित गुप्तजी एवं प्रसाद जी के प्रतिनिधि काव्यांशों की तुलनात्मक विवेचना भी की और यह निष्कर्ष निकाला कि प्रसाद जी के काव्य (छायावादी काव्य) में 'एक नई कल्पनाशीलता, नूतन जागरूक चेतना, मानसवृत्तियों की

---

१. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ. ११।
२. ,, ,, ,, ,, ३२।

सूक्ष्मतर और प्रौढ़तर पकड़, एक विलक्षण अवसाद, विस्मय, संशय और कौतूहल जो नई चिन्तना का सूक्ष्म प्रभाव है, प्रकट हो रहा है।'[१] तथा युगानुरूपता की दृष्टि से उसमें कुछ कमियाँ भले हों 'किन्तु गुप्तजी की एकान्तिक आदर्शवादिता और सीधी सादी भावव्यंजना से कई कदम आगे वह अवश्य है।'[२]

पूर्ववर्त्ती समीक्षा के प्रतिमानों की सीमाओं का निर्देश कर पाना अधिक कठिन कार्य था क्योंकि उसके नियन्ता थे आ० रामचन्द्र शुक्ल, जो न केवल हिन्दी के क्षेत्र में बल्कि अखिल भारतीय क्षेत्र में साहित्य समीक्षा की दृष्टि से अत्यन्त मौलिक एवं प्रशस्त कार्य कर गये हैं। काव्य समीक्षा के उनके प्रतिमान न केवल वाल्मीकि, कालिदास, सूर, तुलसी, जायसी की कृतियों के आधार पर निर्मित हुए थे बल्कि उनपर शैली, कीट्स आदि की कृतियों के अनुशीलन की भी गहरी छाप थी। केवल भरत, मम्मट, विश्वनाथ आदि ही नहीं, मैथ्यु अर्नाल्ड एवं रिचार्ड्स आदि भी उनकी दृष्टि के समक्ष थे। श्रेण्य संस्कारों के बावजूद वे स्वच्छन्दतावाद के प्रशंसक थे। जायसी, धनआनन्द की ही नहीं, श्रीधर पाठक एवं मुकुटधर पांडेय की स्वच्छन्दता की भी सराहना उन्होंने की थी। अपने 'इतिहास' के प्रवर्धित संस्करण में उन्होंने छायावाद की जो संक्षिप्त एवं मार्मिक आलोचना की है, वह उसकी सीमा को ही नहीं शक्ति और सुन्दरता को भी उद्घाटित करती है और आज भी कई दृष्टियों से बेजोड़ है। छायावाद के आरंभिक काल में उन्होंने उसकी वादग्रस्त रहस्यात्मकता का ही विशेष विरोध किया था जिसे वे स्वाभाविक रहस्यानुभूति से भिन्न, साम्प्रदायिक एवं अनुकरणमूलक मानते थे, साथ ही अभिव्यंग्य को गौण एवं अभिव्यंजना को अतिशय प्रधानता देनेवाली दृष्टि को भी वे अनुचित मानते थे क्योंकि उससे हवाई कल्पना के कारण ऐसे निरर्थक वाग्जाल को प्रोत्साहन प्राप्त होता है जिसका अनुभूति की सच्चाई से बहुत कम सम्बन्ध रह जाता है। ईमानदारी का तकाजा है कि यह स्वीकार कर लिया जाये कि उनके इन आरोपों में सत्यांश था और एक सीमा तक उनका शुभ प्रभाव भी पड़ा।

किंतु यह खेदजनक सत्य है कि आ० शुक्ल का पांडित्य छायावाद के रहस्यवादी स्तर को विदेशी भावापन्न एवं उसकी अभिव्यंजना को कृत्रिम सिद्ध करने में इतना उलझ गया था कि आरंभ में वे उसके आधारभूत गुणों के

१. जयशंकर प्रसाद पृ. ११।
२. „ „ १२।

फलस्वरूप हिन्दी काव्य में आये नवोन्मेष का, नवीन सौन्दर्य का स्वागत एवं सहृदय मूल्यांकन नहीं कर पाये। इस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति का श्रीगणेश किया आ० नन्ददुलारे वाजपेयी ने। अपने गुरु आ० शुक्ल से बहुत दूर तक प्रभावित होते हुए भी उन्होंने समीक्षा सम्बन्धी उनके प्रतिमानों को चुनौती दी। शुक्ल जी की छायावाद-रहस्यवाद की कठोर आलोचनाओं से क्षुब्ध होकर अपने युवक सुलभ आवेश एवं 'तलस्पर्शी एकांगिता' के आवेग में बहकर १९३१ में उन्होंने जो आक्रामक लेख उनके विरुद्ध लिखा, वह फेनिल होते हुए भी समीक्षा के पुराने प्रतिमानों के समक्ष कई प्रश्नचिह्न लगाने में समर्थ हुआ। १९४० में शुक्ल जी पर लिखे अपने दूसरे अधिक संयत एवं सन्तुलित लेख में वाजपेयी जी ने उनके समीक्षा संबंधी प्रतिमानों की प्रमुख कमियों का निर्देश करते हुए यह निष्कर्ष निकाला था कि 'शुक्ल जी की सारी विचारणा द्विवेदी युग की व्यक्तिगत, भावात्मक और आदर्शोन्मुख नीतिमत्ता पर स्थित है। समाज शास्त्र, संस्कृति और मनोविज्ञान की वस्तु-मुखी मीमांसा उन्होंने नहीं की है। प्रवृत्ति विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य विवेचन भी प्रबन्ध-कथानक और जीवन-सौंदर्य के व्यक्त रूपों का आग्रह करने के कारण सर्वांगीण और तटस्थ नहीं कहा जा सकता। नवीन युग की सामाजिक और सांस्कृतिक जटिलताओं का विवेचन और उनसे होकर बहने वाली काव्यधारा का आकलन हम शुक्ल जी में नहीं पाते।'[1] आदर्शोन्मुख नीतिमत्ता के स्थान पर (आदर्शोन्मुख !) स्वच्छंदता का, स्थूल व्यक्त सौंदर्य के साथ-साथ सूक्ष्म, रहस्यात्मक अव्यक्त सौंदर्य का, लोक मंगल को मूलतः स्वीकारते हुए भी कलात्मकता के महत्व का पूर्व निश्चित दार्शनिक, साहित्यिक सिद्धांतों की स्थिर कसौटियों को बाधक बताकर लचीले एवं गतिशील जीवन के संदर्भ में रखकर कलात्मक कृतियों के सौंदर्यानुसंधान का, घटना-परिस्थिति बहुल प्रबंधकाव्य की तुलना में मनःस्थिति विशेष की उत्कट संवेदनशीलता से युक्त प्रगतिमुक्तक का समर्थन एवं प्रतिष्ठापन वाजपेयी जी ने किया। 'व्यक्तित्व और कार्य की दृष्टि से अब तक नए समीक्षक उनकी (शुक्ल जी की) समता पर नहीं आ सके हैं 'इसे स्वीकारते हुए भी शुक्लोत्तर समीक्षा की उपलब्धि के संबंध में उनकी दृढ़ धारणा है, 'शुक्ल जी की अपेक्षा नई समीक्षा में साहित्य के ऐतिहासिक विकास और सामाजिक प्रेरणाशक्तियों, शैलीभेदों और कलास्वरूपों की परख अधिक व्यापक और मार्मिक है, इसमें संदेह नहीं। शुक्ल जी की नैतिक और बौद्धिक दृष्टि की अपेक्षा नए समीक्षकों की सौंदर्य-अनुमति और कलाप्रधान दृष्टि–एक

१. हि. सा. बी. श., १८७।

निश्चित प्रगति है·····'[1] कहना न होगा कि शुक्लोत्तर समीक्षा के इस रूप के प्रतिनिधि समीक्षक स्वयं श्री नंददुलारे वाजपेयी हैं।

प्रश्न है : समीक्षा के इन नये प्रतिमानों को वाजपेयी जी क्योंकर विकसित कर सके, क्या इनके द्वारा समग्र छायावादी काव्य की समुचित समीक्षा उन्होंने की, क्या परवर्ती साहित्य की सम्यक् आलोचना इनके आधार पर वे कर पाये ? वाजपेयी जी के कार्य के संदर्भ में ही इन प्रश्नों पर विचार करना संभव है।

पहले प्रश्न के उत्तर में यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि उनके ये प्रतिमान मुख्यत: छायावादी काव्य के अनुशीलनजन्य संस्कारों से निर्मित हुए हैं, यह ठीक है कि पूर्व और पश्चिम की समशील काव्य धारा में अवगाहन एवं तदनुरूप समीक्षा सिद्धान्तों के मनन द्वारा उन्होंने उन्हें और व्यापक तथा यथातथ्य बनाया किंतु यह द्वितीय स्तर पर किया गया कार्य है। अपने संस्कारों के रचनात्मक काल में प्रसाद, निराला, पन्त के नवोन्मेषशाली काव्य के सम्पर्क में आये और उनके 'प्राकृतिक अध्यात्म के शिलान्यास' से, उनके 'असाधारण उल्लास और वेग तथा उनकी सशक्त भाषा' से, उनकी 'अतिशय सजीव कल्पना सृष्टि' तथा 'कोमल अथच मार्जित' रुचि से आकृष्ट होकर उनके रंग में रँग गये। वस्तुत: कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा का अन्त: सम्बन्ध होता है एवं युगचेतना जिस प्रकार रचना के स्तर पर प्रतिफलित होती है, उसी प्रकार आलोचना को भी वह उद्दीप्त करती है। नयी रचनायें जब प्रचलित साहित्य शास्त्र की सीमाओं में नहीं समातीं तो ऐसी नयी आलोचना का विकास आवश्यक हो उठता है, जो उनकी संगत व्याख्या एवं समीक्षा कर सके, जो आलोचना के पुराने प्रतिमानों में उन नयी रचनाओं के आधार पर कुछ नये प्रतिमान जोड़ सके। छायावाद के सम्बन्ध में आ० वाजपेयी का अग्रणी कार्य इसी सत्य की पुष्टि करता है। 'नया साहित्य : नये प्रश्न' के निष्कर्ष में वाजपेयी जी ने स्वीकारा है, 'प्रसाद के 'आँसू' की मार्मिक पंक्तियाँ, निराला की 'तुम और मैं', 'जुही की कली' और अन्य अनेक रचनायें तथा 'पल्लव' के बहुत से प्रगीत विशिष्टता का प्रतिमान बनकर मेरे समक्ष आये थे। मेरा कार्य केवल विवेचन और व्याख्या करना था।'[2] प्रसाद, निराला, पन्त के काव्यानुशीलन से उपलब्ध प्रतिमानों के अनुकूल न होने के कारण ही वे अपने समीक्षक जीवन के आरम्भ में प्रेमचन्द को उनका वास्तविक प्राप्य नहीं दे सके थे। उन प्रतिमानों में स्वाभाविक रूप से संशोधन,

---

१. आधुनिक साहित्य, पृ. २८४-८५।
२. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ. २।

संवर्धन करने के बावजूद मूलतः उन्हीं के कारण वे अपने समीक्षक जीवन के मध्य और उत्तरकाल में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का अंशतः या समग्रतः प्रत्याख्यान करते रहे।

आगे बढ़ने के पहले संक्षेप में देख लिया जाये कि युग चेतना के किन उपादानों के आधार पर ये प्रतिमान टिके थे। अपने आदर्श कवियों की जीवन दृष्टि की समन्वित चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने कहा है, 'ये तीनों ही राष्ट्रीय स्वातंत्र्य के हिमायती, प्रजातंत्र के हिमायती और मानव के अंतर्निवित उत्कर्ष के हिमायती कवि हैं।...इनकी जीवन दृष्टि प्रमुखतः प्रगतिशील और महान् आस्थाओं से समन्वित है, यद्यपि वैयक्तिक वेदना और निराशा के झकोरे भी इनके काव्य में मिल जाते हैं।'[1] इन्हीं के अनुरूप साहित्यिक क्षेत्र में 'अनुभूति और अभिव्यंजना का युगपत् विन्यास' हुआ छायावाद में। जहाँ एक ओर प्रकृति और मानव जीवन के सम्बन्ध तथा प्रेम कल्पना को आध्यात्मिक भूमि पर पहुँचा देने के कारण उसमें 'उदात्त दार्शनिक और रहस्यात्मक अनुभूति की प्रमुखता' हुई, वहीं दूसरी ओर उसमें 'स्वातंत्र्य लालसा, शक्ति की अभिज्ञता और सांस्कृतिक द्वन्द्व की अनिर्दिष्ट स्थिति भी' देख पड़ी, जिसमें 'कल्पनात्मक और भावनात्मक प्रवृत्तियों की प्रमुखता है किन्तु 'कर्मचेतना' को सर्वथा उपेक्षा नहीं है। इन सब के साथ ही अविर्भाव हुआ 'भाषा में नई लाक्षणिकता का', परिष्कृत संगीतात्मकता का।' समस्त छायावादी काव्य इसी असाधारण सौंदर्य भूमि पर स्थित है।'[2]

राष्ट्रीय स्वातंत्र्य आंदोलन और सांस्कृतिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की साहित्यक अभिव्यक्ति के रूप में छायावादी काव्य की प्रतिष्ठा उनके विकसित युगबोध का प्रमाण है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि दार्शनिक या राजनीतिक चिंतन को साहित्य में वे अनुलोम स्थिति में ही स्वीकार करते थे। साहित्य में भावोन्नयन के साधन के रूप में उनका प्रभाव वे शुभ मानते थे किंतु साध्य रूप में उनकी प्रतिष्ठ के विरोधी थे। साहित्य में किसी साहित्येतर मूल्य को आत्यन्तिक स्थिति देने के लिए वे प्रस्तुत न थे, चाहे वह कोई क्रमागत साम्प्रदायिक दर्शन हो, चाहे राजनीतिक या मनोवैज्ञानिक मतवाद। औरों की बात तो जाने दीजिये पंतजी के परवर्ती विकास से भी वे इसी कारण असन्तुष्ट थे। उनका आरोप है, 'क्रमशः पंतजी के काव्य में बौद्धिक विश्लेषण की कृत्रिमता बढ़ती गयी है और काव्य का सहज प्रवेग क्षीण होता गया है।...'

१. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ. ४-५।
२. आधुनिक साहित्य, पृ. ६।

काव्य की अन्तरात्मा इनमें प्रशस्त रूप से प्रकाशित नहीं है। वह सिद्धांत चर्चा के वायुवेग में आक्रांत दीखती है। पांडित्य का मुलम्मा और मानसिक अवसाद की खोट छिपाये नहीं छिपती।'[१] महादेवी जी के काव्य के प्रति पर्याप्त आदर रखते हुए भी उनके काव्य में व्यक्त अतिशय रहस्यवादिता (जिसमें उन्हें प्राकृत अध्यात्म की जगह रूढ़ि के चिह्न मिलते हैं) तथा वेदना की 'एकपक्षिता' उन्हें प्रिय नहीं थी। एक स्थल पर तो उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि 'महादेवी जी के काव्य में छायावाद युग की विशेषतायें नहीं मिलतीं।[२] इन आरोपों का खंडन मंडन किये बिना हम यह निष्कर्ष तो निकाल ही सकते हैं कि वाजपेयी जी के साहित्यिक आदर्श के सर्वाधिक निकट प्रसाद और निराला ही थे बल्कि यह कहना अधिक संगत होगा कि प्रसाद और निराला को आदर्श मानकर वाजपेयी जी ने अपने प्रमुख साहित्यिक प्रतिमान स्थिर किये थे। किंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि वाजपेयी जी ने अपने व्यक्तित्व का विलय उनमें भी नहीं किया, वे उनके समशील समीक्षक थे, अनुगत चारण या भाट नहीं। इसकी स्पष्ट उपलब्धि के लिए रचना और समीक्षा के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में उनकी धारणा को जान लेना लाभदायक होगा।

वाजपेयी जी की दृष्टि में समीक्षा न तो रचना विशेष की अनुचरी मात्र है, न 'साहित्य का कठोरता से नियंत्रण करनेवाली अधिनेत्री' ही। उनके अनुसार 'वह रचनात्मक साहित्य की प्रिय सखी, शुभैषिणी सेविका और सहृदय स्वामिनी कही जा सकती है।'[३] समीक्षा की स्वतंत्रस्थिति का प्रतिपादन करते हुये भी वे रचना की वरीयता को स्वीकारने में कुंठाबोध नहीं करते। उनका कथन है, 'रचना और समीक्षा के बीच उचित संतुलन आवश्यक है, किंतु इस संतुलन में भी रचना को सदैव प्राथमिकता प्राप्त रहनी चाहिए। जब समीक्षा साहित्य सृष्टि का नियंत्रण करने लगती है, तब निर्माणकारी प्रतिभा कुण्ठित हुए बिना नहीं रहती।'[४] अपनी इस प्रशस्त दृष्टि का जैसा मार्मिक परिचय उन्होंने छायावादी कवियों विशेषतः प्रसाद और निराला—की समीक्षा में दिया, खेद है वैसा परिचय वे छायावादोत्तर साहित्य की समीक्षा करते समय नहीं दे सके।

---

१. हि. सा. बी. श., पृ. १६२।
२. नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ. ९७।
३. हिं. सा. बी. श., पृ. १००।
४. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध, पृ. अ।

जो हो, बात चल रही थी कि प्रसाद और निराला ही वाजपेयी जी के प्रमुख साहित्यिक आदर्श थे। देखना चाहिए कि ऊपर चर्चित छायावाद की सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त उनके किन प्रमुख गुणों ने उन्हें इतना आकृष्ट किया था और इन दोनों में भी कौन उन्हें पूर्णतर कवि प्रतीत होते थे और क्यों ?

पहला गुण है इन दोनों की रचनाओं में व्यक्त पौरुषतत्व। प्रसाद में वह अधिक संयत, अधिक अन्तर्मुख किंतु अधिक शक्ति-सम्पन्न है तो निराला में अधिक उद्दाम, अधिक मुखर, अधिक रोमांटिक। वाजपेयी जी के अनुसार 'प्रसाद जी अपने युग के सबसे बड़े पौरुषवान् कवि थे।··· प्रसादजी का काव्य शक्ति और एकमात्र शक्ति की साधना का एक अविरल प्रवाह है। उनके पुरुष और उनकी नारियाँ दोनों ही इसी शक्ति की साधना में तन्मय हैं। इसीलिए मैं प्रसादजी को हिंदी का सबसे प्रथम और सबसे श्रेष्ठ शक्तिवादी और आनन्दवादी कवि मानता हूँ।'[१] प्रसादजी का पौरुष उनके आनन्दवादी दर्शन में, नीतिवादी युग के आतंक को काटकर चित्रित किये गये नर-नारी के कुंठारहित किंतु मर्यादायुक्त प्रेम प्रसंगों में, तप और भोग के समन्वय में, विरोधों के मध्य आत्मविश्वासपूर्ण, अन्तःस्मित सृजन में अभिव्यक्त हुआ है। निराला का काव्य भी 'पुरुषकाव्य' है, उसमें रंगीनी से अधिक प्रकाश है। निराला का पौरुष अद्वैतवादी सिंह गर्जना में, साहित्यिक और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति प्रखर विद्रोह में नित नये साहित्यिक प्रयोगों द्वारा नवस्थापित कीर्तिमानों के अनासक्त अतिक्रमण में, अत्यन्त प्रतिकूल क्रूर परिस्थितियों से क्षतविक्षत हो जाने के बावजूद अप्रतिहत आस्थामूलक सृजन में प्रकट हुआ है। निराला के पौरुष को 'ओजस्विनी शब्दावली' या 'शिवाजी का पत्र' जैसी प्रखर रचनाओं तक ही सीमित मानने को 'एकांगिता' घोषित करते हुए वाजपेयी जी ने ठीक ही कहा है, 'किंतु पौरुष वस्तुगत भी होता है और वह वस्तुतः वस्तुगत ही होता है, यह अभिज्ञता बहुत विलम्ब से हो पायी। निराला के 'बादल राग' में जो स्वतंत्र, अस्खलित उद्दाम और अदम्यभाव धारा थी, वह सामाजिक क्रांति का गम्भीर स्वर उद्घोषित कर रही थी। यह वस्तुगत पौरुष जीवन दृष्टि का परिणाम था, यह केवल वीर भावना की अभिव्यक्ति मात्र नहीं था।···पौरुष शब्दों का गुण नहीं है, न वह कविता का गुण है, वास्तव में वह कवि की चेतना का प्रतिफलन है, जो सारे काव्य में व्याप्त रहता है।'[२] इसी पौरुष तत्त्व के

---

१. जयशंकर प्रसाद, पृ. १६।

२. कवि निराला, पृ. २०१।

कारण ये दोनों कवि जीवन की वास्तविकता को उसकी व्यापकता और गहराई में झेल कर भी न पलायनवादी हुए, न उसके अभिलषित आदर्श रूप के चितेरे मात्र बने, इन्होंने 'मानव-अनुभवों का यथार्थ संस्पर्श कभी नहीं छोड़ा।' 'वाजपेयी जी का यह मत सही है कि' ये दोनों कवि न तो कोरे भावनावादी हैं, न कल्पनावादी, इनके काव्य में मानव अनुभूतियों की यथार्थता सन्निविष्ट हुई है।'[1] यह यथार्थता यदि बहुत उत्तेजक या वीभत्स नहीं हुई है तो उसका कारण यही है कि 'इनके काव्य का केन्द्रीय तत्त्व जीवन को ऊपर से न देखकर उसके अन्तरंग में जाकर देखने का है।'[2]

यह ठीक है कि निराला में व्यापकता अधिक है। उन्होंने अपने साहित्य में जीवन के प्रति अन्तरंग दृष्टि की परिधि को इतना विस्तृत कर लिया है कि उसमें 'वस्तुमुखी और बहिरंग तत्त्व' भी स्वतः समाविष्ट हो गये हैं जिनके कारण एक ओर कुछ विचारक उन्हें प्रगतिवाद का उन्मायक मानते हैं तो दूसरी ओर उनके निरंकुश व्यक्तित्व और प्रयोग वैविध्य के कारण कुछ विचारक उन्हें प्रयोगवाद का प्रेरक····अंतश्चेतनावादी घोषित करते हैं किंतु यह अंश को पूर्ण के ऊपर प्रतिष्ठित करने का प्रयास है। परवर्ती काव्य-धाराएँ यदि निराला को गुरु रूप में स्वीकार कर अपना उद्‌गम उनके काव्य में ढूँढ़ती हैं तो यह निराला के व्यापक प्रभाव की स्वीकृति की दृष्टि से तो ठीक है किंतु उन्हें मुख्यतः अपने सम्प्रदायानुकूल सिद्ध करना धींगाधींगी भर है क्योंकि सच्चाई यही है कि 'निराला वर्गवादी नहीं हैं, अंतश्चेतनावादी भी नहीं हैं। वे अंतर्मुख कलाकार नहीं हैं। वे भारतीय नवजागरण के अन्यतम कवि हैं।[3] इन बहु-विध विकासोन्मुख प्रवृत्तियों के होते हुए भी निराला काव्य की प्रकृति समरस है। वह प्रकृति स्वच्छन्दतावादी, सांस्कृतिक, मानवतावादी और आस्थामूलक कही जा सकती है।'[4] इसीलिए निराला काव्य का संदेश 'उत्थानमूलक संदेश है।'[5]

प्रसाद के काव्य में गहराई अधिक है। 'प्रसाद का काव्य अंतर्द्वन्द्व से सम्बन्धित है और इस अंतर्द्वन्द की समस्त मार्मिकता और गम्भीरता उनके

१. कवि निराला, पृ. १७९।
२. ,, ,, १७९।
३. ,, ,, १९०।
४. ,, ,, १०१।
५. ,, ,, १९०।

काव्य में प्रतिफलित हो सकी है...(उसमें) उनके अंतरंग जीवन पक्ष का अधिक मार्मिक और गहरा समाकलन हो पाया है।'[१] इसीलिए जीवन के यथार्थ को छूते हुए भी उनका स्वर मुख्यतः सांस्कृतिक रहा है, प्रेमचन्द की तरह सामाजिक नहीं हो पाया है। मानव के आत्मिक संघर्षों की अधिक तीव्र एवं सूक्ष्म अनुमति के कारण उसमें करुणा की स्वीकृति तो है किंतु अन्तर्निहित अपराजेय पौरुष तत्त्व के फलस्वरूप दुःखवाद की नहीं। 'प्रसाद जी की संस्कृति पौरुष गुण सम्पन्न होने के कारण उनके साहित्य में शक्ति और आनन्द का स्रोत प्रधान है, तथा इस युग के लिए यदि उनका कोई संदेश है तो वह शक्ति और आनन्द की उपासना का, संवर्द्धना का ही संदेश है। दुःखों और सुखों में मनुष्य की सम्पूर्ण वस्तुस्थिति में यह शक्ति का ही प्रवाह बहता रहे, यही उनकी एकान्त साधना थी।'[२]

उत्थानमूलक शक्ति और आनन्द की उपासना....संवर्द्धना का संदेश देनेवाले प्रसाद और निराला के पौरुष की साहित्य में अभिव्यंजना न तो विवेक संत्रस्त शुष्क आदर्शवादी सिद्धांत निरूपण में हो सकती थी, न विवेक भ्रष्ट पंकिल यथार्थवादी नग्न चित्रण में। उसका विवेक सम्मत प्रकाश जिस उदात्त रसात्मक स्वच्छन्दतावादी काव्यसृजन में हुआ, वाजपेयी जी के अनुसार वह 'बीसवीं शताब्दी के सम्पूर्ण काव्य के शीर्ष अंश का समाकलन है।'[३]

इन दोनों कवियों को औरों से वरीयता प्रदान करनेवाला दूसरा बड़ा गुण है 'इनकी काव्य के प्रति अप्रतिम निष्ठा।'[४] अध्यात्म दर्शन हो या राजनीतिक-सामाजिक विचार धाराएँ अथवा नव्य मनोवैज्ञानिक दृष्टि, इन कवियों ने उनसे अनुप्रेरित होते हुए भी उन्हें काव्यात्मक मूल्यों के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं किया इनके काव्य में उनका संयोजन अनुलोमशः ही हुआ है। यह स्वीकार करते हुए भी कि प्रसाद शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन से एवं निराला विवेकानन्द द्वारा प्रवर्त्तित नव्य वेदान्त से प्रभावित हैं, वाजपेयी जी ने बारबार यह प्रमाणित करना चाहा है कि ये दोनों दर्शन इन कवियों को न तो सम्प्रदाय-सीमित कर सके, न इनके काव्योत्कर्ष के लिए अवरोध बने। सच तो यह है कि वाजपेयी जी की दृष्टि में, 'प्रसाद जी की सबसे मुख्य और महत्वपूर्ण

१. कवि निराला, पृ० १८०।
२. जयशंकर प्रसाद, पृ. २६-२७।
३. कवि निराला पृ० १७८।
४. कवि निराला पृ० १७९।

उद्भावना यह है कि काव्य स्वतः आध्यात्मिक है, काव्य से ऊँची अध्यात्म नाम की कोई वस्तु नहीं।'[1] अतः काव्य के उपकारक के रूप में ही मानव जीवन के अन्तःप्रेरक दर्शन का और बहिर्विकाससूचक इतिहास का संयोजन उन्होंने किया था, अनुशासक के रूप में नहीं। प्रसाद जी ने निवृत्ति पर आश्रित मायावादी शांकर अद्वैत के स्थान पर शैवागम से जिस सर्ववादमूलक आनन्दवाद को ग्रहण किया वह न केवल प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को आत्मसात् करता है बल्कि विश्व को समन्वयात्मक कर्म का रंगस्थल भी मानता है।

शताब्दियों पूर्व के दार्शनिक चिन्तन को उसके साम्प्रदायिक कर्मकांड से अलग कर आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में ग्रहण करना वस्तुतः उसकी आत्मा को अक्षुण्ण रखते हुए उसका कायाकल्प करना है, मक्षिका स्थान मक्षिका की तरह अन्धानुगमन करना नहीं। इतिहास और मानव मनोविज्ञान के दोहरे छन्नों से छनी उनकी शास्त्रीय वस्तु में प्रामाणिकता का पुट इतना प्रगाढ़ है कि सामान्य पाठक ही नहीं आलोचक भी प्रायः यह भूल जाते हैं कि प्रसाद की ये उद्भावनाएँ 'अधिकांश एकदम नवीन हैं।' वाजपेयी जी के अनुसार कामायनी का समरसता सिद्धांत मानव प्रकृति और जीवनगत द्वन्द्वों के वैज्ञानिक निरूपण एवं श्रद्धा की दार्शनिक कल्याणमयी सत्ता के संयोगस्थल पर प्रतिष्ठित है।' इसे 'नवीन विज्ञान और चिर नवीन भारतीय दर्शन की संगमभूमि भी कहा जा सकता है।'[2] किन्तु यह दार्शनिक अन्तधारा 'काव्य की स्वाभाविक भावव्यंजना से अभिन्न और तद्रूप होकर आई है।'[3] वाजपेयी जी ने इसे आग्रहपूर्वक प्रमाणित किया है कि प्रसाद की पद्धति 'प्रकृत काव्य पद्धति है जिसमें समस्त वस्तु निरूपण और भाववर्णन स्वाभाविक रूप में रहा करता है और अपना साध्य आप ही होता है।'[4] वह कबीर को अन्योक्ति पद्धति या जायसी की समासोक्ति पद्धति से भिन्न है जिसमें काव्य पर दार्शनिकता समग्रतः या अंशतः हावी हो जाती है। वाजपेयीजी ने अत्यन्त जागरूकतापूर्वक प्रसाद की आधुनिकता को और दार्शनिकता पर काव्यात्मकता की वरीयता को अपनी आलोचनाओं में स्पष्ट किया है अन्यथा ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो उन्हें प्राचीनतावादियों, गड़े मुर्दे उखाड़नेवाले पलायनवादियों की कोटि में या दार्शनिकता के रहस्यात्मक विचारकों की कोटि में परिगणित करते रहे हैं।

---

१. जयशंकर प्रसाद पृ० २६।
२. जयशंकर प्रसाद पृ० १०५।
३. जयशंकर प्रसाद पृ० ११४।
४. जयशंकर प्रसाद, पृ. ११०।

इसी प्रकार निराला के काव्य में आरम्भ में सशक्त नव्य अद्वैतवादी वेदान्त की, मध्य में आध्यात्मिकता के साथ-साथ मानवतावादी, समाजवादी विचारधाराओं की ओर अन्त में द्वैतभक्ति और शरणागति की उत्कर्ष विधायिनी दार्शनिकता का मंगलमय योग स्वीकारते हुए भी वाजपेयीजी का निष्कर्ष यही है कि 'निराला स्वयं एक श्रेष्ठ दार्शनिक हैं परन्तु उनके काव्य में दर्शन का भार कहीं नहीं दिखता।'[1] उनकी मान्यता है कि कवि का कार्य सौंदर्य सृष्टि है और उसकी दार्शनिकता का मूल्य उस सौंदर्य को पुष्ट बनाने और आलोकित करने में है....'[2] एवं निस्सन्देह दार्शनिक और भावात्मक चिन्तन और उन्नयन के फलस्वरूप निराला का 'काव्य एक उदात्त भूमिका का काव्य है और ऐसे सौंदर्य की झाँकियाँ दिखाता है जो सहज प्राकृतिक उच्छ्वास की भूमिका से एकदम ऊपर है।'

दर्शन कविता में परिमचित रूप में, कवि व्यक्तित्व में समाहित होकर आया है या स्वतंत्र रूप में, इसकी कसौटी यही है कि रचना प्राणवन्त हुई है या नहीं। वाजपेयी जी को युगवाणी एवं स्वर्णधूलि, स्वर्ण किरण, उत्तरा के कवि पन्त से यही शिकायत थी कि उन कृतियों में वे स्रष्टा कम और दर्शन विशेष के व्याख्याता अधिक हो गये हैं फलस्वरूप उनका काव्यगत सौंदर्य बोध खंडित हुआ है। इसीलिए वे रचनाएँ वाजपेयीजी को काव्य की अपेक्षा काव्याभास अधिक लगीं। महादेवीजी की भी कुछ कविताओं में रहस्यवादी रूढ़ियों का अतिरिक्त पालन हुआ है, यह शिकायत उन्होंने कई बार की है। छायावादोत्तर काव्य में व्यक्त विविध विचारधाराओं के उग्र विवादी स्वर भी उन्हें प्रकृत काव्य पद्धति के अनुकूल नहीं ज्ञात होते थे।

जो हो, प्रसाद और निराला का काव्य इस युग का सर्वश्रेष्ठ काव्य है,'[3] इस सम्बन्ध में वाजपेयीजी सुनिश्चित हैं, किंतु इन दोनों कवियों में वे किसे अधिक श्रेष्ठ मानते हैं, इस प्रश्न का सीधा उत्तर देने से उन्होंने अपने को बचाया है। प्रसाद और निराला की तुलना के प्रयास को अपने आप में असंगत बताते हुए उन्होंने यह मन्तव्य प्रकट किया, 'दोनों ही कवि अपनी प्रतिमा में महान् अप्रतिम और अपराजेय हैं।'[4] फिर भी उनके समस्त

१. कवि निराला, पृ. १८५।
२. कवि निगाला, पृ. १६२।
३. ,, ,, १७६।
४. कवि निराला, पृ. १८५।

लेखन और दृष्टिकोण पर विचार करने पर यही लगता है कि प्रसाद ही उनको अधिक वरेण्य कवि प्रतीत होते थे। वास्तव में निराला के विद्रोही एवं क्रांतिकारी रूप का वे उस सीमा तक ही समर्थन करते थे जहाँ तक वह स्वच्छन्दतावाद की व्यापक परिधि के अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। 'बादल राग' और 'एकबार बस और नाच तू श्यामा' सरीखी कविताओं में प्राकृतिक और आध्यात्मिक प्रतीकों के माध्यम से किया गया क्रान्ति का आवाहन अथवा 'भिक्षुक' एवं 'वह तोड़ती पत्थर' जैसी कविताओं का करुण यथार्थवादी चित्रण उन्हें उत्कृष्ट काव्य के रूप में ग्राह्य है। स्वच्छन्दतावादी कवि शैली के विद्रोही व्यक्तित्व से निराला की तुलना इसी दृष्टि से वे करते हैं। कुकुरमुत्ता, खजोहरा जैसी रचनाओं को व्यंग्य विनोद की कृतियों के रूप में....सर्वत्र व्याप्त कुरूपता की खिन्न प्रतिक्रिया के रूप में वे ग्रहण करते हैं। उनकी दृष्टि में निराला गुलाब के समान ही कुकुरमुत्ता को भी विकृति के रूप में उपस्थित करते हैं और उक्त दोनों विकृतियों के स्थान पर नई अभ्युदयशील संस्कृति की प्रतिष्ठा का रचनात्मक संकेत भी उस कविता में देते हैं। लगता है यह उनकी अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं का प्रक्षेपण है, अन्यथा कैपिटलिस्ट गुलाब के मुकाबले में जनवादी कुकुरमुत्ता की महिमा की प्रतिष्ठा उसमें असन्दिग्ध रूप से की गयी है। इसके और एक कदम आगे जाकर लिखी गयी 'ऐ गर्म पकौड़ी' या 'बापू यदि तुम मुर्गी खाते' जैसी उग्र कविताएँ उनके लिए काव्याभास ही हैं। निराला के प्रति अतिशय सहानुभूति रखते हुए भी ऐसी कृतियों के सम्बन्ध में वाजपेयीजी की प्रतिक्रिया का सारांश इन पंक्तियों में उभरा है 'लौकिक जीवन का कुरूप पक्ष उनकी चेतना को बहुत दूर तक क्षुब्ध कर चुका था और वे जीवन सम्बन्धी कुरूप प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करने लगे थे। हास्य और विनोद के माध्यम से उनका यह तृतीय दार्शनिक चरण अभिव्यक्त हुआ। इसे हम निराला की विघटित दार्शनिकता का चरण कह सकते हैं।'[१] स्पष्ट है कि वाजपेयीजी की मध्यवर्गीय अभिजात सांस्कृतिक चेतना इस प्रकार के विघटन को अश्रेयस्कर मानती है। उनके प्रतिमानों के अनुसार प्रसाद में इस प्रकार का स्खलन कभी नहीं हुआ। जब कि निराला का काव्य-विकास ऊँची चोटियों और नीची घाटियों के विषम स्तरों पर हुआ है, प्रसाद के काव्य-विकास में निरन्तर अधिरोहण ही नहीं, कामायनी के रूप में छायावाद की सर्वोच्च उपलब्धि भी है। प्रसाद ने भारतेन्दु-द्विवेदी युगों के काव्य संस्कारों से ऊपर उठकर छायावाद का प्रवर्त्तन,

१. कवि निराला, पृ. १६२।

मंडन एवं सर्वाधिक उन्नयन किया था वे अन्त तक उसी में रमे रहे थे जबकि निराला और पंतजी भी छायावाद के प्रमुख सहयोगी स्रष्टा होते हुए भी उसी से बँधे नहीं रहे, इतिहास की गतिशील शक्तियों से उद्भुत नयी काव्य भूमियों पर उनका संचरण स्वाभाविक ही था। वाजपेयीजी की दृष्टि में इन नयी भूमियों पर इन दोनों महाकवियों का सृजन उनके अपने पूर्ववर्ती सृजन की तुलना में खुरदुरा और आयास सिद्ध है। अतः यह अनुमान करना असंगत नहीं है कि 'जयशंकर प्रसाद' को भूमिका में १९३८ में व्यक्त किये गये अपने इस मत का पोषण वे अन्त तक करते रहे, 'उसे (कवि को) विवेकवान् और पारदर्शी ही नहीं काव्यशक्ति से भी सम्पन्न होना चाहिए। प्रसादजी न केवल इन दोनों गुणों से युक्त थे,' ऐसी असाधारण क्षमता इनमें रखते थे कि उतनी क्षमता का कोई दूसरा कलाकार हिंदी साहित्य के इस युग में दिखाई नहीं देता। इस प्रकार वे युग के प्रवर्त्तक ही नहीं, उसकी सर्वश्रेष्ठ विभूति भी सिद्ध होते हैं।'[१] निराला को उन्होंने 'कवि निराला' ग्रंथ में 'शताब्दी का कवि' कहा है किंतु इससे यह ध्वनि निकालना कि वे निराला को शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते थे, ठीक नहीं होगा। इसका अभिप्राय यही ज्ञात होता है कि निराला के काव्य में वे इस शताब्दी को सर्वाधिक प्रतिफलित पाते थे। इसी ग्रन्थ में राष्ट्रकवि पर प्रासंगिक विचार करते हुए उन्होंने लिखा है, 'राष्ट्रकवि केवल राजनीतिक कवि नहीं हो सकता। उसे समग्र युगजीवन का प्रतिनिधित्व करना पड़ता है। इस दृष्टि से हमारे असली राष्ट्र-कवि तो प्रसाद हैं। असली राष्ट्रकवि निराला हैं। जो युगद्रष्टा नहीं होगा, वह राष्ट्रकवि क्या होगा?'[२] निराला के बारे में लिखते हुए प्रसाद का राष्ट्रकवि के रूप में अग्र उल्लेख आकस्मिक नहीं, उनकी मान्यताओं के अनुरूप ही है। कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि उनके मन में प्रसाद के प्रति अधिक श्रद्धा थी तो निराला के प्रति अधिक प्रेम। फिर भी यदि इन दोनों में से यदि एक को ही सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में उन्हें चुनना पड़ता तो सम्भवतः वे प्रसाद को ही चुनते।

वाजपेयीजी ने आ० शुक्ल की समीक्षाओं की सीमा का निर्देश करते हुए लिखा था, 'शुक्लजी का समीक्षाकार्य पांडित्यपूर्ण होता हुआ भी वैयक्तिक रूचियों का द्योतक है। कदाचित् इसी कारण वह मार्मिक है, किंतु वस्तुगत

---

१. जयशंकर प्रसाद, पृ. १६।
२. कवि निराला, पृ. १९२।

और वैज्ञानिक नहीं।'[1] यही बात स्वयं वाजपेयीजी के लिए भी कही जा सकती है और सम्भवतः अधिक औचित्य के साथ। प्रेमचन्दजी की कृतियों में कोई स्वतंत्र स्वानुभूत दर्शन न पाकर केवल सामयिकता को उनका आदर्श घोषित करना, पन्तजी के समस्त उत्तरवर्ती काव्य को करीब-करीब नकार देना, महादेवी की रहस्यानुभूति को धार्मिक रूढ़ि के निकट मानकर उनके काव्य में छायावाद युग की विशेषताएँ न देख पाना, आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी को समीक्षक न स्वीकार कर केवल शोधकर्त्ता मानना, प्रयोगवाद को बैठे ठालों का धन्धा करार देना आदि-आदि उनके बहुत से निर्णयों को वस्तुगत और वैज्ञानिक मानना कठिन है। वाजपेयीजी की वैयक्तिक रुचि केवल मुखर समर्थन या प्रखर विरोध में ही झलकी हो, ऐसा नहीं है, संयत मौन में भी उसका आभास मिलता है। यह सचमुच आश्चर्यजनक तथ्य है कि उन्होंने किसी प्रगतिवादी लेखक या कृति पर जमकर अपने विचार प्रकट नहीं किये, कोई पूरा स्वतंत्र लेख नहीं लिखा। अपनी भूमिकाओं या सर्वेक्षणमूलक लेखों में प्रसंगवश उनकी चलती सी चर्चा कर देना तो 'आधुनिक साहित्य' के प्रतिनिधि समीक्षक के 'दायित्व' के अनुकूल कार्य नहीं है।

ऐसा लगता है कि छायावादोत्तर हिन्दी साहित्य के साथ वे समरस नहीं हो सके। प्रगतिवादी संकीर्ण मताग्रह एवं साहित्य पर राजनीति के अकुश से असहमत होते हुए भी वे उसके व्यापक मानव अभ्युदय का भी जीवन-दर्शन के प्रति सहानुभूति सम्पन्न थे (तभी प्रगतिशील लेखक संघ की काशी शाखा के कई वर्षों तक वे सभापति रहे) किन्तु उसकी साहित्यिक उपलब्धियों से उन्हें सन्तोष नहीं था। उनका सौन्दर्य प्रेमी मन इन कृतियों के वीभत्स यथार्थ चित्रण एवं कलाहीन अनगढ़पन से क्षुब्ध था। उसी को नया सौन्दर्य-बोध मान लेने के लिए भी वह प्रस्तुत नहीं था। अपनी दृष्टि के अनुसार सैद्धांतिक स्तर पर बहुलांशतः समर्थनीय एवं रचनात्मक स्तर पर असम्मानीय प्रयासों को वे न तो खुलकर सराह सकते थे, न नकार सकते थे। सम्भवतः वे अन्त तक इस धारा की ऐसी समर्थ कृति की प्रतीक्षा करते रहे, जिसे वे अपना अकुंठ समर्थन दे सकें। यह मनोभाव इस उक्ति से स्पष्ट हो जाता है, 'भले ही समाजवादी रचनाएँ अपनी वर्त्तमान स्थिति में व्यापक संवेदना उत्पन्न न कर रही हों परन्तु उनसे आशा नहीं छोड़ी जा सकती और दिवास्वप्नवाले साहित्यिक आदर्श को नहीं अपनाया जा सकता।[2] फिर

---

१. आधुनिक साहित्य, पृ. २७९।
२. नया साहित्य नये प्रश्न, पृ. ३०।

भी यदि वे उस आन्दोलन के साथ पूरी तरह से होते तो यशपाल, राहुल, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि की कृतियों की त्रुटियों की रचनात्मक समीक्षा कर सकते थे, उनकी विशेषताओं को उभार कर उजागर कर सकते थे, किन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया।

व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन के विविध रूपों को (चाहे वह गांधीवादी रामनामी ओढ़कर आये, चाहे मनोविश्लेषण की बैसाखी लगाकर, चाहे सामाजिकता का जामा पहनकर) और प्रयोगवादी रचनाओं को अस्वस्थ एवं हानिकर मानने के कारण उन्होंने उसका बहुत प्रबल विरोध किया। 'आधुनिक साहित्य' में संकलित 'प्रयोगवादी रचनाएँ' शीर्षक उनका लेख विवादी लेखन का जितना उत्कृष्ट उदाहरण है, उतना ही उनकी एकांगिता और वैयक्तिक रुचिशासित लेखन का भी। विरोध की झक में उनके द्वारा सन्तुलन खो देने के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। हंस के आत्मकथा अंक को लेकर प्रेमचन्द के साथ हुए उनके विवाद में भी यह बात देखी जा सकती है। शुक्लजी के रसवादी मानदंडों को साहित्यालोचन के लिए अपर्याप्त सिद्ध करने की धुन में वे यहाँ तक कह गये थे कि, 'ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर भी यह प्रकट होगा कि संस्कृत के सभी साहित्यिक सम्प्रदायों के मूल में न तो कोई महान् आत्मा है और न कोई आदर्शोन्मुख महती प्रेरणा।'[१] इसे परिस्थितियों का व्यंग्य ही कहना चाहिये कि 'राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध' तक आते-आते वाजपेयी जी भी काव्य की रसात्मकता के सिद्धांत को मान लेते हैं। अब उनका मत है, 'जब हम कहते हैं कि 'रस' काव्य की आत्मा है तब हमारा आशय यह होता है कि प्रत्येक काव्य में, यदि वह वस्तुतः काव्य है, मानव समाज के लिए आह्लादकारिणी भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों का संकलन होगा ही। 'रस' शब्द से आचार्यों का आशय काव्य की इस मानवतावादी सत्ता से ही है,'[२] चलिए, यही सही, तब तो कम से कम रस सम्प्रदाय के मूल में आदर्शवादी महती प्रेरणा भी है, क्योंकि मानवतावादी तत्त्व के कारण उसे इतना श्रेय तो दिया ही जाना चाहिए। इसी ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने यह भी कहा है, 'हमारे प्राचीन सिद्धांत उच्चतम मनीषा की उपज हैं' और हमें उनकी ऐसी छानबीन करनी होगी जिससे 'साहित्य के सार्वजनिक क्षेत्र में.... हम उन्हें नये उपयोग में लाने के योग्य बना सकें।' उनसे पूर्णतः सहमत होते हुए भी हम यह नहीं समझ पाते कि

१. हि० सा० बी० श०, पृ. ७० ।

२. राष्ट्रीय सा० त० अ० नि०, पृ० ३३ ।

आ० शुक्ल इससे भिन्न और क्या कर रहे थे, जब उन्हें वाजपेयीजी का कोप-भाजन बनना पड़ा था।

जो हो, छायावादोत्तर वादग्रस्त रचनाएँ हिन्दी साहित्य को एक ओर अन्तश्चेतनावादी दलदल में और दूसरी ओर बौद्धिकता के अनुर्वर रेतीले मैदान में फँसा रही हैं, एवं 'स्वस्थ, उल्लासपूर्ण और विकासोन्मुख' भावनाओं को जगाने में समर्थ नहीं हो रही हैं, यह शिकायत उन्होंने कई स्थानों पर कई प्रकार से की है। हिन्दी साहित्य के भविष्य के प्रति आश्वस्त रहने का सन्देश अपने वक्तव्यों में देते रहने पर भी वे स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की उसकी विकास दिशा से—कम से कम उसकी उन धाराओं से असन्तुष्ट ही नहीं विक्षुब्ध प्रतीत होते हैं जो भारतीय समाज को वर्गों में बाँटकर साहित्य को किसी मतवाद के प्रचार का माध्यम बताकर अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक दुर्बलता को वर्गों की आड़ में छिपाना चाहती हैं अथवा जो दमित एवं कुण्ठित कामवासनाओं से उत्पन्न स्वप्न प्रतीकों को काव्य प्रतीकों के रूप में परिणत करनेवाली रचनाओं को साहित्य की श्रेष्ठतम रचनाएँ घोषित करना चाहती हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्यकारों को अपना उत्तरदायित्व समझना चाहिए और उन्हें सच्चे एवं गंभीर अर्थों में राष्ट्रीय साहित्य के सृजन में प्रवृत्त होना चाहिए, उनकी इस भावना को समादरणीय एवं उचित मानते हुए भी हम उनके इस अधिनायकवादी आवेश का समर्थन नहीं कर सकते कि, 'यदि हमारे लेखक राष्ट्रीय साहित्य की जिम्मेदारियों को नहीं समझते, तो वे किसी वर्ग के हों—अथवा किसी भी वर्ग के न हों—तत्काल हमारी साहित्यिक परम्परा से अलग कर दिये जाने चाहिए। हमारे राष्ट्र को और उसके राष्ट्रीय साहित्य को ऐसे लोगों की आवश्यकता नहीं है, जो किसी भी रूप में हमारी राष्ट्रीय शक्ति और संघटन का विनाश करने पर तुले हों।'[१] साहित्य के स्तर पर यह असहिष्णुता समीक्षा को रचनात्मक साहित्य की 'प्रिय सखी और शुभैषिणी सेविका' के स्थान पर नियंत्रिका बनाती है जिससे वाजपेयीजी के ही अनुसार 'निर्माणकारी प्रतिभा कुंठित हुए बिना नहीं रहती' एवं राजनीति के स्तर पर राज्य को अधिनायकतंत्र की ओर उन्मुख करती है जिससे वाजपेयीजी का और नवीन भारत का लक्ष्य कल्याणकारी जनतंत्र खंडित होता है।

राष्ट्रीय साहित्य की रचना की उनकी अपील का अभीष्ट प्रभाव साहित्य-कारों पर क्यों नहीं पड़ा? क्या सारा दोष साहित्यकारों का ही है? नहीं

१. आधुनिक साहित्य की भूमिका, पृ० ५०।

कविता का विवेचन करते हुए 'आधुनिक साहित्य' में उन्होंने लिखा था, 'वर्तमान काव्य का भविष्य बहुत कुछ देश के राजनीतिक भविष्य पर अवलम्बित है। यदि देश में राजनीतिक क्रांति सफल हो गई तो वर्तमान काव्य का बहुत कुछ कायाकल्प हो जायगा। हिन्दी कवितायें प्रगतिवादी पक्ष का प्राबल्य होगा और नवीन कविता वीर गीतों तथा वीर प्रबन्धों की ओर अग्रसर होगी।'[१] उनका राष्ट्रवादी मन इस बात की कल्पना भी नहीं करना चाहता था कि यदि हमारी राजनीतिक क्रांति सफल नहीं हो पाई तो क्या होगा। हिन्दी के नवलेखन में व्याप्त कुण्ठा, अनास्था, निराशा केवल आयातित या अनुकरणजन्य ही है, यह कहना सच्चाई पर पर्दा डालना है। हमारी राजनीतिक अदूरदर्शिता तथा अर्थनीतिक अयथार्थवादिता ने देश को जिस दलदल में ला फँसाया है, हमारा साहित्यिक दलदल बहुत कुछ उसी की उपज है। सच्चाई के इस कड़वे घूँट को पिये बिना तथा मूल की भूल को सुधारे बिना साहित्यकारों की भर्त्सना कर या उन्हें सदुपदेश देकर अभीष्ट उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। वाजपेयीजी 'साहित्य की राष्ट्रीय चेतना' का प्रस्ताव करते हुए जिस अतिशय आदर्शवादी दृष्टि का अनुगमन करते हैं उसका वस्तुगत आधार दुर्बल है। उनका मत है 'मैं यह स्वीकार करता हूँ कि पिछले कुछ वर्षों से हमारी साहित्यिक सृष्टि व्यक्तिमुखी हो गई है और यद्यपि हम साहित्य में यथार्थ का नारा लगाने लगे हैं पर वह यथार्थ वस्तुतः राष्ट्रीय भूमिका का यथार्थ नहीं है, वह हमारा निजी यथार्थ हो सकता है। इस पुस्तक में ऐसे निजी यथार्थों को वास्तविक यथार्थ मानने से इनकार किया गया है।'[२] यदि किसी एक कलाकार का निजी यथार्थ राष्ट्रीय भूमिका के यथार्थ के प्रतिकूल है तो एक दृष्टि से उसे वास्तविक यथार्थ नहीं भी माना जा सकता है। किंतु तब हमें अपने निर्णय के औचित्य के प्रमाण स्वरूप राष्ट्रीय भूमिका के यथार्थ की प्रेरणा से रचित नई उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियाँ प्रस्तुत करनी होंगी क्योंकि सामाजिक यथार्थ का विशेषतः उससे उद्भूत मानवीय प्रतिक्रियाओं का जैसा सच्चा प्रतिफलन साहित्यिक कृतियों में होता है वैसा राजनीतिक नेताओं के भाषणों या आयोगों के प्रतिवेदनों में नहीं होता। क्या वाजयीपेजी ऐसा कर पाये हैं? क्या हमारी अधिकांश उत्कृष्ट नई साहित्यिक प्रतिभाएँ ऐसे साहित्य का सृजन कर रही हैं? यदि नहीं तो अधिकांश साहित्यकारों के निजी यथार्थ को वास्तविक यथार्थ मानने से इनकार करना क्या एक अयथार्थ स्थिति नहीं है?

---

१. आ० सा०, पृ० ११।
२. रा० सा० त० अ० नि०, पृ०।

एक विरोधाभास यह भी है कि वाजपेयीजी समीक्षा के अपने परवर्ती दौर में जिन रचनाकारों के जीवन दर्शन को सिद्धांततः अस्वस्थ और अस्वीकार्य घोषित करते रहे हैं, छायावादोत्तर साहित्यिक उपलब्धियों के रूप में उन्हीं की कृतियों को उपस्थित करते रहे हैं। यह प्रवृत्ति उपन्यासों से आरम्भ होकर कविता तक आई है। उपन्यासों पर लिखे सर्वेक्षणमूलक लेखों को छोड़कर उनके विशिष्ट लेख त्यागपत्र, शेखर : एक जीवनी तथा 'व्यक्तिवादी उपन्यास पर हैं झूठासच, बलचलमा या समाजवादी उपन्यास पर नहीं। नई कविता को प्रयोगवादियों को सीर मानने से वाजपेयीजी अपने ग्रंथों में (एवं अपने द्वारा निर्देशित शोधग्रंथों में भी) बराबर इनकार करते रहे किंतु उनकी मृत्यु के कुछ पर्व धर्मयुग के तीन अंकों में 'नई कविता : एक पुनरीक्षण' शीर्षक से जो निबन्ध प्रकाशित हुआ उसमें नई कविता के प्रमुख हस्ताक्षरों के रूप में अज्ञेय, भारती, गिरिजाकुमार माथुर, मुक्तिबोध आदि 'सप्तकों' के आठ कवियों के अतिरिक्त जिन दो कवियों को गिनाया गया वे जगदीश गुप्त और दुष्यन्त कुमार हैं, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल या त्रिलोचन नहीं और इनमें भी (सैद्धांतिक अन्तरों एवं असहमतियों को व्यक्त करते हुए) उन्हें लगा है कि 'यदि अज्ञेय में निराला के पौरुष का प्रतिफल न मिलता है तो भारती में निराला की शृंगारिक और कोमल भावनाएँ आभासित होती हैं'[१] जब कि 'निराला की भाँति मुक्तिबोध ने भी अनेक काव्य रूपों का प्रयोग किया है। परन्तु जहाँ निराला एक सधे हुए कलाकार के रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं वहाँ मुक्तिबोध के काव्य प्रयोग चारुता रहित और ऊबड़खाबड़ हैं। मुक्तिबोध की काव्य भाषा भी किसी सुनिश्चित प्रतिमान की सृष्टि नहीं करती।... मुक्तिबोध की काव्य भाषा में लय और संगीत की अपेक्षा चिल्लाहट का अधिक प्रत्यय मिलता है।'[२] यह भी स्मरण रहे कि इस ऊबड़खाबड़पन' और 'चिल्लाहट' को युग के मिजाज के अनुरूप गुण न मानकर वे उनकी त्रुटि ही मानते रहे क्योंकि उनकी धारणा थी कि मुक्तिबोध को संभवतः इन्हें दूर करने का अवसर नहीं मिला। इससे दो निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा। एक तो यह कि साहित्य में 'वस्तु' की प्रधानता को स्वीकारते हुए भी वे उसकी उत्कृष्टता का विचार समग्र दृष्टि से करते थे और उनकी विचार प्रक्रिया के अनुसार हिंदी के प्रगतिवादी साहित्य की तुलना में उसका प्रयोगवादी साहित्य (जिसकी परिणति नवलेखन में, विशेषतः कविता के क्षेत्र में नई कविता में

१. धर्मयुग (६ अगस्त १९६७), पृ० १९।
२. धर्मयुग ,, ,, , पृ० ३८।

हुई) साहित्यिक उपलब्धि के रूप में उत्कृष्टतर है। उनका यह निर्णय आक-स्मिक नहीं है, यह उनकी 'काव्य के प्रति अप्रतिभ निष्ठावाली' मान्यता के अनुरूप ही है जिसके अनुसार उन्होंने कहा था कि 'किसी भी सिद्धांत के सम्बन्ध में कभी मतैक्य नहीं हो सकता, किंतु (कलाकृतिके) सौंदर्य के सम्बन्ध में कभी दो रायें नहीं हो सकतीं।'[१] दूसरा यह कि नई कविता के मर्म का उद्‌घाटन करने में उनके काव्य सम्बन्धी प्रतिमान बहुत सहायक सिद्ध नहीं होते अन्यथा मुख्यतः जिस मुक्तिबोध के काव्य के आधार पर नई पीढ़ी के प्रतिनिधि आलोचक डॉ० नामवर सिंह 'कविता के नये प्रतिमान' स्थिर कर रहे हैं, उसकी काव्योपलब्धि के बारे में वाजपेयीजी ऐसे अनुदार मतव्यक्त नहीं करते। जो हो, आरम्भ में प्रयोगवादी नई कविता का प्रचंड विरोध करने के बावजूद अपने अन्तिम लेख में उसकी विचारणा से असहमत होते हुए भी उसके साहित्यिक कृतित्व को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का गौरव प्रदान करना (उदाहरण के लिए भारती के 'अन्धा युग को टी० एस० इलियट के 'मरडर इन कैथेड्रल' की भूमिका का कार्य करना) एक और प्रबल वैयक्तिक रुचि के ऊपर उनकी काव्यनिष्ठा को प्रमाणित करता है, तो दूसरी ओर आचार्य शुक्ल के सम्बन्ध में अभिव्यक्त उनके इस मत को उन्हीं के ऊपर घटित कर उन्हें शुक्लजी का सच्चा शिष्य 'भी सिद्ध करता है' : नई काव्यप्रगति को 'ब्लैंक चेक' न देकर शुक्लजी ने उसके परिष्कार के कार्य में और उसके बलसंचय में प्रकारांतर से सहायता ही पहुँचाई। कोई भी व्यक्ति जिस पर साहित्य का कुछ उत्तरदायित्व है, प्रत्येक नवागत काव्य-धारा में बह जाना पसन्द नहीं कर सकता।'[२]

आ० वाजपेयी की समीक्षा को स्वच्छन्दतावादी कहने के अतिरिक्त छाया-वादी, सौष्ठववादी, प्रगतिशील स्वच्छन्दतावादी, रसवादी तथा अध्यात्मवादी भी कहा गया है। स्वयं वाजपेयीजी इन विशेषणों से यह अर्थ निकालकर कि 'मेरी समीक्षा में किसी एक वाद का अधिकार नहीं है' प्रसन्न हैं तथापि उनका कथन है, 'यदि विशेषणों को निकालकर केवल साहित्य समीक्षक कहा जाये तो मुझे सर्वाधिक प्रसन्नता होगी।'[३] किंतु विवेचकों को अन्य साहित्य समीक्षकों से उनकी पृथक्‌ता और उनकी स्वकीयता का निर्देश करने के लिए ऐसे किसी विशेषण की आवश्यकता का अनुभव होता ही है। हमारी समझ

१. हि० सा० बी० श०, पृ० ८३।
२. हि० सा० बी० श०, पृ० ८२।
३. रा० सा० त० अ० नि०, पृ० १३१।

में उन्हें स्वच्छन्दतावादी समीक्षक कहना ही अधिक समीचीन है। छायावाद आरम्भ में तो हिंदी के क्षेत्र में मुख्यतः स्वच्छन्दतावादी प्रेरणा से रचित साहित्य का परिहासपरक नाम था, बाद में इससे अभिहित साहित्य की उत्कृष्टता सिद्ध हो जाने पर इस नाम को स्वीकार कर छाया के विशिष्ट अर्थ करने के प्रयास की तुलना पन्तजी ने 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में 'बुद्धू' को 'बुद्ध' का तद्भव सिद्ध करने के प्रयास से कर, उसकी अयथार्थता भलीभांति दरसा दी है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास का विवेचन करते समय छायावाद संज्ञा का प्रयोग करना अनुचित नहीं है। किंतु व्यापक दृष्टि से विचार करते समय साहित्य सृजन के मूल में निहित 'तीन प्रधान प्रवृत्तियों को उनके सर्वजन स्वीकृत नामों श्रेण्यतावाद (क्लासिसिज्म) स्वच्छन्दतावाद (रोमाटिसिज्म) तथा यथार्थवाद (रियलिज्म) से पुकारना ही ठीक है। स्वयं वाजपेयीजी ने हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी (देखिये पृ० १४) से आरम्भ कर धर्मयुग में प्रकाशित अपने अन्तिम निबन्ध तक मौलिक साहित्यिक प्रवृत्तियों का निर्देश करते समय इसी व्यापक नाम 'स्वच्छन्दतावाद' का ही प्रयोग किया है। जो विवेक उन्हें सौष्ठववादी या प्रगतिशील स्वच्छन्दतावादी कहना चाहते हैं वे निराला के सन्दर्भ में कही गई वाजपेयीजी की इस उक्ति पर विचार करें, 'निराला का स्वच्छन्दतावादी काव्य केवल सौंदर्यवादी या कल्पनाप्रधान नहीं है। इसमें सामाजिक और युग जीवन के तत्त्वों का गंभीर योग हुआ है।'[१] इसके चलते उन्हें 'प्रगतिशील कवि' कहने को अंशतः संगत मानते हुए भी निराला काव्य के वस्तु और कलापक्ष के सम्पूर्ण निरूपण के लिए उसे अपर्याप्त बताकर वे कहते हैं, 'स्वयं स्वच्छन्दतावाद शब्द में इतनी व्याप्ति है कि वह केवल सौन्दर्यवादी या कलावादी प्रवृत्तियों को ही नहीं, युगजीवन, व्यक्ति और समाज की नाना प्रगतियों और आदर्शों को समाहित कर सकता है।' जो बात निराला के सन्दर्भ में वाजपेयीजी ने कही है, उसी को उनकी समीक्षा पद्धति पर लागू करने पर हम उनके सौष्ठव बोध और प्रगतिशीलता दोनों को सहज ही स्वच्छन्दतावाद में अन्तर्मुक्त कर सकते हैं। वाजपेयीजी को परम्परागत अर्थ में 'रसवादी' नहीं कहा जा सकता। रस की जा नई व्याख्या 'आह्लादकारिणी भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों को....मानवतावादी सत्ता' के रूप में उन्होंने की है, वह उनकी स्वच्छन्दतावादी दृष्टि का एक और प्रमाण है। जिस अध्यात्मवाद की वे काव्य में उपयोगिता स्वीकार करते हैं, उसे भी वे स्वच्छन्दतावाद के अन्तर्गत ही मानते हैं। न विश्वास हो तो उनके अन्तिम

१. कवि निराला, पृ० ९९।

निबन्ध में प्रदत्त स्वच्छन्दतावाद की भूमिका का विश्लेषण देख लीजिए, 'स्वच्छन्दतावादी धारा का मुख्य स्वर मर्यादाओं के विरोध में रहा है—चाहे वे साहित्यिक मर्यादाएँ हों अथवा मानव जीवन सम्बन्धी हों। यह धारा सौंदर्य, प्रेम और रहस्य की आध्यात्मिक अनुभूति पर पहुँचने का प्रयत्न करती रही है। इसका विरोध एक ओर प्राचीन क्लेसिकल काव्य की सामूहिकता से रहा है और दूसरी ओर वह यथार्थवाद की तथ्यात्मक पद्धति को पर्याप्त नहीं मानती।'[१] क्या ऐसी ही भूमिका वाजपेयीजी ने भी नहीं निभाई है ? उन्होंने न केवल हिंदी के स्वच्छन्दतावादी काव्य की मार्मिक समीक्षा ही प्रस्तुत की बल्कि उस जीवन-दृष्टि को सांस्कृतिक, सामाजिक स्तर पर भी अधिमान दिया। अतः हम उनके लिए 'स्वच्छन्दतावादी समीक्षक' की आख्या को सर्वथा उचित समझते हैं।

समीक्षक के रूप में वाजपेयीजी की प्रमुख व्यक्तिगत विशेषताओं का निरूपण किये बिना यह लेख अपूर्ण ही रह जायेगा। पहली ही बात जो उनके पाठक को प्रभावित करती है, वह आलोच्य कृति या कर्त्ता के समग्र प्रभाव को थोड़े में किंतु नुकीलेपन के साथ अंकित करने की उनकी अद्भुत क्षमता है। अनावश्यक विस्तार में न जाकर रचना या रचयिता की मौलिक विशिष्टता का उद्घाटन करना ही उनकी सारग्राही प्रतिभा को प्रिय रहा है। इसीलिए उनकी समीक्षाएँ छोटे निबन्धों के रूप में सामने आयी हैं वृहदाकार क्रमबद्ध ग्रन्थों के रूप में नहीं जयशंकर प्रसाद, 'महाकवि सूरदास' और 'कवि निराला' शीर्षक उनके ग्रन्थ भी फुटकर निबन्धों के संग्रह ही हैं और इसीलिए 'पुस्तक रूप में' अपूर्णता का आभास देते हैं। 'जयशंकर प्रसाद' की भूमिका में उन्होंने स्वयं लिखा है, 'मैं कोई प्रशस्त लेखक नहीं हूँ, जो विषय को विस्तार के साथ समझाते और उसे पूरा-पूरा उद्घाटित कर देते हैं....मैं तो साहित्य में रचनाकार की अंतः प्रेरणा का अनुसन्धान करने में ही व्यस्त हूँ। इसी के साथ-साथ संक्षेप में वाह्य स्थितियों का दिग्दर्शन करा देना और उन पर रचनाकार की प्रतिक्रिया दिखा देना तथा अन्त में उसकी कलात्मक चेष्टाओं का परिचय दे देना बस समझता हूँ।'[२] इसीलिए उन्होंने अपनी समीक्षा-शैली को 'इंगित शैली' भी कहा है। यह शैली छायावादी प्रगीत मुक्तकों की शैली के अनुरूप ही है जिनमें वस्तुगत वर्णन के स्थान पर किसी मनःस्थिति विशेष के उत्कट संवेदन को प्रधानता दी जाती रही है। 'आधुनिक साहित्य' तथा

१. धर्मयुग ६ अगस्त १९६७, पृ० १८।
२. जयशंकर प्रसाद, पृ० १।

'नया साहित्य' नये प्रश्न की दीर्घ भूमिकाओं को 'प्रलय की छाया में' 'परिवर्त्तन', 'वनबेला' जैसे दीर्घ प्रगीत मुक्तकों के समशील समझना चाहिए।

उनकी दूसरी विशेषता उनकी दबंग आक्रमकता है। उनकी इस प्रवृत्ति के विकास में वह परिस्थिति भी सहायक हुई जिसमें उन्होंने काम किया। आ० महावीर प्रसाद द्विवेदी और आ० रामचन्द्र शुक्ल के प्रबल विरोध के बावजूद समीक्षा के क्षेत्र में छायावाद के महत्त्व को प्रतिष्ठा उन्हीं के सरीखे योद्धा का कार्य था। इस दृष्टि से वे निराला के योग्य सहयोगी सिद्ध होते हैं। बाद में उन्हें उन लोगों से मोर्चा लेना पड़ा जो छायावाद को पलायन-वादी साबित करना चाहते थे और उसके स्थान पर मतवादी उत्साह प्रदीप्त या वैयक्तिक कुण्ठाग्रस्त बौद्धिकता प्रधान काव्यधाराओं को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। यहाँ यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि जहाँ पहले दौर में उनकी आक्रामकता विधायक थी वहाँ दूसरे दौर में वह निषेधक हो गई थी। बात यह है कि व्यावहारिक समीक्षा विधायकता के लिए रचना के साथ सामरस्य की माँग करती है। छायावादोत्तर साहित्य से वाजपेयीजी समरस नहीं हो सकते थे अतः उनकी परवर्ती समीक्षाएँ मुख्यतः निषेधक होने के लिए बाध्य थीं।

वाजपेयीजी की आक्रामकता की प्रभविष्णुता उनके चुटीले व्यंग्यों और पैने प्रश्नों के कारण बहुत बढ़ जाती है। आलोचना समर में उतरने पर अपने गुरुजनों के प्रति सम्मान रखते हुए भी उन्हें वे बख्शते नहीं थे, फिर समवयस्कों की तो बात ही जाने दीजिये। आ० रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय आदि की कतिपय मान्यताओं का विरोध करते हुए उन पर तीखे व्यंग्य वाणों को वर्षा करने में वे कुण्ठित नहीं हुए। इसी तरह उनकी आक्रामक कला का एक खास कौशल प्रश्न पर प्रश्न पूछते चले जाना था। ये प्रश्न इस क्रम से उभारे जाते थे कि अन्त तक आते-आते प्रतिपक्षी स्वतः निग्रह स्थान में पहुँच जाता था।

उनकी तीसरी विशेषता सतत आत्मपरीक्षण की उनकी अनुकरणीय प्रवृत्ति है। इसका प्रतिफल न पूर्ववर्ती अनुदार एवं अतिशय उदार दोनों प्रकार के निर्णयों को सन्तुलित करने में हुआ है। जहाँ एक ओर आ० रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द एवं प्रयोगवादी कविता के प्रति अपने विरोधमूलक अतिरेकों को उन्होंने बाद में संयमित किया एवं उनके प्रदेयों के महत्त्व को

स्वीकारा वहीं दूसरी ओर छायावादी काव्य की सीमाओं का भी उल्लेख किया, उदाहरण के लिए उन्होंने बाद में माना कि 'आज जब मैं प्रसाद के 'आँसू' काव्य को देखता हूँ तो उसमें अंग-संघटन की बड़ी कमी दिखाई देती है।'[१] अथवा 'कामायनी की उक्ति के अनुसार यह रचना 'कोमलता में बल खाती' हुई है····महाकाव्य का गंभीर स्वर भी इसमें पूरे वेग से नहीं उतरा।[२] अपने पूर्वनिष्कर्षों में इस प्रकार संशोधन करना निस्सन्देह बहुत बड़े कलेजे का काम है।

आधुनिक हिंदी साहित्य के विकास को, समझने के लिए वाजपेयीजी की समीक्षाओं का अध्ययन अनिवार्य है। छायावाद की विशेषताओं का उद्घाटन करने में वे अद्वितीय हैं। राष्ट्रीय साहित्य सम्बन्धी उनकी स्थापनाएँ भावी पीढ़ी के कृती साहित्यकारों के लिए वसीयत हैं। परवर्त्ती हिंदी समीक्षा पर उनकी गहरी छाप सहज ही देखी जा सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आचार्य वाजपेयी की अतिशय पौरुषयुक्त, स्वतंत्रचेता, रजोगुणी समीक्षाओं ने भारतीय साहित्य समीक्षा को महिम्नतर बनाया है।

● ●

---

१. नया साहित्य नये प्रश्न निकर्ष, पृ० ७।
२. आधुनिक साहित्य भूमिका, पृ० ३८।

७.

कामायनी में प्रकृति

कामायनी में प्रकृति की विवेचना में प्रवृत्त होते समय मन में आता है कि संभवतः इस लेख का अधिक संगत शीर्षक 'प्रकृति में कामायनी' या 'प्रकृतिमय कामायनी' ही होता। प्रकृति को मानवेतर तत्त्व के रूप में स्वीकार कर काव्य में वातावरण निर्माणार्थ, उद्दीपनार्थ अथवा मंडनार्थ उसका उपयोग भर करने की मध्यकालीन जड़ीभूत दृष्टि से कामायनीकार की प्रकृति सम्बन्धी दृष्टि में मौलिक एवं गुणगत अन्तर है। उसकी स्पष्ट अवधारणा के बिना कामायनी में प्रकृति की विवेचना सतही और भ्रामक हो जायेगी। कामायनी न केवल प्रकृति के परिवेश में लिखा गया महाकाव्य है बल्कि प्रकृति और मानव की अद्वय साधना की एक विशिष्ट काव्यात्मक उपलब्धि है। प्रकृति कामायनी के अन्तः बाह्य में व्याप्त, उसकी दार्शनिक निष्पत्ति से प्रमुख रूप से युक्त, उसके काव्य-सौन्दर्य की साधिका, उसके चरित्रों के मानस की प्रमुख निर्मात्री, स्वयं एक महत्त्वपूर्ण चरित्र, उसके चरित्रों की लीलाभूमि, शिक्षिका, सहचरी, उन चरित्रों के रूप, स्वभाव, विचारों एवं भावों के बोध के लिए अपरिहार्य तत्त्व है। कामायनी में प्रकृति की यह महिम्न स्थिति प्रसादजी की प्रकृति सम्बन्धी दार्शनिक मान्यता के कारण ही है अतः सर्वप्रथम उसका संक्षिप्त विवेचन ही समीचीन प्रतीत होता है।

यह सच है कि छायावाद के उन्मेषकाल में अंग्रेजी की रोमांटिक कविता एवं 'प्रकृति की ओर लौटो' जैसी पश्चिमी विचारधारा ने प्रबुद्ध युग-मानस में प्रकृति के सम्बन्ध में नवीन रागात्मक चेतना उद्बुद्ध की थी और छायावादी काव्य भी उससे एक सीमा तक अनुप्राणित हुआ था। किन्तु यह उससे भी बड़ा सच है कि छायावाद के समर्थ कवियों ने कृति के रूप में अपने प्रकृति काव्य को अभिव्यंजना दी, अनुकृति के रूप में नहीं। हिन्दी कविता में रीतिकालीन निष्प्राण प्रकृति चित्रण की घुटन और मानव मुक्ति की महत् चेतना को आस-पास के प्रस्तरीभूत समाज में सद्यः रूपायित करने की असंभवता के बोध से उत्पन्न कुण्ठा से त्राण पाने के लिए भी छायावादी कवि प्रकृति के उन्मुक्त परिवेश में गया था। पन्त की स्वीकृति है, 'सामाजिक ढाँचे के बासी सौंदर्य से ऊब कर वह प्रकृति की ओर मुड़ा और वहाँ से नया सौंदर्य-वैभव

संचित कर कला को सौरभ मंडित तथा भावना-जगत् को सद्यः प्रस्फुटित कर सका'[१] प्रकृति को सचेतन, सौंदर्य का अक्षयकोष, मानव-भावना का प्रेरणा-स्रोत स्वीकारते हुए भी छायावादी कवियों की प्रकृति सम्बन्धी दार्शनिक मान्यता एक ही नहीं है। यदि पन्तजी के अनुसार, 'समग्र प्रकृति को एक चेतन शक्ति मानना रहस्यवाद नहीं, आज के युग का वैज्ञानिक दृष्टिकोण है'[२] तो महादेवीजी के अनुसार छायावादी काव्य में 'प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप' मूलतः भारतीय प्रकृतिवाद के कारण है जो 'दर्शन के सर्ववाद का काव्य में भावगत अनुवाद कहा जा सकता है।'[३] छायावादी कवियों में प्रसादजी नवीन चेतना से सम्पृक्त होते हुए भी भारतीय दार्शनिक परम्पराओं के सर्वाधिक निकट थे। अपने सहज प्रकृति प्रेम को उन्होंने समसामयिक बोध से रंजित भले किया हो, अनुशासित नहीं होने दिया। गंभीर अध्ययन एवं मनन के उपरान्त उन्होंने अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल प्रत्यभिज्ञा दर्शन को स्वीकार किया था। कामायनी का तात्त्विक आधार शैवागम पर आधारित यही प्रत्यभिज्ञा दर्शन है और स्वभावतः इसी दृष्टि के अनुरूप प्रकृति को उसमें विविध स्तरों पर विविध रूपों में अंकित किया गया है किंतु हम यह भी स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि प्रसादजी शैवागम दर्शन को व्यापक आधार के रूप में ही ग्रहण करते हैं, अवरोधक शिकंजे के रूप में नहीं। अन्यान्य विचारधाराओं के स्वस्थ तत्त्व भी वे अकुण्ठ भाव से अपनाते रहे हैं। वस्तुतः किसी भी प्राचीन दर्शन का नवीन युग में तद्वत् स्वीकरण असंभव है। प्राचीन को नवीन सन्दर्भ में प्रेरक चिन्तन या भाव आदि के रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है, समग्र रूप में नहीं।

प्रसादजी के अनुसार शैवागमवादी आत्मा को प्रधानता देकर जगत् को, 'इदम्' को 'अहम्' में पर्यवसित करने के समर्थक थे। यह औपनिषदिक परम्परा का विकास ही था। प्रसादजी के शब्दों में 'भारतीय उपनिषदों का प्राचीन ब्रह्मवाद इस मूर्त्त विश्व को ब्रह्म से अलग निकृष्ट स्थिति में नहीं मानता। वह विश्व को ब्रह्म का स्वरूप बताता है :

> ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्मपश्चाद्दक्षिणतश्चोत्तरेण।
> अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

---

१. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पृ० २६।

२. वही, पृ० २८।

३. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध, पृ० ७३।

आगमों में भी शिव को शक्ति-विग्रही मानते हैं और यही पक्की अद्वैत भावना कही गई है अर्थात् पुरुष का शरीर प्रकृति है।'[1] प्रसाद ने कामायनी में केवल सिद्धांत निरूपण की दृष्टि से ही विश्व प्रकृति को परमसत्ता का व्यक्त रूप न कहकर, काव्यात्मक चित्रण के माध्यम से भी स्थान-स्थान पर अपने इस विश्वास को व्यंजित किया है। 'चिति का स्वरूप यह नित्य जगत् वह रूप बदलता है शतशत,'[2] कहकर परिवर्त्तमान जगत् की नित्यता एवं चिन्मयता की ओर संकेत किया गया है तो,

> 'अपने सुख दुःख से पुलकित, यह मूर्त्त विश्व सचराचर।
> चिति का विराट वपु मंगल, यह सत्य सतत् चिर सुंदर।[3]

के द्वारा सुख दुःख का अनुभव करनेवाला यह सचराचर मूर्त्त विश्व परम-चेतना का विराट् व्यक्त शरीर होने के कारण ही सत्य, मंगल और चिर सुन्दर भी कहा गया है। 'प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल' और 'पुरातनता का यह निर्भीक सहन करती न प्रकृति पल एक'[4] आदि वचनों द्वारा प्रकृति के आनन्द-मय नित्य नूतन स्वरूप को ही उसके चिर सौंदर्य का कारण बताया गया है। ऐसी स्थिति में जगत् को मिथ्या मानकर उसके सौंदर्य को आकर्षकपाश समझकर उससे बचने का विधान करनेवाले निवृत्तिमार्ग से उनका प्रस्थान भेद बिलकुल स्पष्ट है। पुरुष प्रकृति के सतत् मिलन को अर्द्धनारीश्वर की संश्लिष्ट कल्पना का मूल माननेवाले प्रसादजी ने समस्त विकारों से मुक्त मनु श्रद्धा के मिलन को भी उसी मिलन का संकेतक माना है,

> चिरमिलित प्रकृति से पुलकित, वह चेतन पुरुष पुरातन,
> निज शक्ति तरंगायित था, आनंद अंबुनिधि शोभन।[5]

शिवशक्ति के अभेद को समुद्र और तरंग के रूपक से समझाना अद्वैत-वादियों का प्रिय उदाहरण है। विश्व प्रकृति को आत्मा का अभिन्न अंग मानना प्रसाद के अनुसार अद्वैतमूलक रहस्यवाद का व्यावहारिक रूप है। अत्यन्त रमणीय काव्यात्मक शैली में कामायनी के दर्शन सर्ग में नर्त्तनरत शिव

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ३५-३६।
२. कामायनी दर्शन, पृ० २५०।
३. वही आनन्द, पृ० २४६।
४. वही श्रद्धा, पृ० ६३।
५. वही, आनन्द पृ० २९४।

के विराट् रूप के द्वारा प्रसाद ने यह संकेत दिया है कि परमसत्ता विश्वव्यापी होते हुए भी विश्वातीत है और विश्व प्रकृति उसी से अपना स्वरूप प्राप्त करती है। अंधकार के मंथित समुद्र से ज्योत्सना सरिता के आलिंगन द्वारा आलोक पुरुष शिव प्रत्यक्ष हुए, अन्धकार बना उनकी अलकें, अन्तर्निनाद संपूरित उनकी चित् सत्ता शून्य भेदिनी थी, नृत्यनिरत नटराज के श्रमसीकर ही तारा, सूर्य और चन्द्र बन रहे थे, उनके दोनों चरण संहार और सृजन से थे। असंख्य गोलाकार ब्रह्माण्ड बिखरे हुए थे, उनके कटाक्ष मात्र से अनन्त चेतन परमाणु क्षणभर में बनकर विलीन हो जाते थे। प्रकृति इसी नटराज के कान्ति समुद्र में घुलमिलकर अपना अपना सुन्दर स्वरूप धारण करती है,

> ... ... प्रकृति गलकर,
> उस कान्ति सिन्धु में घुलतिलकर
> अपना स्वरूप धरती सुन्दर।[1]

तात्पर्य यह कि प्रसाद के लिए प्रकृति परमसत्ता काव्यक्त-रूप होने के कारण सत्य, मंगल और सुन्दर है, एक ही शब्द में कहें तो 'कल्याणी' है।

प्रश्न यह है कि इस स्थापना का व्यावहारिक परिणाम क्या है? यदि प्रकृति सदा कल्याणी ही है तो फिर वह ध्वंस क्यों करती है? मनुष्य और प्रकृति का सम्बन्ध कैसा होना चाहिए? क्या उससे संघर्ष कर उसे पराजित कर देने की दृष्टि हमें अपनानी चाहिए अथवा उससे तादात्म्य स्थापित कर उसके स्नेहपूर्ण मंगलमय वरदानों से अपने को समृद्ध बनाना चाहिए?

कामायनी में प्रसाद ने प्रकृति और मानव के पारस्परिक सम्बन्धों में समरसता का विधान किया है। जब-जब वैयक्तिक या सामूहिक अतिचार के कारण यह समरसता भंग होती है तब-तब 'कल्याणी' प्रकृति दंडदात्री का रूप धारण करती है किन्तु उसके मूल में भी कल्याण-कामना ही निहित रहती है। देव संस्कृति का ध्वंस प्रकृति के साथ सामूहिक अतिचार करने के कारण ही हुआ था। शक्ति से मदमत्त होकर प्रकृति को विजित मानकर देवों के उन्मत्त विलास एवं पशुयज्ञ विधान के अतिरेक के कारण ही प्रकृति का क्षोभ प्रलय के रूप में प्रकट हुआ था। 'प्रकृति रही दुर्जेय' देव संस्कृति के ध्वंस से सीखे हुए इस पाठ को भुलाकर मनु जब पुनः 'प्रकृति संग संघर्ष निरन्तर अब कैसा डर?' की मनोभूमिका के कारण इड़ा से व्यभिचार करना चाहते हैं तब

१. वही दर्शन, पृ० २६२।

प्रकृति और उसके पुतलों के दल से होनेवाले भीषण रण में वे अकेले पड़ जाते हैं और अन्तरिच्च में महाशक्ति। प्रकृति हुँकार कर उठती है, सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग से भरकर मनु पर गिरती हैं और वे मुमूर्षु होकर धाराशायी हो जाते हैं। यह सामूहिक या वैयक्तिक अतिचार क्यों होता है? इसके मूल मे अतिचारी का यही भाव रहता है कि मैं प्रकृति से भिन्न, स्वतंत्र और उसका स्वामी हूँ, प्रकृति जड़ और ऐश्वर्य के साधन जुटाने का क्षेत्र मात्र है। इसी मान्यता को व्यक्त करते हुए इड़ा कहती है,

'यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्म लीन
सबका नियमन शासन करते, बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता
तुम जड़ता को चैतन्य करो, विज्ञान सहज साधन उपाय
यश अखिल लोक में रहे छाय।[1]

प्रकृति-विजय की इस वैज्ञानिक साधना द्वारा प्रभूत शक्ति संचित की जा सकती है किन्तु 'मूल्यनिर्धारण' की आन्तरिक और आधारभूत त्रुटि के कारण वह शक्ति कल्याणी न होकर ध्वंसकारिणी हो जाती है। प्रसाद के ही शब्दों में,

वह विज्ञानमयी अभिलाषा, पंख लगाकर उड़ने की
जीवन की असीम आशाएँ कभी न नीचे मुड़ने की
अधिकारों की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया
वर्गों की खाई बन फैली कभी नहीं जो जुड़ने की।[2]

अधिकारो की अनियंत्रित अधिकार-लिप्सा जब सीमा पार कर जाती है तब रुद्ररोष प्रकृति की तांडव-लीला में व्यक्त होता है। उस स्थिति पर पहुँचकर श्रद्धाहीन मन बुद्धि (इड़ा) द्वारा सुझाये जानेवाले वृहत्तर स्वार्थ संरक्षण के पथ को भी ग्रहण नहीं करता है। परिणामतः राग-द्वेष से सनी, परतंत्र बनी सी व्यक्ति-चेतना ठोकर खाती है।

स्पष्टतः प्रसाद प्रकृति के संग संघर्ष कर वैज्ञानिक उपायों से तृप्ति कर सुख के साधनों की संख्या असीम करते जानेवाले भोगवादी सिद्धान्त के विरोधी

---

१. वही इड़ा, पृ० १७९।
२. वही स्वप्न, १९४।

हैं। इससे योगक्षेम से अधिक संचयवाला लोभ जागता है, मनुष्य अपने कृत्रिम दु:खों-वस्तुतः अवांछनीय नवीन साधनों की अनुपलब्धि से उत्पन्न दु:खों से अपने को कष्टग्रस्त मानता है क्योंकि यंत्रों द्वारा सबकी प्रकृत शक्ति छीनी जाकर जीवनी शक्ति जर्जर कर दी जाती है।

विकल्प के रूप में प्रसाद का प्रस्ताव है कि प्रकृति को अत्याचारी (अत्याचार प्रकृति कृत हम सब जो सहते हैं) मानकर उससे संघर्ष करने की भावना के स्थान पर उसे सर्वमंगला, कल्याणी समझकर उससे समरस होने की भावना जगानी चाहिए। एकान्त भोग के समान ही एकान्त तप का सिद्धांत भी प्रसाद को अस्वीकार्य है। मनु के करुण, क्षणिक, दीन अवसाद को दूर करने के लिए प्रकृति के नित्य नूतन आनन्द की ओर उसकी दृष्टि आकर्षित करते हुए श्रद्धा कहती है,

> एक तुम यह विस्तृत भूखंड, प्रकृति वैभव से भरा अमंद
> कर्म का भोग, भोग का कर्म, यही जड़ का चेतन आनंद।[१]

इसी सन्दर्भ में वह शक्तिशाली हो विजयी बनने का विधाता का मंगलमय वरदान सुनाकर ज्वालामुखियों को चिनगारी सदृश सदर्प सानन्द कुचलकर मानवता की कीर्ति को दिग्दिगन्त व्यापिनी बनाने का आह्वान करती है। ऊपरी दृष्टि से लग सकता है कि श्रद्धा का यह आह्वान इड़ा के उद्बोधन सरीखा ही है, किन्तु ऐसा नहीं है, साध्य और साधन दोनों ही दृष्टियों से इन दोनों में मौलिक अन्तर है। इड़ा की दृष्टि जहाँ ऐकान्तिक सुख-भोग की प्रेरणा देकर दु:ख-द्वन्द्व की सृष्टि करती है वहाँ श्रद्धा की दृष्टि सामरस्य का विधान कर परम आनन्द की उपलब्धि कराने में समर्थ है। इस अन्तर को समझने की चेष्टा की जाये।

इड़ा की दृष्टि में प्रकृति ऐश्वर्य का उपकरण मात्र है। शोधक उसके रहस्य का अन्वेषण कर अपनी क्षमता बढ़ाता है। अपने लाभ की दृष्टि से कहीं विषमता और कहीं समता की सृष्टि करता है, वह नियामक है, शासक है, विज्ञान उसका साधन है जिसके द्वारा जड़ प्रकृति को वह चैतन्य करता है अर्थात् उसकी अन्तर्निहित शक्तियों को उपयोगी बनाता है। यह स्वार्थ पर व्यवहारवादी दृष्टि अविरत संघर्ष को ही चरम नियति मानती है। फलतः संघर्षों की सृष्टि करती जाती है, उनसे उबर नहीं पाती।

---

१. वही श्रद्धा, पृ० ६४।

श्रद्धा की दृष्टि में महाचिति के लीलामय आनन्द के कारण मंगलमंडित काम के फलस्वरूप इस विश्व सृष्टि का उन्मीलन हुआ है। यदि समरसता का अधिकार स्वीकार कर लिया जाये तो विषमता की पीड़ा से उत्पन्न दुःख ही सुख के विकास का कारण बन सकता है। अमंद प्रकृति वैभव से भरे, जड़ प्रतीत होनेवाले विस्तृत भूखण्ड का चेतन आनन्द तभी प्राप्त हो सकता है जब कर्म में ही भोग की अनुभूति और भोग में ही कर्म की अनुभूति हो अर्थात् कर्म मात्र शुभ एवं सुखद हो जाएँ। शक्ति के व्यस्त विद्युत्कण निरुपाय हो बिखरे हैं, उसी शक्ति का समन्वय कर समस्त मानवता विजयिनी हो सकती है।

ध्यान देने की बात है कि इड़ा शोधक को क्षमताशाली बनाना चाहती है, श्रद्धा समस्त मानवता को विजयिनी देखना चाहती है, इड़ा सुविधानुसार समता-विषमता दोनों को स्वीकार करती है श्रद्धा समन्वय और समरसता की सृष्टि करना चाहती है, इड़ा के लिए प्रकृति जड़ है, श्रद्धा के लिए चेतन।

प्रश्न उठ सकता है कि श्रद्धा से युक्त होकर भी मनु लक्ष्य-भ्रष्ट क्यों होते हैं ? जैसा कि प्रसाद ने स्पष्ट किया है कि मनु श्रद्धा के उत्साहपूर्ण वचनों एवं काम की प्रेरणा का भ्रांत अर्थ लेकर आगे बढ़े थे, वे प्रकृति से समरस होने के स्थान पर अपनी समस्त कृतियों की सीमा अपने को ही मानते थे, परिणामतः वे श्रद्धा के सौंदर्य-जलधि से अपना गरल-पात्र ही भर सके। पहले श्रद्धा के पशु (रागमयी कोमल करुण भावना) से और फिर अपने ही अजात पुत्र से ईर्ष्या कर श्रद्धा को त्याग अपने उद्धत अहं को इड़ा के माध्यम से तृप्त करने के प्रयास में असफल हो जीवन-मृत हो बैठे। पुनः श्रद्धा से संजीवित हो उसी की सहायता से ज्ञान, इच्छा, क्रिया का समन्वय कर मनु कैलाश में जड़-चेतन सबसे समरस हो सके थे, एक चेतनता के विलास में अखंड घने आनन्द की उपलब्धि कर सके थे। प्रत्यभिज्ञा के द्वारा परमेश्वर से अभिन्न बन गये थे।

समरसता वस्तुतः मैं का···व्यक्तिगत चेतनता का वह विस्तार है जो सबको स्पर्श कर लेता है। 'अपने सुख को विस्तृत कर लो सबको सुखी बनाओ' के द्वारा भी यही बात कही गई थी। जब सबकी सेवा पराई न होकर अपनी ही सुख संसृति बन जाती है, जब अणु-अणु कण-कण अपना अवयव ही ज्ञात होने लगता है, जब द्वयता का बोध ही नहीं रह जाता तभी समरसता की सिद्धि होती है।

क्या इसके लिए सांसारिक कर्त्तव्यों को त्यागकर किसी भौगोलिक कैलाश की ओर अभिगमन करना पड़ता है ? स्पष्ट उत्तर है नहीं, प्रसाद जी व्यावहारिक

जगत् में भी समरसता की सिद्धि को संभव मानते हैं तभी श्रद्धा मानव को निर्देश देती है 'सबकी समरसता का प्रचार'। कैलाश वस्तुतः आनन्दमय कोश का ही प्रतीक है। श्रद्धा का संबल लेकर ज्ञान, इच्छा, क्रिया के अन्तःसंयोजन के द्वारा इस ऊर्ध्व स्थिति तक अधिरोहण कोई भी साधक जीवन के कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए भी कर सकता है। यह वैयक्तिक उपलब्धि समष्टिगत भी हो सकती है। इड़ा मानव तथा सारस्वत नगर निवासियों की कैलाश यात्रा के द्वारा इसी तथ्य को प्रसाद ने व्यंजित किया है।

कामायनी में जिस तत्त्व को प्रसाद ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन की शब्दावली में प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है कामना में उसे अपेक्षाकृत रूप से अधिक सरलता और स्पष्टता से प्रस्तुत किया है। मानव और प्रकृति के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में प्रसाद जी की मान्यता को सम्यक् रूप से समझने के लिए इस सन्दर्भ में उसका किंचित् दिग्दर्शन कदाचित् अप्रासंगिक नहीं होगा।

फूलों के द्वीप में तारा की सन्तानों की जीवनधारा 'समरसता' की व्यावहारिक छवि उपस्थित करती है। 'कैसी प्रकृति से मिली हुई यह जाति है! महत्त्व और आकांक्षा का अभाव और संघर्ष का लेश भी नहीं है। जैसे शैल निवासिनी सरिता पथ के विषम ढोकों को, विघ्न-बाधाओं को भी अपने सम और सरल प्रवाह तथा तरल गति से ढंकती हुई बहती रहती है, उसी प्रकार यह जाति, जीवन की वक्र रेखाओं को सीधी करती हुई, अस्तित्व का उपभोग हँसती हुई कर लेती है।'[1] विलास स्वर्ण (लोभ) और मदिरा (भोग) के प्रचार से इस समरसता को भंग करता है। उसकी दृष्टि इड़ा की दृष्टि से कुछ-कुछ मिलती है, उदाहरणार्थ विलास की भी मान्यता है कि 'उदार प्रकृति बल, सौंदर्य और स्फूर्ति के फुहारे छोड़ रही है। मनुष्यता यही है कि सहज-लब्ध विलासों का, अपने सुखों का संचय और उनका भोग करे।'[2] औरों के सुख से अपने सुख को अलग कर उसी का विस्तार करने की चेष्टा का परिणाम होता है उत्पीड़न, शोषण, विक्षोभ और निष्ठुर द्वन्द्व! अन्त में विवेक के सतत प्रयास से विलास और लालसा बहिष्कृत होते हैं तथा कामना और सन्तोष का पुनर्मिलन संभव होता है। विवेक इस पूरे क्रम का विश्लेषण कर कहता है, 'इस विराट् विश्व और विश्वात्मा की अभिन्नता, पिता और पुत्र, ईश्वर और सृष्टि सबको एक में मिलाकर खेलने की सुखद क्रीड़ा भूल जाती है; होने लगता

---

१. कामना, पृ० १३।

२. वही, पृ० ३६।

है विषमता का विषमय द्वंद्व। तब सिवा हाहाकार और रुदन के क्या फैलेगा ?'[1] सबको एक में मिलाकर खेलना ही समरसता है, इसी को पुनः उपलब्ध करना होगा आत्मसंयम और आत्मशासन के द्वारा ! विवेक के शब्दों में, 'उस दिन की प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगी, जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासकों का भेद विलीन होकर विराट् विश्व, जाति और देश के वर्णों से स्वच्छ होकर एक मधुर मिलन क्रीड़ा का अभिनय करेगा।'[2]

यह प्रश्न अत्यन्त संगत है कि क्या वर्त्तमान परिस्थितियों में इस स्वप्न के चरितार्थ होने का कोई संभावना है ? प्रसाद जी महायन्त्र-प्रवर्त्तन के विरुद्ध थे, कामायनी और कामना दोनों में ही इसके संकेत मिलते हैं। प्रसाद जी जीवन की कृत्रिमता को बढ़ाने में विज्ञान को भी अपराधी मानते थे। अवश्य ही स्वार्थ पर स्वकेन्द्रिक बुद्धि, विलास, लालसा, महत्त्वाकांक्षा आदि मानव की असद्वृत्तियों को ही इसके लिए वे मुख्य रूप से उत्तरदायी मानते थे जिनके चलते समाज में विषमता बढ़ती है और संस्कृति का ध्वंस होता है। उनका मंगल स्वप्न था कि मनुष्य श्रद्धा, विवेक, सन्तोष आदि सद्वृत्तियों द्वारा अपने को प्रकृति और समाज से समरसकर अपना वास्तविक कल्याण करे ! आज विषमता से उत्पन्न दुःखद परिस्थितियों का कटु अनुभव प्रत्येक व्यक्ति करता है, यह भी सच है कि विश्व तीसरे महायुद्ध के कगार पर खड़ा है, एवं उद्जन बमों तथा अन्य सर्वसंहारक क्षेप्यास्त्रों के कारण विश्व संस्कृति के ध्वंस का खतरा बहुत वास्तविक है। किन्तु फिर भी कामायनी में निर्दिष्ट सामरस्यविधान को (जो व्यक्ति व्यक्ति के अन्तः संयोजन के द्वारा ही संभव है) आज की मानव चेतना स्वीकार कर लेगी, ऐसा नहीं लगता। कामायनीकार का समाधान आज की वास्तविक जटिल परिस्थितियों में अत्यन्त सरलीकृत एवं अव्यावहारिक प्रतीत होता है। मनुष्य वैज्ञानिक उपलब्धियों को त्यागकर आरंभिक कृषियुग के मानव समाज के अनुरूप प्रकृति से समरस होना चाहेगा इसकी कल्पना करना अपने भोलेपन का ही परिचय देना है। फिर भी न्याय पर आधारित विश्व-व्यवस्था में प्रकृति और समाज के साथ समरस हुई मानव जाति का स्वप्न देखना प्रसाद जैसे क्रान्तदर्शी कवियों का ही कार्य है और उसे युगानुरूप चरितार्थ करने का उत्तरदायित्व सम्मिलित रूप से चिन्तकों, कर्मियों एवं व्यवस्थापकों का है।

---

१. वही, पृ० ६८।
२. वही, पृ० ६०।

प्रसाद की प्रकृति सम्बन्धी इन सैद्धान्तिक मान्यताओं ने साहित्य में प्रकृति चित्रण की उनकी दृष्टि और शिल्पविधि को गंभीर रूप से प्रभावित किया है। प्रसाद साहित्य में विशेषतः कामायनी में प्रकृति सजीव और सचेतन है। वह मानव की जड़ लीला भूमि मात्र नहीं है, उसकी धात्री, शिक्षिका, सहचरी भी है। उसके सुख-दुःख से वह केवल प्रभावित ही नहीं होती उसमें सक्रिय रूप से अंश ग्रहण करती है। अपने बाह्य मनोहर स्वरूप के भीतर किसी दिव्य शक्ति की रहस्यानुभूति कराती रहती है। प्रकृति पर चेतना का आरोप उन्होंने पश्चिम से नहीं सीखा है। वैसे यह मानना भी कठिन होगा कि अपने निकट अतीत के साहित्यिक दाय को त्यागकर अपने सुदूर अतीत के साहित्यिक प्रयोगों का अनुशीलन कर उनसे सचेत रूप से अपने को युक्त करने की इस चेष्टा के पीछे अंगरेजी की रोमांटिक कविता के सम्पर्क से प्राप्त नवीन चेतना की प्रेरणा थी ही नहीं। अन्य छायावादी कवियों ने इस प्रेरणा को स्वीकार किया है, प्रसाद उससे बिलकुल अछूते रहे होंगे, यह नहीं माना जा सकता। अनुकरण के आरोप को अस्वीकारते हुए उन्होंने आवेशपूर्वक लिखा है, 'यहाँ तक कहते हुए लोग सुने जाते हैं कि वर्तमान हिन्दी कविता में अचेतनों में, जड़ों में चेतनता का आरोप करना हिन्दीवालों ने अंगरेजी से लिया है, क्योंकि अधिकतर आलोचकों के गोत का टेक यही रहा है कि हिन्दी में जो कुछ नवीन विकास हो रहा है, वह सब बाह्य वस्तु (Foreign element) है।........वे भूल जाते हैं कि आनन्दवर्द्धन ने हजारों वर्ष पहले लिखा है—

> भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्
> व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया।'[१]

अचेतन को चेतन और चेतन को अचेतन के रूप में अपने काव्य में भारतीय सुकवि स्वतंत्रतापूर्वक व्यवहृत करता रहा है। यह तो ठीक है, किन्तु क्या वह प्रकृति को किसी रहस्यमयी सत्ता के रूप में भी देखता रहा है एवं उसके संकेतों को ग्रहण कर आत्मपरिष्करण भी करता रहा है। प्रसाद असन्दिग्ध रूप से यह मानते हैं कि भारत के क्रांतदर्शी कवि ऐसा करते रहे हैं और इसलिए वे या अन्य छायावादी कवि उसी परम्परा का विकास कर रहे हैं। उन्हीं के शब्दों में—

'साहित्य में विश्व-सुंदरी प्रकृति में चेतनता का आरोप संस्कृत वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद सौन्दर्य

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ३०।

लहरी के शरीरं त्वं शंभो का अनुकरण-मात्र है। वर्त्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुंदर प्रयत्न है।'[1] इस साहित्यिक प्राकृतिक रहस्यवाद का अभिव्यंग्य पक्ष यदि प्रकृति में किसी विराट् सत्ता की अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय है तो अभिव्यंजना पक्ष है 'ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति'। इन दोनों पक्षों का मणिकांचन संयोग हुए बिना केवल प्रकृति काव्य को (भले ही उसमें आध्यात्मिकता का पुट भी क्यों न हो !) छायावाद के अन्तर्गत मानने में प्रसाद को आपत्ति थी।

नवनव-रूप-धारिणी लीलामयी प्रकृति सुंदरी में किस विराट् सत्ता का आभास है, इस जिज्ञासा से आरम्भकर प्रकृति के विविध रूपों में उस सत्ता की अपरोक्ष अनुभूति करते हुए प्राकृतिक सौंदर्य द्वारा अहं का इदम् से समन्वय कर उस सत्ता से अभिन्न हो जाने की चिरन्तन अनुभूति की स्थिति तक पहुँचना ही प्राकृतिक रहस्यवाद है। कामायनी में इसका पूर्ण परिपाक हुआ है। प्रलय के अलस विषाद एवं मोहमुग्ध जर्जर अवसाद से मुक्त होते ही मनु की महाजिज्ञासा जागती है,

> 'वह विराट था हेम घोलता
>   नया रंग भरने को आज;
> कौन ? हुआ यह प्रश्न अचानक
>   और कुतूहल का था राज।[2]

मनु को प्रतीत होता है कि विश्वदेव सविता, पूषा आदि किसी के अम्लान शासन में ही घूम रहे हैं, प्रलय के समय उसी के भ्रूभंग से ये विकल हो उठे थे, उसका संधान करते हुए, उसी के आकर्षण से खिंचे हुए ग्रह नक्षत्र आदि निकलते और छिपते हैं, उसी के रस से सिंचित हो तृण वीरुध लहलहाते हैं, सब सिर नीचा कर उसकी सत्ता स्वीकारते तथा उसके अस्तित्व का मौन प्रवचन करते हैं, उस अनन्त रमणीय का निर्वचन नहीं किया जा सकता, उसका अनुभव ही किया जा सकता है।

---

१. वही, पृ० ६६।
२. कामायनी, आशा पृ० ३२।

बुद्धि के सहारे किये हुए अनुमानों ने ग्रहं संभवतः और पुष्ट होता है। ग्रहं के विलय का मार्ग प्राकृतिक सौंदर्य पर रीझ कर उससे भावात्मक आदान-प्रदान करना है। आशा सर्ग में ही तारों भरी अँधेरी रात के रहस्यमय सौंदर्य से अभिभूत हो जाने के कारण मनु का पृथक्ता-बोध शिथिल होता है। अकेलेपन की व्यथा भूलकर वे तारों के मधुमय संदेश ग्रहण करने लगते हैं और प्रियतम से मिलने के लिए जाती हुई हाँफती, खिलखिलाती, मुसकाती पगली रजनी से न केवल आँचल सम्हालने का स्नेह भरा अनुरोध करते हैं बल्कि अपने विस्मृत प्रेम या वेदना या ऐसे ही किसी भाव को ढूँढ़ देने की मनुहार कर उसे परस्पर बाँट लेने की प्रतिश्रुति भी देते हैं। प्रकृति के साथ मानव का यह जीवन्त साहचर्य कामायनी की आधारभूत विशेषताओं में से एक है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य के आभासवाद के अनुसार यह प्रत्यक्ष जगत् 'प्रकाश' का ही आभास है। इसका रूप इसके प्रकाशस्वरूप का आवरण मात्र है। काम सर्ग में इस सिद्धांत को काव्यात्मक स्तर पर प्रस्तुत करते हुए प्रसाद ने कहा है, 'अवगुंठन होता आँखों का आलोक रूप बनता जितना'[१]........शुद्ध प्रकाश के जितने भी रूप हैं वे वस्तुतः आँखों के लिए अवगुंठन सदृश है। प्रकृति की सौंदर्यमयी चंचलकृतियाँ अपने में आवृत रहस्य को प्रत्यक्ष करनेवाली आँखों को रोककर आगे बढ़ने की उनकी पात्रता की जाँच करती है। मनु के लिए अब वह विराट् सत्ता केवल अनुमान का नहीं अनुभूति का विषय बन जाती है और सुंदरता के इस परदे में धरे किसी धन को अपनी अक्षयनिधि मानकर वे उससे अपना प्रगाढ़ रागात्मक सम्बन्ध जोड़ लेते हैं और उसे पहचानने के लिए व्याकुल हो उठते हैं। प्रकृति के विविध रूपों में उस सत्ता की अपरोक्ष अनुभूति मनु अपनी समस्त ज्ञानेन्द्रियों से करते हैं, केवल अनु-मानाश्रित नहीं रही वह सत्ता अब उनके लिए है। व्यक्त प्राकृतिक सौंदर्य में अन्तर्निहित परम सुंदर की शब्द स्पर्श, रूप, रस, गंधमयी मनु की अनुभूति को सार्थक एवं रमणीक प्रतीक विधान द्वारा कवि प्रसाद की इन्द्रधनुषी भाषा ही व्यक्त कर सकती थी :—

इस इन्दीवर से गंध भरी
बुनती जाली मधु की धारा,

---

१. वही काम०, पृ० ७३।

मन-मधुकर की अनुरागमयी
बन रही मोहिनी सी कारा ।[1]

× × ×

माधवी निशा की अलसाई
अलकों में लुकते तारा सी
क्या हो सूने मरु अंचल में
अंतः सलिला की धारा सी ।

श्रुतियों में चुपके चुपके से
कोई मधु धारा घोल रहा,
इस नीरवता के परदे में
जैसे कोई कुछ बोल रहा ।

है स्पर्श मलय के झिलमिलसा
संज्ञा को और सुलाता है
पुलकित हो आँखें बन्द किये
तंद्रा को पास बुलाता है ।[2]

जीवन धन की छवि के दर्शन की प्रबल लालसा से अनुप्रेरित हो मनु मनोराज्य करने लगते हैं कि आज यह सँवरता सा अवगुंठन कहीं चाँदनी सदृश खुल जाये तो""""लेकिन नहीं, अभी उनके संदेहों की जाली बहुत दृढ़ है, उन्हें भय है कि मेरी इन्द्रियों की चेतना मेरी ही हार न बन जाये और सुषमा दुर्भेद्य ही बनी रहती है ।

मनु की इस आकुल, उद्भ्रांत मनःस्थिति से कितनी भिन्न है श्रद्धा की सर्वसमर्पणमयी, सर्वग्राहिणी मनःस्थिति जो प्रकृति के सौन्दर्य का अवलोकन करते समय अनायास ही उससे समरस हो जाती है । 'वासना सर्ग' में मनु की क्षोभयुत उन्मादमयी अधीरता का निवारण करने के लिए श्रद्धा ज्योत्स्ना मंडित मौन प्रकृति की मूर्ति बने बैठे परम सुन्दर की ओर संकेत करती है, जिसके स्वर्ण सुन्दर चरणों में राशि-राशि नक्षत्र कुसुमों की अभ्रान्त अर्चना बिखरी है । श्रद्धा का संकेत है कि हम भी उन नक्षत्र कुसुमों की भाँति उन्हीं चरणों में निवेदित हो जाएँ । बिना प्रश्न बिना शर्त का यह सहज सरल

१. वही काम०, पृ० ७३ ।
२. वही काम, पृ० ७५ ।

समर्पण ही प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा अहं का इदम् से समन्वय है। श्रद्धा को वे मार्मिक पंक्तियाँ हैं :–

मत कहो, पूछो न कुछ, देखो न कैसी मौन,
विमल राका मूर्ति बनकर स्तब्ध बैठा कौन।
विभव मतवाली प्रकृति का आवरण वह नील
शिथिल है, जिसपर बिखरता प्रचुर मंगल खील,
राशि राशि नखत कुसुम की अर्चना अश्रांत
बिखरती है तामरस सुन्दर चरण के प्रांत।[१]

मनु काम सर्ग में जिस 'जीवन धन' के दर्शन अपने संदेहों के कारण, दम, संयम को बाधा मानने के कारण नहीं कर पाये थे, वासना सर्ग में श्रद्धा के द्वारा संकेतित जिस परम सुन्दर को श्रद्धा के शरीर सौंदर्य से अभिभूत होने के कारण नहीं उपलब्ध कर पाये थे, उसी के दर्शन करते हैं श्रद्धा की प्रेरणा से 'दर्शन' सर्ग में। असत् शून्य अंधकार को जब साधनाभूत दृष्टि भेद देती है तब आवरण मुक्त शुद्ध प्रकाश के दर्शन होते हैं :

सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण-पटल की ग्रन्थि खोल,
तम जलनिधि का बन मधु मंथन,
ज्योत्स्ना सरिता का आलिंगन
वह रजत गौर उज्ज्वल जीवन,
आलोक पुरुष ! मंगल चेतन !
केवल प्रकाश का था कलोल
मधु किरनों की थी लहर लोल।[२]

स्मरण रहे श्रद्धा नील गरल से भरे चन्द्र को कपाल पर धारण करनेवाले, अखिल विश्व का विष पीनेवाले महादेव के दर्शन कर्म सर्ग में ही कर चुकी थी, तभी वह सर्वमंगला बनकर सबका दुःख सहने की क्षमता प्राप्त कर सकी थी। आवरण मुक्त परम सौन्दर्य की झांकी पाते ही मनु उससे समरस होने के लिए लालायित हो उठते हैं, श्रद्धा का संबल पाकर इच्छा, क्रिया, ज्ञान का संयोजन कर वे उससे तन्मय हो जाते हैं।

---

१. वही वासना, पृ० ६६।
२. वही दर्शन, पृ० २६१।

प्राकृतिक रहस्यवाद का चरम परिपाक हुआ है आनन्द सर्ग में। मनु प्रत्यभिज्ञान द्वारा 'सएवेश्वरोऽहं' (मैं ही वह ईश्वर हूँ) की स्थिति प्राप्त कर चुके हैं, श्रद्धा उनकी अभिन्न शक्ति है और समस्त जड़-चेतन उन्हीं के अवयव हैं। तभी श्रद्धा और मनु के माध्यम से इड़ा दर्शन करती है पुलकित प्रकृति से चिरमिलित पुरातन चेतन पुरुष का, निज शक्ति तरंगायित शोभन आनंद अंबुनिधि का। इड़ा एवं अन्य सारस्वत नगर-निवासियों को मनु सामरस्य का तत्त्वज्ञान समझाते हैं, श्रद्धा की मधुर स्मितिलेखाएँ उनका भावान्तर कर देती हैं और वे सब विश्वप्रकृति से समरस हो जाते हैं,

क्षणभर में सब परिवर्तित, अणु-अणु थे विश्व कमल के
पिंगल पराग से मचले, आनंद सुधारस छलके।[1]

इसके बाद के छंदों में 'कामायनी' को मुरली ध्वनि पर प्रकृति के लास्य नृत्य का मोहक चित्रण है। परिमल बूँदों से सिंचित मधुर सुगंधित पवन बहने लगा जो असंख्य कलियों के अछूते अधरों के चुम्बनों से परिपूर्ण था। नव कनक कुसुम रज धूसर जलद कुछ अभिनव मंगल गीत गाते हुए संसृति के इस मधुर मिलन के पर्व में सम्मिलित होने के लिए गगन के आँगन में चल पड़े। वल्लरियाँ नाच उठीं तो सुगंध की लहरें बिखर गयीं। मधुकर उनके नूपुरों के समान गुंजार कर उठे। विश्व सुन्दरी प्रकृति के कौशेय वसनों में सिकुड़न क्या पड़ी, सम्पूर्ण सृष्टि मादन मृदुतम कंपन से हिल्लोलित हो उठी। रस से सने सुमन धीरे-धीरे बरसने लगे। रश्मि मंडित हिमखण्ड मणिदीप बन गये तो समीर मधुर मृदंग की थापें देने लगा। जीवन की मुरली की मनोहर संगीत-ध्वनि चारों ओर फैल गई। कामना संकेत बन मिलन की दिशा बतलाने लगी, रश्मियाँ अप्सरियाँ बन अंतरिक्ष में परिमल के कणों के रंगमंच पर नाच उठीं। सारी प्रकृति ही सजीव होकर आनन्द विभोर कल्याणी का रूप धारण कर उस लास्य रास में जुटी हुई थी। पुरातन पुरुष के सदृश चन्द्रकिरीटधारी रजत शुभ्र कैलाश अपनी मानसी गौरी की लहरों का कोमल नर्त्तन देख रहा था। उस विमला प्रेम ज्योति से सबकी आँखें प्रतिफलित हो गईं और सब अपनी ही एक कला के समान पहचाने से लगने लगे। उस परमसत्ता से अभिन्न हो जाने की चैतन्यमयी, आनन्दमयी चिरन्तन अनुभूति ही प्राकृतिक रहस्यवाद की चरम स्थिति है। यहीं पहुँचकर कामायनी पूर्णता प्राप्त करती है :

---

१. वही आनंद, पृ० २६६।

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड घना था।[१]

न केवल कामायनी की दार्शनिक प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए बल्कि उसके काव्य सौंदर्य की अभिवृद्धि के लिए भी प्रसाद प्रकृति की शरण में गये हैं। कामायनी की अधिकांश घटनाएँ उन्मुक्त प्रकृति के प्रांगण में ही घटती हैं बल्कि कुछ घटनाएँ तो प्राकृतिक व्यापार ही हैं। प्रकृति के अनेकानेक रूपों पर कामायनी के चरित्र मुग्ध हुए हैं, कुछ रूपों से प्रबुद्ध आश्वस्त संत्रस्त या विरक्त भी हुए हैं। अतः मानवीय रागात्मकता से अनुरंजित हो विविध प्राकृतिक दृश्य कामायनी में चित्रित हुए हैं। प्रकृति कामायनी के चरित्रों की सहचरी भी है और स्वयं एक मुख्य चरित्र भी। इस रूप में भी वह कामायनी का अभिन्न अंग है। हम कह सकते हैं कि कामायनी के ऐसे प्रकरणों में प्रकृति वर्ण्य विषय के रूप में आई है।

प्रसाद द्वारा चित्रित प्राकृतिक दृश्यों पर विचार करने के पूर्व सौन्दर्यबोध सम्बन्धी उनकी धारणा से अवगत हो लेना लाभदायक होगा। उन्होंने इस विषय का विवेचन करते हुए लिखा है, 'सीधी बात तो यह है कि सौन्दर्य बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता। सौन्दर्य की अनुभूति के साथ ही साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिए, उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य हैं। इसलिए अमूर्त्त सौन्दर्य बोध कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।'[२] इसी विश्वास के कारण प्रसाद ने ऊषा, संध्या, रात्रि या अन्यान्य प्राकृतिक दृश्यों को उनके वस्तु रूप में अंकित करने के स्थान पर उनके निरीक्षण से पड़नेवाले प्रभावों के अनुकूल उन्हें मूर्त्तरूप प्रदान कर उनका चित्रण किया है। इस क्षेत्र में प्रसाद अकेले नहीं हैं। सभी प्रमुख छायावादी कवियों ने प्रकृति का चित्रण उसे मानवीय रागात्मकता से अनुरंजित करके ही किया है। कामायनी के कुछ विशिष्ट प्राकृतिक दृश्यों का विवेचन ही इस छोटे से लेख में सम्भव है।

हिमालय

कामायनी का आरम्भ और अन्त पर्वतीय प्रदेश में ही हुआ है। प्रलय के अनन्तर चिन्तामग्न मनु हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठकर

---

१. वही आनन्द, पृ० ३०२।
२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ३५।

भीगे नयनों से प्रलय प्रवाह देख रहे हैं। प्रकृति भी जैसे समान रूप से दुःखी है अतः दूर-दूर तक विस्तृत हिम मनु के हृदय के समान ही स्तब्ध है, पवन की टकराहट से वह निस्तब्धता भंग नहीं होती और बढ़ जाती है। दो-चार देवदारु न केवल उस तपस्वी के समान लम्बे ही थे बल्कि उसी के समान ठिठुरे हुए, पत्थर (चेतना शून्य) सदृश अड़े हुए भी थे। उनका विशेषण हिम धवल यहाँ पवित्रता का नहीं निष्प्राणता का बोध जगाता है। अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त मार्मिक चित्रण है यह! मनोभावों का प्रकृति पर प्रक्षेपण प्रसाद की सहज प्रवृत्ति है उसकी झलक यहाँ भी मिलती है।

आशा सर्ग के आरम्भ में हिमालय पर उषा का उदय हुआ जो प्रलय की काल रात्रि को पराजित कर जीवन और समृद्धि का सन्देश सुनानेवाली है, अतः प्रसाद की कवि तूलिका ने उसका अंकन इस प्रकार किया—

'उषा सुनहले तीर बरसती जय लक्ष्मी सी उदित हुई।' हिम धवल निष्प्राणता अब जीवन के आलोक से रंजित हो सुनहली हो गई है, भावी विकास की सूचना ही नहीं उसकी प्रचुरता की मूर्तिमती प्रफुल्ल प्रतिश्रुति है 'बरसती हुई जय लक्ष्मी' शब्दावली में। विजय लक्ष्मी का पौराणिक प्रतीक सहज ही सम्मान, गौरव, ऐश्वर्य आदि का बोध करा देता है।

प्रलय के बाद धीरे-धीरे जलप्लावन उतर चला था और पृथ्वी निकलने लगी थी किन्तु अब भी केवल कुछ पर्वतीय उच्च भूमि ही निकल पायी थी, जिसके चारों तरफ सागर लहरा रहा था। प्रसाद ने इसका चित्रण करने के लिए बिम्ब-विधान किया है—मानवती वधू का जो बहुत ही प्रभविष्णु है—

सिंधु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में
मान किये सी ऐंठी सी।[1]

प्रलय काल के अतिरेकों से पृथ्वी उसी प्रकार क्षुब्ध थी जिस प्रकार वधू मिलन रात्रि में किये गये पति के अतिरेकों से। प्रभात के आगमन से वधू संकुचित होकर अपनी शैया पर बैठ तो गयी है किन्तु रात्रि का हलचल भरी स्मृतियों के कारण वह मान किये ऐंठी सी बैठी है। इस बिम्ब में समुद्र से उठी हुई पृथ्वी और शैया पर बैठी हुई वधू का दृश्यगत साम्य तो है ही, भावगत

१. कामायनी आशा, पृ० ३२।

मानसिक साम्य भी लक्षणीय है। सचेतन प्रकृति की अंशभूता पृथ्वी का प्रलय रात्रि के अतिरेकों से क्षुब्ध होना अत्यन्त स्वाभाविक है।

हिमालय की आवरण-मुक्त हरी-भरी प्रकृति का चित्रण उसके विराट्, सौम्य, शान्त रूप के अनुरूप ही है किन्तु उससे प्रत्यक्षदर्शी की व्यक्तिगत अभिज्ञता कम झलकती है। स्वर्णशालियों की दूर-दूर तक फैली कलमें शारदीया लक्ष्मी के मन्दिर की राह सदृश हैं। और गगन स्पर्शी हिमालय की ऊँचाई, उसकी अचलता देखकर कवि की वाणी स्फुरित होती है :

विश्व कल्पना सा ऊँचा वह
सुख शीतल संतोष निदान,
और डूबती सी अचलाका
अवलंबन मणि रत्न निधान।
अचल हिमालय का शोभनतम
लता कलित शुचि सानु शरीर।[२]

हिमालय विश्व कल्पना के समान ऊँचा था, सुख से शीतल, सन्तोष का कारण स्वरूप। डूबती हुई पृथ्वी के मणिरत्न कोषमय अवलंबन सदृश अचल हिमालय का शुचिशिखर था। उसे लता कलित कहना निरीक्षण की त्रुटि ही है, बर्फीली चोटियों में लता कहाँ! आकाश के असीम नीले अंचल में किसी की मृदु मुसकान देखकर हिमालय की हँसी गीतमुखर शीतल झरनों के रूप में फूट निकली। आकाश की जड़ता के सदृश शांत अनन्त नीलिमा अपनी ऊँचाई के बावजूद अभावमयी है। हिमालय की यह ऊँचाई उसके समक्ष विश्व के सुख और उल्लास की एक महातरंग के रूप में मूर्त्त हो उठी है, 'मानों तुंगतरंग विश्व की हिमगिरि की वह सुढर उठान!' यह निश्चय ही एक मौलिक कल्पना है। रहस्य सर्ग में भी हिमालय के सुंदर भयंकर रूप की एक झाँकी है।

कामायनी के अन्तिम सर्ग में कैलाश का मोहक चित्रण किया गया है, जिसकी कुछ चर्चा इसी लेख के आरंभ में की जा चुकी है।

फिर भी यह कहना पड़ता है कि प्रसाद का हिमालय वर्णन कालिदास के हिमालय वर्णन के सदृश संश्लिष्ट और प्रभविष्णु नहीं बन पड़ा है।

रात्रि-सौंदर्य—प्रसाद को इंद्रजाल जननी रजनी का मधुर रहस्यमय सौंदर्य अत्यन्त प्रिय था। कामायनी में उन्होंने उसके विविध चित्र अंकित

२. वही आशा, पृ० ३७।

किये हैं। नवरस से भरे तारे तम के सुंदरतम रहस्य हैं जो व्यथित विश्व के लिए सात्त्विक शीतल बिन्दु सदृश हैं। आशा सर्ग में रजनी का मानवीकरण कर उसे नटखट, हास्यमुखर, मुग्धा अभिसारिका के रूप में चित्रित किया गया है, जो कामना की सुनहली साड़ी फाड़कर, उसकी नादानी पर हँसती, सभीरमिस हाँफती, खिलखिलाती तुहिनकणों, फेनिल लहरों में अँधेर मचाती, किसी से मिलने के लिए इस प्रकार बेसुध हो दौड़ी चली जा रही है कि उसे अपने छूटते आँचल से बिखरती हुई मणिराशि का एवं फटे वसनों से झलकने-वाले सौन्दर्य को जगत् कितने प्रलुब्ध नेत्रों से देख रहा है, इसका भी ध्यान नहीं है। रजनी के कोमल आवागमन से विश्व किस प्रकार मोहाविष्ट हो जाता है, इसका सुकुमार चित्रण उन्होंने कमल को चूम कर चली जानेवाली भ्रमरी के बिम्ब विधान द्वारा किया है

> विश्व कमल की मृदुल मधुकरी
> रजनी तू किस कोने से
> आती चूम-चूम चल जाती
> पढ़ी हुई किस टोने से ।[१]

रात्रि को मृदुल मधुकरी कहना उसकी श्यामता, गतिशीलता आदि गुणों को स्वीकार करते हुए उसकी कठोरता का निषेध करना भी है। विश्व कमल को टोना पढ़ी हुई रात्रि मधुकरी का चूमना उसके मृदुल, नीरव, स्नेहपूर्ण आगमन का सूचक तो है ही, प्रिय-प्रिया के मिलन का, प्रेम के जादू राज्य में खो जाने का भी संकेत निहित है उसमें। एक और ध्वनि विश्व को अपने चुम्बन से विगत श्रम कर अपनी गुंजार की टोना भरी लोरी पढ़कर सुलाने की भी हो सकती है।

वासना सर्ग में मनु और श्रद्धा चन्द्रमा की अमृतमयी मुसकान देखकर दुःख के सब अनुमान भूलकर कौमुदी में प्रकृति का स्वप्न-शासन, उसकी साधना का राज्य देखने निकलते हैं। चाँदनी में नहायी प्रकृति का यह सजीव चित्र सचमुच अनूठा है,

> सृष्टि हँसने लगी आँखों में खिला अनुराग,
> राग रजत चंद्रिका थी, उड़ा सुमन पराग।
> × × × ×
> देवदारु, निकुंज गह्वर सब सुधा में स्नात,
> सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात।

---

१. वही आशा, पृ० ४७।

आ रही थी मन्दिर, भीनी माधवी की गंध,
पवन के घन घिरे पड़ते थे बने मधु अंध।
शिथिल अलसाई पड़ी छाया निशा की कांत,
सो रही थी शिशिर कण की सेज पर विश्रांत।
उसी झुरमुट में हृदय की भावना थी भ्रांत,
जहाँ छाया सृजन करती थी कुतूहल कांत।[१]

ज्योत्स्ना के कोमल आलोक में झुरमुट की छाया रहस्य का कौतूहल जगाये यह स्वाभाविक ही है, विशेषकर जब उसमें शिशिर कण की सेज पर निशा की छाया शिथिल अलसाई सोई पड़ी हो। श्रद्धा मनु के मिलन के आनन्द में जागरण उत्सव मनाती हुई प्रकृति जैसे उसे और प्रगाढ़ करने का संकेत दे रही हो।

दर्शन सर्ग मे रात्रि के चित्रण में व्यथिता रजनी का निस्तब्ध रूप अंकित है जिसमें दार्शनिकता का हल्का सा पुट है। ऊपर का विश्व तो घनी अँधेरी रात में भी शतशत ताराओं से मंडित हो हँसता रहता है, व्यथा, शोक, दु:ख की दुरंत छाया निचले स्तर पर ही पड़ती है।

सूर्यास्त और सूर्योदय के चित्रों में इन अत्यन्त परिचित दृश्यों की आन्तरिक भावगत विशेषताएँ उभारने की ओर ही कवि का ध्यान केन्द्रित रहा है, अतः विस्तृत वस्तुगत वर्णन के स्थान पर सांकेतिक चित्रण से ही उसका उद्देश्य पूर्ण हो गया है। वासना सर्ग में सूर्यास्त की करुणा अंकित है तो इड़ा सर्ग में सूर्योदय का कर्ममुखर तेज! विश्व को आलौकित करनेवाले सूर्य की असहाय करुण दशा का मर्मस्पर्शी अंकन देखिये,

गिर रहा निस्तेज गोलक जलधि में असहाय,
घन पटल में डूबता था किरण का समुदाय।
कर्म का अवसाद दिन से कर रहा छलछंद,
मधुकरी का सुरस संचय हो चला अब बंद।
उठ रही थी कालिमा धूसर क्षितिज से दीन,
भेंटता अंतिम अरुण आलोक वैभव हीन।
यह दरिद्र मिलन रहा रच एक करुणा लोक,
शोक भर निर्जन निलय से बिछुड़ते थे कोक।[२]

---

१. वही वासना, पृ० ६६।
२. वही वासना, पृ० ६०।

क्लान्त विश्व की कर्म से मुक्ति पाने की इच्छा को 'कर्म का अवसाद दिन से कर रहा छलछन्द' कहना छायावादी उपचार-वक्रता है। दूसरी ओर इड़ा सर्ग में सूर्योदय अपनी सम्पूर्ण तेजस्विता, सुन्दरता एवं कर्मपरता के साथ अंकित है :—

प्राची में फैला मधुर राग

जिसके मंडल में एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग,
जिसके परिमल से व्याकुल हो श्यामल कलरव सब उठे जाग,
आलोक रश्मि से बुने उषा अंचल में आंदोलन अमंद
करता प्रभात का मधुर पवन सब ओर वितरने को मरंद।[१]

सूर्य रूपी कमल के परिमल से व्याकुल हो श्यामल कलरव का जागना अत्यन्त अर्थ गंभीर रमणीय उक्ति है। रवि किरणों का कोमल उद्बोधक स्पर्श परिमल की मृदुता और विह्वलकारिता से व्यंजित है तो कलरव में केवल पक्षियों का चहचहाना ही नहीं जागरूक विश्व का कर्म-गुंजन भी ध्वनित है, श्यामल विशेषण एक ओर प्रकृति की घनी हरीतिमा में बसे नीड़ों की ओर इंगित करता है तो दूसरी ओर 'मनु यह श्यामल कर्मलोक है' की भावना के अनुसार कर्म जगत् की ओर भी।

कामायनी में दो ही बड़ी प्राकृतिक घटनाएँ अंकित हैं। आरम्भ में यदि भयंकर प्रलय के समय प्रकृति का उग्र तांडव नृत्य चित्रित है तो अन्त में प्रकृति का मनोहर लास्य नृत्य। दोनों ही काल्पनिक या अधिक से अधिक पौराणिक स्वीकृति प्राप्त घटनाएँ हैं। इन दोनों सर्वथा विरोधी स्थितियों का सफल चित्रण कर पाना प्रसाद की कवि क्षमता का निश्चित प्रमाण है। प्रकृति के लास्य नृत्य की कुछ चर्चा ऊपर हो चुकी है। अतः प्रलय चित्रण की कुछ विशेषताएँ ही यहाँ विवेचित होंगी।

प्रलय की भयंकर वर्षा वस्तुतः सर्वसंहारक थी अतः नाश की क्षमता की दृष्टि से उसके जल को हलाहल नीर कहना और यज्ञ पशुओं के प्रति समवेदना एवं करुणा की दृष्टि से उसे अश्रुमय कहना 'चित्ते कृपा समर-निष्ठुरता' की व्यंजना करना है।

पृथ्वी को निगल जानेवाली गर्जनशील सागर तरंगों की करालता का बोध फेन उगलनेवाले फण फैलाये व्यालों के बिम्ब के द्वारा कराया गया है,

१. वही इड़ा, पृ० १७६।

उधर गरजती सिंधु लहरियाँ,
कुटिल काल के जालों सी
चली आ रहीं फेन उगलती
फन फैलाये व्यालों सी ।[१]

भैरव जल संघात के बढ़ने को विलास वेग के समान बताना उसकी त्वरा को तो सूचित करता है किन्तु उग्र, सर्वनाशी, भयंकर जल-प्रवाह के लिए कोमल, उपभोग मूलक विलास की योजना रुचिकर नहीं लगती ।

इसी तरह धरती को कँपती देखकर मेघों के रूप में नील व्योम का ही उसके अशेष आलिंगन के हेतु उतरना कहना भी उचित नहीं जँचता । क्योंकि इससे प्रिया को आश्वस्त करने और सुरक्षित करने का प्रिया का प्रयास व्यंजित होता है जबकि प्रलय के मेघों का ऐसा कोई उद्देश्य नहीं था ।

प्रलय की भयंकरता की व्यंजना में ये पंक्तियाँ अत्यन्त सफल हैं—

हा-हा-कार हुआ क्रंदनमय
कठिन कुलिश होते थे चूर,
हुए दिगंत बधिर भीषण रव
बार-बार होता था क्रूर ।
दिग्दाहों से धूम उठे, या
जलधर उठे क्षितिज तट के ।
सघन गगन में भीम प्रकंपन
झंझा के चलते झटके ।[२]

कामायनी में प्रकृति सभी चरित्रों की सहज सहचरी है । प्रसाद ने प्रकृति और मानव का सतत भावात्मक संयोग माना है । प्रकृति प्रायः इन चरित्रों को स्नेह एवं सहयोग प्रदान करती है किन्तु मर्यादा का घोरतर अतिक्रमण करने पर दंडदात्री भी हो जाती है । इस दृष्टि से उसे कामायनी का एक महत्त्वपूर्ण चरित्र भी कहा जा सकता है । मनु की मर्म वेदना की करुण कहानी 'वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही हँसती सी पहचानी सी' ! सहानुभूति और समाश्वासन देकर मनु को 'प्रकृतिस्थ' करना प्रकृति का ही काम था । आशा सर्ग में मनु तो आशान्वित बाद में होते हैं पहले तो 'वह विवर्ण मुख

---

१. वही चिंता, पृ० २२ ।
२. वही चिंता, पृ० २१ ।

त्रस्त प्रकृति का आज लगा हँसने फिर से' का ही चित्रण किया गया है। प्रकृति के प्रबुद्ध होने पर मनु का प्रबुद्ध होना स्वाभाविक ही था। स्वस्थ होकर मनु 'लगे देखने लुब्ध नयन से प्रकृति विभूति मनोहर शान्त'। जब उन्होंने देखा 'प्रकृति सकर्मक रही समस्त' तो 'तप में निरत हुए मनु, नियमित कर्म लगे अपना करने।' उनकी अनादि वासना भी 'मधुर प्राकृतिक भूख समान' ही जगी थी। श्रद्धा जब मनु को पुरातन जीवन का अवसाद त्याग कर नवीन कर्म पथ पर अग्रसर करना चाहती है तो प्रकृति का ही उदाहरण देकर समझाती है कि बासी फूलों से प्रकृति के यौवन का श्रृंगार नहीं होता, प्रकृति पुरातनता का निर्मोक एक पल के लिए भी नहीं सहती। श्रद्धा और मनु मिलन के पहले प्रकृति का स्वप्न शासन, साधना का राज देखने जाते हैं। इस सूची को और लम्बा न कर यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि प्रकृति और कामायनी के पात्रों का साहचर्य निर्जीव न होकर अत्यन्त सजीव एवं रचनात्मक है। इसी रचनात्मकता का एक स्वरूप यह भी है कि प्रकृति इन पात्रों के हृदयों में परिस्थितियों के अनुकूल भावों को जगाती रहती है। मध्य-कालीन उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत किये जानेवाले प्रकृति-चित्रण से कामायनी के ऐसे चित्रण का मौलिक अन्तर यही है कि मध्यकालीन काव्य में प्रकृति करीब-करीब निर्जीव 'उपकरण' सी है, उसका अपना कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं है जब कि कामायनी में प्रकृति 'कारण' है, सचेतन एवं स्वतंत्र व्यक्तित्व सम्पन्न है।

प्रकृति के दृश्यों का उद्दीपक प्रभाव कामायनी में अनेक स्थलों पर अंकित है। रात्रि के उद्दीपन का एक कलापूर्ण सुकुमार प्रसंग वासना सर्ग में आया है। चाँदनी रात में श्रद्धा और मनु प्रकृति का स्वप्न शासन देखने निकलते हैं। सृष्टि हँस रही थी, उसकी आँखों में अनुराग खिल उठा था, चंद्रिका रागरंजित थी, मनु का हृदय उद्वेलित हो उठता है,

> कहा मनु ने, तुम्हें देखा अतिथि! कितनी बार,
> किन्तु इतने तो न थे तुम दबे छवि के भार।
>
> × × × ×
>
> मधु बरसती विधु किरन है काँपती सुकुमार।
> पवन में है पुलक मंथर, चल रहा मधु भार,
> तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण?
> छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण?[१]

---

१. वही वासना, पृ० ९७।

और इस मादक प्रकृति के उद्दीपन के फलस्वरूप उसे लगता है कि धमनियों में रक्त का संचार वेदना के सदृश हो गया है, हृदय में लघुभार लिए धड़कन काँपती है। मनु श्रद्धा का अंतःस्थ रतिभाव प्रकृति के इस मनोहर परिवेश के कारण वासना सर्ग में इस सान्द्रता तक पहुँचता है कि मनु श्रद्धा को 'चेतना का समर्पण' कर देते हैं और श्रद्धा पुरुष के नर्ममय उपचार को पा व्रीड़ा और सुकुमारता के भार से झुक जाती है।

कर्म सर्ग में श्रद्धा को मनाते हुए मनु प्रकृति के उद्दीपक रूप का उपयोग करते हैं,

'इस निर्जन में ज्योत्स्ना पुलकित
विद्युत नभ के नीचे
केवल हम तुम और कौन है ?
रहो न आँखें मीचे।'[१]

मनु में वात्सल्य एवं गार्हस्थिकता का उद्दीपन करने के लिए श्रद्धा विहगों के नीड़ों की ओर संकेत करती है,

'ढल गया दिवस पीला-पीला
तुम रक्तारुण बन रहे घूम,
देखो नीड़ों में विहग युगल
अपने शिशुओं को रहे चूम।
उनके घर में कोलाहल है
मेरा सूना है गुफा द्वार।
तुमको क्या ऐसी कमी रही
जिसके हित जाते अन्य द्वार ?'[२]

कामायनी में सीधे प्रकृति के सम्बन्ध में जितना कहा गया है, उससे बहुत अधिक प्रकृति के माध्यम से कहा गया है। कामायनी के पूरे रचना विधान में कथा है, चरित्र है, दर्शन है, भाव है और भी बहुत कुछ है और इन सबके साथ बीच-बीच में प्रकृति भी है अतः स्वाभाविक है कि खास प्रकृति के चित्रण एक सीमा के भीतर ही किये जा सकते थे। फिर एक बात और है प्रसाद को वस्तुगत वर्णन प्रिय नहीं थे। प्रकृति के रूपों के अन्तर्निहित भावों

---

१. वही कर्म, पृ० १३५।
२. वही ईर्ष्या, पृ० १५२।

को ही उन्होंने अपनी तूलिका का गहरा स्पर्श दिया है, लम्बे चौड़े प्राकृतिक दृश्य प्रस्तुत नहीं किये हैं, इसलिए भी उनके प्रकृति वर्णन प्रसंग अपेक्षाकृत रूप स संक्षिप्त हैं। किन्तु, उन्होंने चरित्रों, भावों, विचारों के बारे में जो कुछ भी कहा है वह मुख्यतः प्रकृति के माध्यम से कहा है। प्रकृति के अक्षयकोष से उन्होंने कितना संचय किया है और कितने विवेक के साथ, यह देखकर सचमुच आश्चर्य होता है।

मानव सौन्दर्य एक अमूर्त्त सत्ता है, वह रूप-रंग, आकृति से अभिव्यक्त अवश्य होता है किन्तु रूप, रंग या आकृति ही नहीं है। उस अपरिभाषेय सत्ता की अनुभूति को अभिव्यक्ति देने में साधारण भाषा लड़खड़ा जाती है और इसीलिए प्रसाद ने प्रकृति के रमणीय दृश्य खंडों की योजना द्वारा सहृदय पाठकों तक उसे सम्प्रेषित करने का उपक्रम किया है और इसमें अद्भुत सफलता प्राप्त की है।

श्रद्धा के सौन्दर्य बिम्ब की एक-एक रेखा प्रकृति से गृहीत उपमानों और दृश्य खण्डों से अंकित है। उदार हृदय की अनुकृति के सदृश उन्मुक्त लम्बी काया की शोभा सौरभ संयुक्त मधु पवन क्रीड़ित शिशु-साल से अनुमित की जा सकती है। नील परिधान के बीच सुकुमार अधखुले मृदुल अंग की कान्ति को मेघवन के बीच खिले बिजली के गुलाबी फूल की सुंदरता से उपमित किया गया है। तेज और विश्वास से उद्दीप्त नील परिधान से परिवृत मुखमंडल श्यामघन को भेद कर प्रत्यक्ष होनेवाले छविधाम रविमंडल के सदृश ही है या वासन्ती रजनी में इन्दुनील के लघु शृंग को फोड़कर धधकनेवाली लघु ज्वालामुखी ही उसकी स्पर्धा कर सकती है। यह पूरा चित्रण हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। परम्परागत उपमानों के अभिनव प्रयोगों की छटा एवं अनेक नवीन किन्तु अत्यन्त सुरुचिपूर्ण उपमानों की योजना वस्तुतः मनोहारिणी है।

कर्म सर्ग में मानवती श्रद्धा की हथेली के लिए प्रसाद ने लिखा है— 'जलदागम मारुत से कम्पित पल्लव सदृश हथेली।' मेघों के आगमन के साथ तीव्र वेग से बहनेवाले पवन से जिस प्रकार पल्लव काँप उठता है उसी प्रकार हृदय के क्षोभ और प्रिय पर किये गये क्रोध के भावावेग के कारण हथेली काँप रही थी। यह बिम्ब भाव को कितने सशक्त रूप में व्यक्त करता है।

मनु और श्रद्धा के युगल को उनकी अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ उपस्थित करने के लिए वासना सर्ग में प्रसाद ने एक के बाद एक मनोरम प्राकृतिक उपमानों की योजना की है,

एक जीवन सिंधु था, तो वह लहर लघु लोल,
एक नवल प्रभात, तो वह स्वर्ण किरण अमोल।
एक था आकाश वर्षा का सजल उद्दाम,
दूसरा रंजित किरण से श्री-कलित घनश्याम।[१]

मनु के तेजस्वी रक्ताभ मुख के लिए प्रसाद की पंक्ति है—

'मनु वह क्रतुमय पुरुष ! वही मुख संध्या की लालिमा पिये।' और इड़ा का स्वरूप कैसा भव्य और प्रभावशाली है,

बिखरीं अलकें ज्यों तर्क जाल
वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशि खण्ड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल
गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान,
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान।[२]

मानवीय रूप के अतिरिक्त स्वयं सौन्दर्य की अत्यन्त रमणीय व्यंजना प्रसाद ने लज्जा सर्ग में प्रकृति के प्रतीकों और दृश्यों के माध्यम से की है। सौन्दर्य चेतना का उज्ज्वल वरदान तो है ही लेकिन उसकी रचना के कुछ उपकरण हैं, अंबरचुंबी हिम शृंगों से प्रवाहित धारा का कलरव, विद्युत की प्राणमयी धारणा का उन्माद, मंगल कुंकुम की श्री के सदृश निखरनेवाली ऊषा की लाली, इठलाते हुए भोले सुहाग की हरियाली, आनन्द सुमन का विकास, वासंती के वन वैभव में पिक की पंचम स्वर की कूक, आदि आदि। प्रसाद जैसे प्राकृतिक सौन्दर्य का अपना सारा संचित कोष लुटाकर सौन्दर्य की महामहिमा की उपलब्धि करा देना चाहते हों।

मानवीय रूप से भी अधिक मानवीय भावों की व्यंजना करने में प्रसाद ने प्रकृति चित्रों का उपयोग किया है। अमूर्त्त को मूर्त्त करने की उनकी सहज वृत्ति थी। कामायनी का ऐसा कोई बिरला ही प्रसंग होगा जिसमें भावों की व्यंजना प्रकृति के समशील रूपों से न की गई हो। सहज रूप से चुन लिए गये ये दो चार उदाहरण कामायनी की इस समृद्ध प्रवृत्ति के सूचक भर हैं।

चिन्ता की पहली रेखा, विश्ववन की व्याली और ज्वालामुखी के विस्फोट के भीषण प्रथम कम्प के सदृश कही गयी है। मानव के सुख को ग्रस

१. वही वासना, पृ० ८९।
२. वही।

कर उसके अस्तित्व को ही विचलित कर देनेवाली चिन्ता का किनना सार्थक एवं प्रभावशाली निरूपण है।

उद्दाम आवेगयुक्त वासना के कारण मनु के मानसिक अधैर्य का चित्रण, विच्छुरित चिनगारियों, धधकती ज्वाला एवं वात्याचक्र के आवेग द्वारा किया गया है।

छूटती चिनगारियाँ उत्तेजना उद्भ्रान्त,
धधकती ज्वाला मधुर, था वक्ष विकल अशान्त।
वातचक्र समान कुछ था बाँधता आवेश,
धैर्य का कुछ भी न मनु के हृदय में था लेश।[१]

लज्जा के चित्रण में प्रसाद की कोमल तूलिका अपनी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि प्रस्तुत करती है। मनु का समर्पण पा श्रद्धा का नारीत्व सार्थक हो जाता है साथ ही उसके हृदय में लज्जा का आविर्भाव होता है। लज्जा किस प्रकार अनजाने ही चुपचाप आकर अपनी छायालोकित माया से हृदय को परवश कर देती है, उसका कालजयी चित्रण इन पंक्तियों में हुआ है,

कोमल किसलय के अंचल में
नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी
गोधूली के धूमिल पट में
दीपक के स्वर में दिपती सी

मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में
मन का उन्माद बिखरता ज्यों,
सुरभित लहरों की छाया में
बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों

वैसे ही माया में लिपटी
अधरों पर उँगली धरे हुए
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुए

नीरव निशीथ में, लतिका सी
तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?

---

१. वही, वासना, पृ० १००।

कोमलता बाहें फैलाये सी
आलिंगन का जादू पढ़ती ।[१]

एक परिपूर्ण संश्लिष्ट बिम्ब उभरता है मोहिनी डाल देनेवाली सुन्दरी का जिसके आगे सहज ही सिर झुका देना पड़ता है, जिसका शासन मान ही लेना पड़ता है ।

श्रद्धा का गीत श्रद्धा की भूमिका को स्पष्ट करता है, उपकरण वे ही हैं, प्रकृति के समशील दृश्य । श्रद्धा नित्य चंचल विकल परिश्रान्त चेतना को शांति देनेवालो मलय की वायु है, चिर विषण्ण मन की पीड़ा के तिमरावृत वन में ऊषा सी ज्योति-रेखा है, कुसुमों को विकसित करनेवाली भोर है, जीवनघाटी की धधकती हुई मरुज्वाला में स्वाति के कण के लिए तरसनेवाली चातकी के लिए बरसात है, लू के झोंकों से झुलसते हुए विश्वदिन की वासन्ती निशा है । इन छन्दों में दो-दो दृश्यों की योजना है, पहला दृश्य जीवन के उदास दुःखी, कष्टग्रस्त रूप को मूर्त्त करता है तो दूसरा दृश्य उसमें आनेवाले शुभ मंगलमय रूपान्तर को । श्रद्धा ही वह शक्ति है जो ऐसा रूपांतर करने में समर्थ हैं । अन्तिम छन्द की बिम्ब योजना में रूप, शब्द, गंध तीनों का योग है,

चिर निराशा नीर-धर से
प्रतिच्छायित अश्रु-सर में
मधुप मुखर मकरंद मुकुलित
मैं सजल जलजात रे मन ![२]

इस छन्द में मेघ निराशा पीड़ा, शोक, कष्ट का प्रतीक है, घनघोर बदली छा जाने से दिन के ही रात बन जाने की सी स्थिति में जीवन सरोवर अश्रुओं से पूरित हो मेघ की प्रतिच्छाया से कृष्णवर्ण हो जाता है । उस जड़ता और मृत्यु की छाया का प्रत्याख्यान करता हुआ करुणा से सजल आस्था का कमल कर्म मधुप से मुखरित और स्नेह के मकरंद से पूरित हो मुकुलित होता है । श्रद्धा की संजीवनी शक्ति का अपूर्व काव्यात्मक निर्देश है इसमें ।

---

१. वही लज्जा, पृ० १०५ ।

२. वही, निर्वेद, पृ० २२५ ।

कामायनी में प्रकृति का जो महिमाशली और कलात्मक रूप प्रसाद ने अंकित किया है उसकी कहीं-कहां की झाँकी भर इस लेख में प्रस्तुत की जा सकी है। सचमुच प्रकृति से इतना समरस कवि हिन्दी में और कोई दूसरा नहीं है। प्रसाद की प्रकृति सम्बन्धी दार्शनिक स्थापनाएँ भले ही कुछ आधुनिक विचारकों को स्वीकार न हों किन्तु प्रकृति सौन्दर्य पर मुग्ध कवि-हृदय की दीप्तिमती अनुरचनाएँ निश्चय ही विश्व साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

● ●

८.

इड़ा : प्रतीक और चरित्र

प्रसाद ने कामायनी के ग्रमुख में लिखा है, 'मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।' प्रसाद के इस इंगित के बाद पाठक और आलोचक सरलता से सांकेतिक अर्थ लेते रहे हैं, सांकेतिक अर्थ और कामायनी में चित्रित चरित्र का सामंजस्य वास्तव में कहाँ तक हुआ है, इस पर सूक्ष्म विचार कम किया गया है। यह विस्तृत कर दिया गया है कि पात्रों की तात्त्विक अवधारणा एवं कलाकृति में चारित्रिक अवतारणा में अन्तर हो सकता है और यह अन्तर कलाकार के किसी मूलभूत वैशिष्ट्य की ओर निर्देश कर सकता है। हमारा विश्वास है कि इस दृष्टि से कामायनी में चित्रित इड़ा के चरित्र की परीक्षा करने पर स्वीकृत विश्वासों से भिन्न कुछ मनोरंजक तथ्य सामने आयेंगे।

अपने आमुख में प्रसाद ने ऋग्वेद शतपथ ब्राह्मण आदि के आधार पर इड़ा को 'मनु की पथप्रदर्शिका, मनुष्यों का शासन करनेवाली थीं, बुद्धि का साधन करनेवाली, मनुष्य को चेतना प्रदान करनेवाली' आदि के रूप में स्वीकार कर स्पष्ट कर दिया है कि सैद्धांतिक रूप से वे इड़ा को बुद्धि के प्रतीक के रूप में चित्रित करने जा रहे हैं। इड़ा का आविर्भाव काल एवं स्वरूप वर्णन इसी मान्यता के अनुकूल है। अपनी ही भावी सन्तान से ईर्ष्या के कारण श्रद्धा का परित्याग करनेवाले मनु काम द्वारा अभिशप्त होकर अंतहीन यातना के विचार से अशांत हो उठते हैं। तभी नयन-महोत्सव की प्रतीक सदृश एक सुन्दरी बाला प्रकट होती है। कितना मोहक है उसका रूप। तर्क जाल के समान बिखरी अलकें, विश्वमुकुट सदृश शशिखण्ड सम उज्ज्वल स्पष्ट भाल, अनुराग विराग ढालनेवाले पद्मपलाश चषक से दृग, मधुप से गुंजरित मुकुल सदृश गान भरा आनन, संसृति के समस्त ज्ञान-विज्ञान के पुंज सदृश वक्षस्थल, एक हाथ में वसुधा के जीवन रससार से पूर्ण कर्मकलश, दूसरा हाथ विचारों के नभ को मधुर अभय अवलंब दिये हुए, त्रिगुण तरंगमयी त्रिबली, अराल आलोक वसन, चरणों में ताल भरी गति। यह महिमामयी

नारी थी इड़ा। बुद्धिवादिनी नारी, नहीं स्वयं बुद्धि का यह प्रभावशाली मूर्त्त चित्रण किसी भी कवि की कीर्ति को चार चाँद लगानेवाला हो सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। किसी अज्ञात प्रकाश-अोक की एक किरण की याचना कर नियति जाल से मुक्त होने की कामना करनेवाले अभिशप्त दुःखतप्त मनु को इड़ा आत्म-विश्वास के भरोसे जीवन-पथ पर अग्रसर होते रहने की प्रेरणा देती है। उसका निश्चित मत है,

'हाँ तुम ही हो अपने सहाय
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किस की नर शरण जाय।'

प्रखर कर्म के लिए मनु का आह्वान करते हुए इड़ा कहती है कि विज्ञान के सहज साधन द्वारा जड़ता को चैतन्य कर परम रमणीय, अखिल ऐश्वर्य-शालिनी प्रकृति के रहस्यों का शोधन कर अपनी क्षमता बढ़ा चलो। यह आह्वान मनु के सोये मनोभावों को जगा देता है और वह इस विषम दायित्व को स्वीकार करने के लिए बद्ध-परिकर हो जाता है। उसकी स्वीकारोक्ति है,

"अवलम्ब छोड़कर औरों का जब बुद्धिवाद को अपनाया
मैं बढ़ा सहज तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया
मेरे विकल्प संकल्प बनें, जीवन ही कर्मों की पुकार
सुख साधन का हो खुला द्वार।"

यह स्मरणीय है कि हताश मनु को आशा का अवलंब देने का कार्य इसके पहले इससे भी अधिक संगीन परिस्थिति में श्रद्धा कर चुकी है। हाँ, श्रद्धा और इड़ा की प्रेरणा के उत्स भिन्न-भिन्न हैं। श्रद्धा प्रगति के लिए प्रभु निर्भर है। मनुष्य तो अमृत संतान है, वह क्यों भय करे उसे विधाता का मंगल वरदान है कि वह शक्तिशाली हो, विजयी बनें, शक्ति के व्यस्त विकल विद्युत्कण निरुपाय हो बिखरे हैं, उस समस्त शक्ति का समन्वय करने पर मानवता अवश्य विजयी होगी, ऐसा उसका विश्वास है। इसके प्रतिकूल इड़ा ईश्वरीय शक्ति पर निर्भर नहीं रहना चाहती, अपनी दुर्बलता और शक्ति को सम्हाल कर गंतव्य मार्ग पर आगे बढ़ना और बढ़ाना चाहती है, उसका विश्वास है कि हाथ बिना पसारे भी अपने पैरों को आगे बढ़ते रहने की जिसे झोंक रहती है, उसे कोई नहीं रोक सकता, अर्थात् इड़ा आत्म निर्भर है।

एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर है। श्रद्धा मनु के बोझ को बँटाना चाहती है और इसके लिए सहज ही आत्म-समर्पण करती है। उसकी ममतामयी उक्ति है :—

'दब रहे हो अपने ही बोझ, खोजते भी न कहीं अवलम्ब,
तुम्हारा सहचर बनकर क्या न उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब ?
समर्पण लो सेवा का सार सजल संसृति का यह पतवार
आज से यह जीवन उत्सर्ग इसी पदतल में विगत विकार।'

जब कि इड़ा मनु का बोझ बाँटती नहीं, बढ़ाती है। प्रतिभा प्रसन्न मुख से मनु का स्वागत कर अपने उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश को फिर से बसाने का दायित्व देना चाहती है, जिसे उसकी प्रेरणा से उद्दीप्त मनु स्वीकार कर लेते हैं :—

'ले लिया भार अपने सिर पर मनु ने यह अपना विषम आज।'

और इड़ा समर्पण भी नहीं करती मनु ही उसका अवलंब ग्रहण करते हैं।

इड़ा का यह स्वरूप निश्चय ही पूर्व नियोजित क्रम के अनुसार ही है। बुद्धि-वादी दृष्टिकोण के अनुसार ही वह 'जीवन और जगत् को समझने तथा उसकी व्याख्या करने में मनुष्य की बुद्धि को सर्वोपरि महत्त्व' देती है। ईश्वर जैसी अव्याख्येय सत्ता के स्थान पर विज्ञान के निश्चित ज्ञान का उपयोग करती है। देखना चाहिए उसका यह स्वरूप कहाँ तक निभा है।

उल्लास भरी इड़ा अग्निज्वाला सी जलती हुई मनु का पथ आलोकित करती रहती है। वह सुंदर आलोक किरण के सदृश अपनी हृदय भेदिनी दृष्टि से जिधर देखती, उधर के अंधकाराच्छन्न रास्ते भी खुल जाते। उसके पथ-प्रदर्शन के फलस्वरूप मनु को सतत सफलता मिलती गयी और सारस्वत प्रदेश समस्त समृद्धियों से मण्डित हो गया। किन्तु इड़ा के ढाले आसव से तृषित कण्ठ मनु की प्यास बुझने के स्थान पर और भड़कती गयी। और उसकी माँग स्वयं इड़ा को अपने सूने मानस देश में बसाने की हुई। इड़ा अपने को प्रजा और मनु को प्रजापति बताती है लेकिन मनु का आग्रह कम नहीं होता, उसका स्पष्ट प्रश्न है :—

"मैं अतृप्त आलोक भिखारी ओ प्रकाश बालिके बता,
कब डूबेगी प्यास हमारी इन मधु अधरों के रस में।"

और उत्तर की अपेक्षा न रखकर वह इड़ा को आलिंगन पाश में आबद्ध कर लेता है, इस पर रुद्र क्रोध होता है क्योंकि 'अरे आत्मजा प्रजा ! पाप की परिभाषा बन शाप उठी' समस्त प्रकृति त्रस्त हो उठती है, प्रजा जो अब तक अविरुद्ध थी, विरुद्ध हो जाती है, स्वयं मनु शंकित हो उठते हैं। और इड़ा—इस प्रसंग में वह बुद्धिवादिनी नहीं दिखती और शक्तिमती भी नहीं। प्रसाद ने लिखा है, 'दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी,' 'इड़ा क्रोध लज्जा से भर कर बाहर निकल चली थी किन्तु।'

दो प्रश्न उठते हैं। पहला तो यह कि मनु इड़ा के सम्बन्ध में बाधा ही क्या थी। शतपथ ब्राह्मण के आधार पर आमुख में प्रसाद ने लिखा है कि इड़ा अपने को मनु का दुहिता मानती थी क्योंकि मनु के हवि से उसका पोषण हुआ था। कामायनी में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है, फिर प्रजा प्रजापति का सम्बन्ध भी बहुत पुष्ट नहीं है। मनु को प्रजापति तो इड़ा ने ही बनाया, वह स्वयं मनु की प्रजा कभी नहीं थी, उसी की सहायता और प्रेरणा से मनु ने उसी के सारस्वत प्रदेश को पुनः बसाया एवं समृद्ध किया था। अतः मनु और इड़ा का पिता पुत्री का सा सम्बन्ध क्यों माना जाना चाहिए? बुद्धिवादिनी इड़ा मनु के चषक में आसव ढालते रहने के बावजूद ऐसे दुर्बल मर्यादावाद पर आस्था क्योंकर रख पाती है? यह स्पष्ट नहीं होता।

दूसरा प्रश्न है कि इड़ा अपने को दुर्बल क्यों अनुभव करती है, क्रोध तो ठीक किन्तु लज्जा से भर कर बाहर क्यों निकलती है? क्या उसके मन में अपने आचरण के प्रति ही कहीं कुछ शंका है?

फिर क्रुद्ध, चिन्तित, शंकित मनु को प्रबोध देने एवं सन्मार्ग पर लाने जो नारी लौटती है, उस ममतामयी कोमल हृदया अद्वयवादिनी को शुष्क बुद्धिवादिनी कैसे मान लिया जाये? मनु को समझाते हुए इड़ा ने जो कुछ कहा वही श्रद्धा कह सकती थी बल्कि वह कह चुकी थी। इड़ा की युक्तियाँ हैं कि शासन स्वत्व का निर्वाह करते समय नियामक को भी नियमानुवर्ती होना पड़ेगा एवं दूसरों को तुष्टि एवं चेतना का अवकाश देना होगा, निर्बाधित अधिकार किसी का भी नहीं चल सकता। मनुष्य चेतना का ही विकसित आकार है। एक ही चेतना आवरणों के कारण विश्व में भिन्न-भिन्न रूपवाले चिति केन्द्रों में विभक्त है : जो चितिकेन्द्र द्वयता बोध के कारण सदा संघर्षशील रहते हुए भी एक-एक को पहचान कर अनेक को सतत समीप मिलाते रहते हैं। इस स्पर्धा में उत्तम ठहरनेवालों को संसार के कल्याण का शुभ मार्ग बताना चाहिए। इस उत्तरदायित्व के कारण व्यक्ति चेतना-परतंत्र सी बन गयी है,

एक तरफ समष्टि के शुभ-चिन्तन के कारण वह रागत्मिका है दूसरी तरफ व्यक्तिगत स्वार्थ-भावना के कारण द्वेषपूर्ण। इसी द्वन्द्व के कारण वह पद-पद पर ठोकर खाता है किन्तु श्रान्त होकर भी वह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती जाती है, रुकती नहीं। यही जीवन का सही उपयोग एवं बुद्धि की साधना है, यही सुख की श्रेयमयी आराधना है, यदि इस छाया में लोक आश्रय ले तो सुखी रहे, तुम भी प्राण के समान इस राष्ट्रकाया में रमण करो। देश की कल्पना काल की परिधि में लय हो जाती है और काल महाचेतना में विलीन हो जाता है, वह अनन्त चेतन तत्त्व उन्मद गति से नाचता रहता है, तुम अपनी द्वयता में, विस्मृति में ही नाचो किन्तु क्षितिज पटी को उठाकर ब्रह्माण्ड विवर में, विश्व कुहर में गुंजरित होता हुआ वह घननाद सुनो और ताल-ताल पर नाचो जिससे लय नहीं छूटे विवादी स्वर नहीं छिड़े। क्या यह इड़ा सर्ग की आत्मनिर्भर, ईश्वर की उपेक्षा करनेवाली बुद्धिवादिनी इड़ा की उक्ति है? देश काल भी जिस महाचेतना में लय हो जाते हैं उसकी गति के अनुसार ताल-ताल पर चलने की शिक्षा देना और 'मत कर पसार, निज पैरों चल, चलने की जिसको रहे झोंक, उसको कब कोई सके रोक' कहना तो एक ही बात नहीं है। और क्या यह श्रद्धा की उक्ति :

> "कर रही लीलामय आनन्द, महा चिति सजग हुई सी व्यक्त
> विश्व का उन्मीलन अभिराम, इसी में सब होते अनुरक्त।"

की व्याख्या मात्र नहीं है? श्रद्धा ने कर्म सर्ग में महाशिव के नर्त्तन की ओर भी संकेत किया है। इड़ा के कथन 'निर्बाधित अधिकार आज तक किसने भोगा' तथा श्रद्धा के कथन 'अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा, यह एकान्त स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा' में व्याप्त अन्तर्निहित एकता को क्या अस्वीकार किया जा सकता है?

अपने प्रति घृणित अपराध करनेवाले मनु के घायल शरीर की रखवाली करनेवाली स्नेह-स्मृति-कातरा नारी भी बुद्धि का प्रतीक मानी जा सकती है क्या? इड़ा इस प्रसंग में वस्तुतः मनु को नहीं अपने को ही अपराधी मान रही है। वह सोचती रहती है 'मनु ने मुझसे स्नेह किया था, यद्यपि उसे अनन्य नहीं कहा जा सकता, समस्त बाधाओं का अतिक्रमण करने के कारण ही वह स्नेह अपराध बन बैठा, और उसका कितना दारुण फल हुआ! एक दिन जो निस्सहाय, निरवलंब दुःखी परदेशी के रूप में आया था, वही शासन का सूत्रधार बन गया था, आज वही मुमूर्षु सा पड़ा हुआ है, जो एक दिन सब का अपना था, आज सभी उसके पराये हो गये

हैं। वही मेरा अपराधी बना जो मेरा उपकारी था, जो सबको गुणकारी था, उसी से दोष बन पड़ा, अरे ये गुण दोष तो सृष्टि अंकुर के भले बुरे पल्लव हैं, एक दूसरे की सीमा हैं हम क्यों न इन दोनों को प्यार करें। अत्यन्त भावुक एवं मुग्धा रमणी के से ये उद्‌गार इड़ा सर्ग की इड़ा के तो नहीं लगते। उसके बाद जब श्रद्धा और कुमार आते हैं और मनु को पहचान कर उसके उपचार में लग जाते हैं तब तो इड़ा और कंटकित हो उठती है। मनु की भर्त्सना 'वह तू कौन! परे हट' सुन कर भी परे नहीं हटती, रात्रि को भी कुमार के समीप मन की दबी उमंग लिये पड़ी रहती है और मनु के पलायन के बाद 'इड़ा आज अपने को सबसे अपराधी है समझ रही' जैसी दीन स्थिति स्वीकार कर लेती है। इसका कोई बुद्धिसंगत कारण हमारी समझ में नहीं आता। मनु अपराधी है श्रद्धा और इड़ा दोनों के निकट। किन्तु वे दोनों अपने को ही अपराधी मान रही हैं। श्रद्धा अपने को गर्भिणी अवस्था में छोड़ आनेवाले ईर्ष्यालु नर-पशु के लिए कहती है :

'रूठ गया था अपनेपन से
अपना सकी न उसको मैं,
वह तो मेरा अपना ही था
भला मनाती किस को मैं।
यही भूल अब शूल-सदृश हो
साल रही उर में मेरे।
कैसे पाऊँगी उसको मैं
कोई आकर कह दे रे।'

इसी मनोवृत्ति को दृष्टि में रख कर ही इड़ा का व्यवहार समझा जा सकता है, बुद्धिवाद के द्वारा नहीं।

इड़ा का श्रद्धा के निकट आत्म-समर्पण का दृश्य भी बुद्धिवादिनी नारी के अनुरूप नहीं है। राहु-ग्रस्त शशिलेखा के सदृश इड़ा विनतभाव से श्रद्धा के अनुराग की कामना करती है और उसका स्नेह पा मनु के अपराधों की श्रद्धा द्वारा क्षमायाचना सुनकर फूट पड़ती है। उसे लगता है कि मनु ही नहीं वह भी घोर अपराधिनी है। उसकी सारी व्यवस्था भ्रांत थी, वह व्यर्थ ही जनपद कल्याणी कही जाती थी, वह तो अवनति का कारण ही सिद्ध हुई, वह समझ नहीं पाती कि क्या वह नितान्त भ्रम में ही थी, वह स्वीकार करती है कि 'मेरा साहस अब गया छूट।' वह श्रद्धा के प्रति व्यक्तिगत रूप से

भी अपने को अपराधी पाती है क्योंकि उसने श्रद्धा का सुहाग छीना था, और कातर प्रार्थना करती है कि वह क्षमा कर दी जाये। आत्म-ग्लानि की चरम सीमा पर वह कह उठती है :—

मैं आज अकिंचन पाती हूँ,
अपने को नहीं सुहाती हूँ,
मैं जो कुछ भी स्वर गाती हूँ,
वह स्वयं नहीं सुन पाती हूँ,
दो क्षमा, न दो अपना विराग,
सोई चेतनता उठे जाग।

यह कहा जा सकता है कि बुद्धि के अतिरेक के कारण वर्त्तमान विश्व की दुरवस्था को ध्यान में रखकर उद्भ्रांत बुद्धि को श्रद्धा के निकट नत करने का सन्देश देने की दृष्टि से यह उचित ही है किन्तु प्रश्न यह है कि क्या कामायनी के काव्यात्मक विकास के अन्तर्गत इड़ा के द्वारा बुद्धि के अतिचार की अवस्था अंकित की गयी है? क्या कामायनी में वर्णित घटनाओं की तर्क-संगत विवेचना कर इड़ा को दोषी ठहराया जा सकता है? मेरा विनीत उत्तर है नहीं, इड़ा को निर्भय, निष्ठुर, स्वर्थ-पर चरित्र के रूप में विकसित नहीं किया गया है। मनु के अनाचार के लिए इड़ा कैसे दोषी मानी जा सकती है? और यह कैसे कहा जा सकता है कि इड़ा ने श्रद्धा का सुहाग छीना था? मनु के उच्छृंखल स्वभाव के आगे श्रद्धा भी पूर्वार्ध में असफल अंकित की गयी है, क्या उसके लिए श्रद्धा को अपराधी कहा जा सकता है, फिर इड़ा का ही यह अपराधी रूप किस प्रकार काव्य के चरित्र के रूप में स्वाभाविक माना जाये।

किन्तु श्रद्धा इड़ा को 'मनु के मस्तक की चिर अतृप्ति, चंचला उत्तेजित शक्ति' मानती रही है अतः कह उठती है 'सिर चढ़ी रही। पाया न हृदय'। इसके बाद वह बुद्धि तत्त्व के अतिरेक के कारण अखण्ड को खण्ड-खण्ड कर देखने की भ्रान्ति के फलस्वरूप ही समस्त दुःखों की उत्पत्ति होती है, यह सिद्धान्त समझाती है और इड़ा के शोक को दूर करने के लिए उसे अपना पुत्र मानव अर्पित करती है। श्रद्धा द्वारा मानव को दिये उपदेश का सरांश यही है कि श्रद्धामय मननशील व्यक्ति के अभयकर्म द्वारा ही बुद्धि का संताप दूर हो सकता है एवं मानव का भाग्योदय हो सकता है।

इसी स्थल पर काव्य के एक पात्र के रूप में इड़ा की परिणति पर विचार कर लेना आवश्यक जान-पड़ता है। इड़ा और मानव का सम्बन्ध क्या है? श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार श्रद्धा इड़ा को अपनी पुत्रवधू बना लेती है (दे० न० दु० वाजपेयी कृत जयशंकर प्रसाद क्र० सं०, पृ० ९३)। किन्तु

उनकी यह मान्यता कामायनी द्वारा समर्थित नहीं होती। मानव के जन्म के पूर्व ही मनु श्रद्धा को छोड़कर चले जाते हैं। उजड़े सारस्वत प्रदेश में उनकी भेंट पूर्णयौवना इड़ा से होती है जो उस प्रदेश की सम्राज्ञी है। मनु की असक्ति का जो केन्द्र रह चुकी, यदि वही युवती बालक मानव की पत्नी के रूप में श्रद्धा द्वारा मनोनीत हो तो यह बहुत आश्चर्यजनक बात मानी जायेगी। जहाँ तक हम समझ पाये हैं, प्रसाद ने ऐसा संकेत कहीं नहीं दिया है। वास्तव में श्रद्धा इड़ा को मानव की संरक्षिका बनाती है, पत्नी नहीं। इस सन्दर्भ में मानव को प्रसाद ने बार-बार बालक और कुमार कहा है। उन्होंने श्रद्धा से कहलाया है, "हे सौम्य! इड़ा का शुचि दुलार, हर लेगा तेरा व्यथा भार।" शुचि दुलार में वातसल्य का सकेत प्रतीत होता है, दाम्पत्य का नहीं। आनन्द सर्ग में भी मानव और इड़ा के वर्णन में वय: क्रम का अन्तर स्पष्ट संकेतित है। मानव यदि अभिनव केहरि किशोर सा वर्णित है तो इड़ा 'गैरिक वसना सन्ध्या' सी चित्रित! इन संकेतों के होते हुए दम्पति के रूप में उन दोनों की कल्पना करना असंगत है। श्रद्धामय मानव को इड़ा के संरक्षणात्मक सहयोग से अपना विकास करना चाहिए, यह संकेत प्रतीक के रूप में भी अधिक संगत ज्ञात होता है।

जो हो, इड़ा इस उपदेश से और इस दान से कृतकृत्य हो जाती है। श्रद्धा के विश्वासमूल मधुर वचनों को सदा स्मरण रख तथा समस्त संतापों के निर्वासित होने की कामना करते हुए श्रद्धा की चरण-धूलि सिर माथे चढ़ाती है।

आनन्द सर्ग में भी इड़ा का यही प्रणता रूप अंकित है। श्रद्धा के चरणों में शीश झुकाकर गद्‌गद स्वर में वहाँ आने के कारण वह अपने को धन्य मानती है। अपनी भ्रांति पुनः स्वीकार करती है और इस पावन तीर्थयात्रा के पुण्य स्वरूप पापमुक्त होने पर विश्वास करती है :—

> भगवति, समझी मैं सचमुच कुछ भी न समझ थी मुझको,
> सबको हीं भुला रही थी अभ्यास यही था मुझको।
> हम एक कुटुम्ब बनाकर यात्रा करने हैं आये,
> सुनकर यह दिव्य तपोवन जिसमें सब अघ छुट जाये।

और इस तरह 'बुद्धि श्रद्धा की अनुगता होनी चाहिए' इस सिद्धान्त की पूर्ण विजय हो जाती है।

इस सिद्‌धान्त के पक्ष विपक्ष में कुछ न कहते हुए भी हम यह कहने के लिए विवश हैं कि यह विजय अलोनी लगती है। अनायास लब्ध होने के

कारण इसकी महिमा घट गयी है। श्रद्धा के आगमन के पूर्व ही इड़ा का भावान्तर हो चुका था और वह भावान्तर संक्रांत बिन्दु के पहुँचने के पूर्व ही अंकित किया गया है जिसके फलस्वरूप अन्तर्द्वंद्व के स्थान पर आत्मग्लानि ही इड़ा के हृदय में उभरी है। सवाल है ऐसा क्यों हुआ है? क्यों प्रसाद इड़ा को योजनानुसार बुद्धिवादिनी नहीं बना पाये हैं, क्यों इड़ा-मनु या इड़ा-श्रद्धा का द्वन्द्व औपचारिक लगता है, वास्तविक एवं तलस्पर्शी नहीं?

हमारा विचार है कि इसके मूल में प्रसाद की नारी भावना तथा आदर्शवादिता है। प्रसाद की मूलभूत मान्यता थी 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो'। प्रसाद के लिए नारी ममतामयी है, उत्सर्गमयी है, आँसू से भींगे अंचल पर मन का सब कुछ रखकर अन्तर में चलनेवाले देवी एवं आसुरी भावनाओं के युद्ध का सन्धिपत्र अपनी स्मिति रेखा से लिखनेवाली है। जैसे दुर्गा सप्तशती में घोषणा की गयी है 'स्त्रियः समस्ताः सकलाः जगत्सु' (जगत् की समस्त स्त्रियाँ देवी की ही मूर्ति हैं) वैसे ही प्रसाद के लिए नारी मात्र मूलतः श्रद्धा ही है। इसीलिए इड़ा के चारित्रिक विकास में श्रद्धा की छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इड़ा भी अन्ततः नारी थी, उसके अन्तःकरण में भी जब क्षमा की देवी एवं प्रतिशोध की आसुरी भावना का संघर्ष हुआ तब उसे भी 'देवों की विजय दानवों की हारों' का सिद्धान्त ही चरितार्थ करते बना। निर्वेद में इड़ा की इस मनःस्थिति का प्रभावशाली चित्र प्रसाद ने इस प्रकार अंकित किया है :—

> 'नारी का वह हृदय, हृदय में सुधा सिन्धु लहरें लेता,
> बाड़वज्वलन उसी में जलकर, कंचन सा जल रँग देता।
> मधुपिंगल उस तरल अग्नि में शीतलता संसृति रचती,
> क्षमा और प्रतिशोध! आह रे दोनों की माया नचती।

यह नारी भावना आदर्शवाद पर ही आधारित है। कामायनी में जिस समन्वित जीवन दर्शन की प्रतिष्ठा है उसमें श्रद्धा की सर्वोपरिता के साथ ही इड़ा की उपयोगिता अनुगता के रूप में स्वीकृत है। हमारा विश्वास है कि प्रसाद के इस सिद्धान्त ने भी इड़ा के चारित्रिक विकास पर छाया डाली है। उनका दार्शनिक अनजाने ही कलाकार पर हावी हो गया है। सृजन प्रक्रिया अत्यन्त गूढ़ एवं सूक्ष्म व्यापार है। स्रष्टा के अवचेतन में स्थित आधारभूत विश्वास चेतन सर्जना को किस प्रकार अनुकूलित कर लेता है, इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण इड़ा का चरित्र है। यदि तुलसी का रावण भीषणता में भी प्रभु का विरोधी भक्त ही ठहरता है तो छायावादी भावप्रवण शिवोपासक प्रसाद की 'इड़ा' भावुकता, ममता एवं आस्तिकता से रहित कैसे हो सकती थी?

● ●

९.

गीत और नवगीत

आधुनिक हिन्दी काव्य की एक शक्तिमती धारा के रूप में गीत ने निकट अतीत में अपना गौरवमय स्थान बना लिया था। छायावादी और उत्तर छायावादी युग में गीत सम्मानीय लोकप्रिय काव्य विधा के रूप में स्वीकृत रहा। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी के गीत किसी भी साहित्य के लिए गौरव के विषय हो सकते हैं। यह गीत के सम्मान का आरोहकाल था। निराला ने संसार की वेदना को दूर करने के लिए गीत को ही सर्वाधिक सशक्त काव्यविधा के रूप में स्वीकारा था। उनका आग्रह था, 'गीत गाने दो मुझे तो वेदना को रोकने को। (अर्चना गीत ५९)

छायावादी अभिजात काव्य चेतना का लोकीकरण करनेवाले बच्चन ने तो गीत की स्तुति करते हुए लिखा है :

गीत चेतना के सिर कलँगी,
गीत खुशी के मुख पर सेहरा,
गीत विजय की कीर्ति पताका,
गीत नींद गफलत पर पहरा। (प्रणय पत्रिका,
सो न सकूँगा....)

किंतु बहुत ही शीघ्र गीतों की प्रतिष्ठा का अवरोह प्रारम्भ हो गया। यह सच है कि बच्चन ने गीत को हिन्दी काव्य की अत्यन्त लोकप्रिय विधा बना दिया था। सहज सरल भावों को सहज सरल भाषा में उद्दाम आवेग के साथ अंकित करना बच्चन के गीतों की शक्तिमता है तो बड़े जीवन स्वप्न से असम्पृक्त रहकर वैयक्तिक मांसल प्रेम की अभिव्यक्ति ही एक सीमा के बाद उनकी दुर्बलता। 'सुमुखि ये अभिसार के पल चल करें अभिसार' जैसे गीत परवर्ती अनुकर्ता गीतकारों की अपेक्षाकृत दुर्बल लेखनी के द्वारा विकृत और सस्ते बन गए। कवि सम्मेलनों में गलेबाजी से सस्ती वाहवाही लूट लेने की कामना ने, फिल्मी रोमांस चेतना ने, हवाई भावुकता ने क्रमशः गीत को गम्भीर साहित्यिक कीर्ति के गौरव से वंचित सा कर दिया। गीत बाजार की माँगों से प्रभावित होकर लिखे जाने लगे। कवि गीतकार से गीतफरोश बन गए।

यह नहीं कि ऐसा करने में उन्हें कम वेदना का अनुभव हुआ होगा, भवानी प्रसाद मिश्र की मर्मस्पर्शी कविता 'जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ' गीतकार की गहरी मनोव्यथा का निश्चित प्रमाण है। इल्मी गीत चूँकि बिकते ही नहीं थे इसलिए 'यह लीजें चलती चीज नयी फिल्मी' गीतफरोशों का आदर्श बन गयी। जीवन की वास्तविकता से कट कर मिथ्या भावुकता से रँगे जाकर प्रेम की उथली सतहों की ही अभिव्यक्ति कर पाने के कारण गीत क्रमशः अविश्वसनीय और तिरस्करणीय बनते गये।

सुमन के एक गीत का अंश है :

> याद तो होगा तुम्हें वह मधु मिलन क्षण,
> जब हृदय ने स्वप्न को साकार देखा,
> मिट गयी दुर्भाग्य के भी भाग्य की जब अमिट रेखा,
> ढाल जब अनजान में तुमने दिये इन शुष्क अधरों में अमृत कण,
> याद तो होगा तुम्हें वह मधु मिलन क्षण,
> मैं उन्हीं दो चार बूँदों के सहारे,
> विश्वव्यापी विष बुझाने जा रहा हूँ,
> छोड़ कर नगरी तुम्हारी जा रहा हूँ।

अनजान में ही प्रेमिका के द्वारा शुष्क अधरों में अमृत कण ढाल दिए जाने से कोई इतनी शक्ति और प्रेरणा प्राप्त कर सकता है कि उन्हीं दो चार बूँदों के सहारे विश्वव्यापी विष बुझाने जा रहा हूँ, का हौसला करे। यह बात आज की चेतना को कैसे स्वीकार हो सकती है। नीरज की, 'तुम न डरो प्यार करो प्यार करो, प्यार तो सदैव ही पवित्र है', जैसी पंक्तियों से आज किसे आश्वासन मिलता है कहना मुश्किल है। हिन्दी के पिछले रोमानी गीतों के सस्तेपन और जीवन से कटे रहकर एक काल्पनिक प्रेमलोक बसाने की मनःस्थिति पर तीखा व्यंग्य करते हुए श्री भवानी प्रसाद मिश्र ने गीतों का नुस्खा लिखा है :

> शरद की शाम लो और उसमें थोड़ी चांदनी घोलो,
> कि फिर उसमें जरा फूलों भरी घाटी का रँग रोलो,
> झुका दो झाड़ियों की उसमें फिर मस्ती भरी झूमें,
> पहाड़ों की चुका दो चोटियाँ इतनी कि नभ चूमें,
> लचीली तेजरौ नद्दी की धारा एक ला छोड़ो,
> कि उसमें दूर पर दिखती हुई नावों को ला जोड़ो,

चहक बुलबुल की जितनी मिल सके उतनी मिला दीजै,
नशा तैयार है चाहे जिसे लेकर पिला दीजै ।

× × ×

वह जी हां उस अजूबी चीज को ही गीत कहता है ।

बड़े दर्द के साथ इसी कविता की अन्तिम पंक्तियों में उन्होंने लिखा है :-

भले एकाध भी पढ़कर इसे गीतों की धुन छोड़ें,
भले एकाध भी कुछ ढंग से लिखने पर मन मोड़ें,
किसी एकाध के भी गीत यदि यह चर गयी भाई,
तो मेरी यह लकीरें काम अपना कर गयी भाई ।

गीतों में काव्य गुण के क्रमशः न्यून होते जाने के कारण नए कवियों के द्वारा गीत विधा की उपेक्षा ही नहीं, उपहास भी किया गया और गीतकार सम्मान से अधिक व्यंग्य विद्रूप का संबोधन माना जाने लगा। किन्तु गीत विधा के प्रति नए कवियों की वितृष्णा केवल गीतों के नाम पर प्रचलित सम-सामयिक गीतों के सस्तेपन के कारण ही हुई, यह कहना समस्या का बहुत सरल समाधान प्रस्तुत करना है। वास्तव में मूल विचारणीय प्रश्न यह था कि गीत विधा कहाँ तक आज की संकुल मनःस्थिति के चित्रण एवं औद्योगिक संस्कृति के वैषम्यपूर्ण घुटन भरे जटिल अनुभवों के सम्प्रेषण में समर्थ है। ऐसा लगता है कि गीत की भावमयी सुकुमार एकायामी गेय काव्य-विधा नए कवियों को अपने प्रयोगों के लिए नाकाफी लगी ।

अज्ञेय के अनुसार गीत काव्य की गौण विधा है। इसका अर्थ यह है कि अपने प्रमुख दायित्व के निर्वाह में अज्ञेय को गीत विधा से विशेष सहायता की आशा नहीं है। आज के बौद्धिक, विवेचक युग में कविता केवल भावुकता के साहारे नहीं जी सकती। उसके कथ्य और शिल्प में वर्तमान युग की विश्लेषणात्मकता प्रधान हो उठती है और इसी के चलते वह प्राचीन काव्य-रूढ़ियों को अस्वीकार कर अपने नए मार्ग के अन्वेषण में रत है ।

तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि सम्पूर्ण काव्य विधा के अन्तर्गत गीत का स्थान गौण ही रहा है। प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने काव्य के भेदों का निरूपण करते समय गीत को स्वतंत्र काव्य-विधा के रूप में स्वीकार नहीं किया था। मुक्तक के अन्तर्गत इसका समावेश किया जा सकता है किन्तु उसका विशेष विवेचन संस्कृत काव्य-शास्त्र

में नहीं हुआ है, इसी के समानान्तर यह भी उल्लेखनीय है कि संस्कृत काव्य-साहित्य में गीतों की रचना भी बहुलता से नहीं हुई है। सामवेद की गेय ऋचाओं के द्वारा संगीत-शास्त्र को अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ काव्य-शास्त्र को कम। संस्कृत नाटकों में गीत रखे जाते थे किन्तु वे प्राकृत भाषा में होते थे। यह बात अलग है कि आधुनिक दृष्टि से विचार करते समय हम मेघदूत को गीतात्मक काव्य मान लें या स्तोत्र साहित्य में गीतात्मकता का अन्वेषण करें किन्तु सच्चाई यही है कि संस्कृत में उपलब्ध वास्तविक गीतकाव्य जयदेव का गीतगोविन्द ही है। विद्वानों की निश्चित धारणा है कि गीत काव्य का विकास लोक-साहित्य के अन्तर्गत हुआ और उसकी रम्यता के कारण बाद में उसे शिष्ट साहित्य में स्वीकार कर लिया गया। संस्कृत नाटकों के प्राकृत गीत इस सम्भावना का समर्थन करते हैं। गीत गोविन्द में अन्त्यानुप्रास की योजना और उसकी गान प्रणाली भी लोकगीतों से ली गयी है, ऐसा विद्वानों का मत है। गीत अत्यधिक लोकप्रिय होते हुए भी काव्य से पृथक् माने जाते थे इसका संकेत संस्कृत की यह सूक्ति भी देती है :

काव्येन हन्यते शास्त्र, काव्यं गीतेन हन्यते,
गीतं च स्त्रीविलासेन, स्त्री विलासो बुभुक्षया।

यहाँ हन्यते शब्द का लाक्षणिक प्रयोग इतना तो सूचित अवश्य करता है कि गीत जितने भी लोकप्रिय क्यों न हों काव्य के गुणों को पूर्णतः आकलित नहीं करते थे। यह भी लक्षणीय है कि शास्त्र की सूक्ष्मता से आरम्भ कर बुभुक्षा की स्थूल दैहिक चेतना के क्रमिक अवरोह की चर्चा यह भी सूचित करती है कि गीत का आवेदन काव्य की अपेक्षा अधिक स्थूल एवं इन्द्रियसंवेद्य माना जाता रहा है। पश्चिम में भी अरस्तू ने नाटक एवं महाकाव्य की तुलना में गीत (सौंग एवं लिरिक) को बहुत कम महत्व दिया है। गीत के महत्व में वृद्धि वहाँ भी परवर्ती काल में ही हुई। हिन्दी साहित्य के आविर्भाव के समय से ही उसमें दो धाराएँ बिल्कुल स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। एक है नागर काव्य धारा जो काव्य की सूक्ष्मताओं, रूढ़ियों एवं शास्त्रीयता के पक्ष पर अधिक जोर देती है, चन्द, केशव, बिहारी, मतिराम, पद्माकर आदि जिसका प्रतिनिधित्व करते हैं और जो गीतों या पदों को महत्व नहीं देती। दूसरी है लोकाश्रित काव्य धारा जिसका प्रतिनिधित्व करते हैं सिद्धनाथ कवि विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी आदि जिन्होंने गीत काव्य (पदावली) को ही अपनी अभिव्यक्ति का प्रधान माध्यम चुना है या उसका व्यापक प्रयोग किया है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरम्भकाल में भारतेन्दु ने एक तरफ भक्ति-साहित्य से और दूसरी तरफ लोकसाहित्य से प्रेरणा प्राप्त कर गीतविधा को पुनरुज्जीवित किया। किन्तु गीत का वास्तविक उत्कर्ष छायावाद काल में ही हो सका। छायावाद काफी हद तक अंग्रेजी स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा से प्रभावित था। पश्चिम में गीत (लिरिक) को जो महत्त्व अंग्रेजी साहित्य स्वच्छन्दतावादी धारा में प्राप्त हुआ वह न तो उसके पहले कभी हुआ था और न उसके बाद स्थिर रह सका। इस संदर्भ में याद आती है विलियम के विमलट और क्लीन्थ ब्रुक्स की उक्ति। पाश्चात्य साहित्य में विविध-विधाओं के क्रमिक महत्व प्राप्ति की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा है : 'शताब्दियों के दौरान में काव्य सिद्धान्त का ध्यान-केन्द्र क्रमशः श्रेण्यतावादी अरस्तू के युग में नाटकों, वीरगाथाओं के युग में महाकाव्यों (और फिर अन्तर्निहित या गुप्त रूप से व्यंग्यविद्रूपमयी कृतियों) से संक्रमित होता हुआ स्वच्छन्दतावादी युग में आ टिका गीत पर, जो बिम्ब केन्द्रित भावना से युक्त गान सदृश वैयक्ति अभिव्यक्ति थी। स्वच्छन्दतावादी युग गीतयुग के रूप में भलीभांति अभिज्ञात वस्तुस्थिति है विशेषतः इंगलैण्ड में।' (लिटरेरी क्रिटिसिज़्म : ए शॉर्ट हिस्ट्री पृ. ४३३)।

उन्नीसवीं शताब्दी के पुनर्जागरण आन्दोलन के अनन्तर बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भारत में भी कुछ अंशों में स्वच्छन्दतावाद के अनुकूल परिस्थिति थी। आध्यात्मिकता की नई ज्योति जग उठी थी, नवीन शिक्षा से नई आशा-आकांक्षाएँ सिर उठाने लगी थीं। जीवन और प्रकृति को देखने की नई दृष्टि मिली थी, सामाजिक क्षेत्रों में नर-नारी के अलगाव को तोड़ कर सहज मिलन की पीठिका प्रस्तुत होने लगी थी, राजनीतिक मुक्ति का नया आंदोलन आरम्भ हुआ था। उन सब ने तथा अन्य सहयोगी कारणों ने मिल कर नवशिक्षित युवकों को स्वच्छन्दतावादी चेतना से ओत-प्रोत कर दिया था। इसी से अनुप्राणित हो कुछ कवियों ने समग्र को संतुलित दृष्टि से देखने के स्थान पर अंश की सुंदरता को ही भावविभोर मनः स्थिति में, सुरों से बांधकर काव्य में अभिव्यक्त करना आरम्भ कर दिया। वैयक्तिक चेतना के विकास के कारण व्यक्तिगत सुख-दुख, आशा-निराशा, आह्लाद-शोक, की अनुभूति गीतों के रूप में फूट पड़ी। वैयक्तिता अभी तक व्यक्तिवादिता में परिवर्तित नहीं हुई थी अतः व्यक्तिगत होते हुए भी ये गीत सर्वगत हो सके। भारत के सबसे बड़े गीत धर्मी कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं जिनके गीतों को विश्वव्यापी सम्मान मिला। हिन्दी साहित्य का छायावाद भी भारत के उसी

सांस्कृतिक आन्दोलन का एक अंग है जिसकी पूर्ण ज्योति से रवीन्द्रनाथ की रचनाएँ प्रदीप्त हैं। छायावाद के नव रहस्यवादी अध्यात्म और आभिजात्य ने गीतों को साधारण जनता की पहुँच से कुछ दूरी पर ही रखा। छायावाद के अवरोह काल में बच्चन, भगवती चरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा और उनके सहयोगी गीतकारों ने गीत को सर्वाधिक लोकप्रिय काव्यविधा बना दिया। किन्तु शीघ्र ही अनुभव होने लगा कि छायावाद युग सत्य से धीरे-धीरे कटकर खोखला पड़ता जा रहा है और छायावादी कवियों ने ही उसका युगान्त घोषित कर दिया। वास्तविक जीवन बोध से कट जाने के कारण बच्चन की पीढ़ी के बाद के गीतकारों की रचनाएँ किस प्रकार गम्भीर कवियों और काव्य-विवेचकों के निकट अश्रद्धेय हो गईं उसकी संक्षिप्त चर्चा इस लेख के आरम्भ में की जा चुकी है। प्रगतिशील, प्रयोगशील और नई कविता का प्रधान वाहन गीत नहीं बना। हाँ, उन काव्यधाराओं के एक गौण अंग के रूप में उसकी रचना होती रही क्योंकि एक तो इन नव्यतर काव्य आन्दोलनों के कविगण भी छायावादी पृष्ठभूमि पर ही पनपे थे, दूसरे गीत रचना कविमन की आन्तरिक विवशता भी हो उठती है, कुछ विशिष्ट मनःस्थितियों को रूपाकार देने के लिए अत्यन्त प्रिय माध्यम होने के कारण।

प्रगतिशील साहित्य चेतना के दो शुभ प्रभाव गीत रचना पर पड़े। पहला तो यही कि गीतकारों के लिए भी 'जिन्दगी की सच्चाई कल्पना की रमणीयता से क्रमशः अधिक महत्वपूर्ण होने लगी। वीरेन्द्र मिश्र की यह पंक्ति 'दूर होती जा रही है कल्पना, पास आती जा रही है जिन्दगी' इस तथ्य की स्वीकृति है। अपनी पीड़ा या प्रिया के आँसू ही गीतकार के लिए सब कुछ नहीं रह गये, हर पाँव में पड़ी जंजीर उसे सबसे अधिक 'गमगीन' बनाने लगी। वीरेन्द्र मिश्र की त्रिमुखी पीड़ा है,

> पीर मेरी कर रही गमगीन मुझको
> और उससे भी अधिक तेरे नयन का नीर रानी
> और उससे भी अधिक हर पाँव की जंजीर रानी।

और दूसरा यह कि गीतों के एकरस बासीपन को लोकगीतों का प्राणद स्पर्श मिला। केदारनाथ अग्रवाल का प्रसिद्ध गीत, 'माँझी न बजाओ वंशी मेरा मन डोलता' इस प्रवृत्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस प्रवृत्ति का विकसित रूप देखा जा सकता है श्री ठाकुर प्रसाद सिंह के गीत संग्रह 'वंशी और मादल' में जिसे गीतों में संथाल मानस को अभिव्यक्त करने के कारण वही श्रेय मिलना चाहिए जो उपन्यास के क्षेत्र में रेणु के 'मैला आंचल'

को मिला है। इस प्रकार शहरी मध्यवर्गीय खोखली पड़ती जाती रोमानी भावना के रुँधाव को तोड़ा जनवादी चेतना एवं ग्राम गीतों से पुनः ली जानेवाली प्रेरणा ने।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रगतिशील कविता में गीतों की वैसी प्रधानता है जैसी छायावादी या उत्तर छायावादी कविता में थी। गीतों के लोकप्रिय माध्यम का उसने उपयोग अवश्य किया और उसमें अपना रंग झलकाया भी किन्तु प्रगतिशील चेतना की बौद्धिकता, सपाट मतवादी अभि-व्यंजना और तीखी व्यंग्यात्मकता का प्रधान वाहन गीत नहीं बन सकता था, नहीं बना।

प्रयोगशील कवियों ने भी गीत लिखे हैं, तीनों सप्तकों और नयी कविता के अंकों में भी गीतों को बराबर स्थान मिला है। इन कवियों में गीतों के क्षेत्र में सबसे अधिक जागरूक प्रयोग किये हैं श्री गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती और केदारनाथ सिंह ने जिनकी काव्य चेतना में गीतात्मकता का पर्याप्त पुट है। प्रयोगशीलता ने गीत को शिल्प और भावबोध के स्तर पर 'मुक्त छंद में संगीत प्रधान गीत' (गिरजाकुमार माथुर की रेडियम की छाया) नवीन बिम्ब विधान (नरेश मेहता के उषा सम्बन्धी गीत) तथा आधुनिक मन की संकुलता को (धर्मवीर भारती कृत कब तक आखिर कब तक) व्यक्त करने की क्षमता दी। किन्तु प्रयोगशील नयी कविता की बौद्धिक अति यथार्थवादी संवेदना, अनास्था, शंका, विघठित मनःस्थिति, अहंवादिता, प्रयोगातिशयता आदि का प्रमुख वाहन गीत नहीं बन सकता था, नहीं बना।

इस सम्बन्ध में अज्ञेय का निम्नलिखित मन्तव्य संकेतपूर्ण है 'कंटेम्परारी इंडियन लिटरेचर' में आधुनिक हिन्दी साहित्य पर लिखते हुए गीतों की लोकप्रियता को स्वीकरते हुए भी उनका कथन है :

'किंतु इस तथ्य के अलावा कि ऐसे लेखन (गीत लेखन) ने अल्प मौलिकता ही प्रदर्शित की यह भी युक्तिसंगत रूप से कहा जा सकता है कि आधुनिक प्रवृत्ति (केवल हिन्दी में ही नहीं) समसामयिक साहित्य के सर्वेक्षण में गीतकार को (आशा है कि जो संज्ञा अधिक सटीक संज्ञा गानलेखक से अधिक भद्र है अन्तर्भुक्त करने की नहीं है)' इस उक्ति में निहित व्यंग्य का पैनापन अत्याधुनिक चेतना के वाहक माध्यम के रूप में गीत की क्षमता के प्रति अज्ञेय के अविश्वास को उसके वाच्यार्थ से कहीं अधिक झलकाता है। सभी नये कवि

अज्ञेय के समान ही गीत की क्षमता के प्रति शंकालु भले न हो उठे हों, किंतु इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि अधिकांश नये कवियों का गीत के प्रति मनोभाव कमोबेश वही था जो अज्ञेय का था।

ऐसी स्थिति में १६६० के आसपास नवगीत या नया गीत या आज का गीत आन्दोलन का स्वर मुखर हुआ और वासन्ती, वातायन, कविता, धर्मयुग जैसी पत्रिकाओं तथा शंभुनाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह, केदारनाथ सिंह रामदरश मिश्र, रवीन्द्र भ्रमर, महेन्द्र शंकर, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, चन्द्रदेव सिंह शलभ, ओमप्रभाकर, चन्द्रमौलि उपाध्याय आदि की रचनाओं से इसको बल मिला। आज साधारण तौर पर एक नवीन प्रवृत्ति के रूप में नवगीत की चर्चा होने लगी है किन्तु ऐसा नहीं लगता कि यह आंदोलन इतना बल पकड़ सका हो या नवगीत के माध्यम से कोई इतनी बड़ी उपलब्धि हुई हो कि कुछ प्रथम श्रेणी की प्रतिभा के कवि आत्माभिव्यंजना के लिये प्रमुख रूप से नवगीत का ही माध्यम स्वीकार कर लें। वस्तु-स्थिति यह है कि अधिकांश नये कवियों की अभिव्यक्ति का प्रधान माध्यम आज भी गीत विधा (या नवगीत विधा) नहीं है, हाँ, यह ठीक है कि कुछ विशिष्ट मनःस्थितियों को गीत के रूप में शब्द-स्वर-बद्ध करने में जिस अनुचित एवं अकारण हीनता का बोध किया जाता रहा, उसका आंशिक परिहार इस आंदोलन से हो सका है। समसामयिक काव्य रचना में इस आंदोलन की विधायक भूमिका क्या हो सकती है, इस पर विचार कर किसी सार्थक निष्कर्ष पर पहुँच पाना तभी संभव है जब हम इसके उद्‌भव के हेतुओं और इसकी अब तक की उपलब्धियों पर विचार कर लें।

नवगीत आन्दोलन स्पष्टतः गीत को समादरणीय काव्य विधा के रूप में पुनः स्थापित करने का आन्दोलन है। इसमें लगा 'नव' विशेषण एक तरफ निकट अतीत एवं वर्तमान के सस्ते रोमानी गीतों से अपनी पृथक्‌ता और दूसरी तरफ नवीन साहित्य चेतना से अपनी संपृक्तता द्योतित करता है। नयी कविता, नयी कहानी के वजन पर नया गीत संज्ञा के स्थान पर 'नवगीत' संज्ञा को स्वीकृति संभवतः नवगीतकारों के अवचेतन मानस में सक्रिय छायावादी संस्कार की सूचिका है जिसमें बोलचाल की सपाट भाषा के ऊपर कोमलकान्त पदावली को वरीयता दी जाती रही यद्यपि घोषित रूप से कई नवगीतकार गीत की भाषा को बोलचाल की भाषा के निकट लाने का प्रयास कर रहे हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि नवगीतकारों के वक्तव्यों में बच्चन के बाद की पीढ़ी के गीतकारों की गीत सृष्टि से ही तीव्र असन्तोष व्यक्त किया गया है जिससे

एक संकेत यह भी ग्रहण किया जा सकता है कि छायावादी और बच्चन तक की उत्तर छायावादी गीत-परम्परा को अप्रत्यक्ष रूप से वे प्रेरक मानते हैं। अपने प्रत्यक्ष प्रेरणा-स्रोत के बतौर या यों कहिए कि नवगीत के पूर्व रूप को प्रस्तुत करनेवालों के बतौर उन्होंने उत्तरकालीन निराला, अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती आदि को स्वीकारा है। इसमें एक दिलचस्प बात यह है कि स्वयं अज्ञेय नवगीत नाम को (और शायद आन्दोलन को भी) नयी कविता में कृत्रिम विभाजन करनेवाला और कविता की प्रवृत्तियों को समझने में बाधा डालनेवाला मानते हैं (कविता १९६४, प्रस्तुति) तो भारती का मत है कि नवगीत यदि वह है और यदि स्थापित हो चुका है तो नयी कविता से वह अलग कहाँ है, यह अभी मेरे सामने स्पष्ट नहीं है। (वातायन, आज का गीत अंक, अप्रैल ६५ पृ० ६६) इन मतों का अभिप्राय यही लगता है कि गीत कविता की एक विधा है और यदि कविता नयी है तो उसकी सभी विधाएँ नयी होंगी...होनी चाहिए। उन्हें अलग से नवगीत, नवमुक्तक, नव प्रबन्ध आदि कहना उचित नहीं होगा। इस तर्क संगत लगनेवाली दृष्टि के बावजूद जो 'नवगीत' आन्दोलन चला उसके पीछे कहीं यह विक्षोभ था कि कुछ नये कवि सस्ते रोमानी गीतों का उपहास करते-करते जाने अनजाने स्वयं गीत विधा के प्रति वीतश्रद्ध हो चले हैं जो निश्चय ही अनुचित है। फिर यह भी लगता है कि आधुनिक चेतना के प्रति उन्मुख होते हुए भी (और इसीलिए नये कवियों से अपना नाता जोड़ते हुए भी) कुछ नवगीतकार नयी कविता के सूत्रधारों के द्वारा की गयी आधुनिकता की विविध व्याख्याओं से पूर्णतः सहमत नहीं हैं और इसीलिए जब कि उनमें से कुछ नवगीत को नयी कविता की परिधि के भीतर मानते हैं तो कुछ उसे नयी कविता के समानान्तर।

जो हो, लगता है कि नवगीत आन्दोलन का लक्ष्य है गीत की आधारभूत विशेषताओं को कायम रखते हुए उसे चेतना, शिल्प, और अभिव्यंजना के स्तर पर आधुनिक बनाना अन्यथा नव और गीत इन दोनों शब्दों की संगति बैठाना मुश्किल है। यह स्मरणीय है कि आधुनिकीकरण संरक्षणशील भी होता है और क्रांतिकारी भी, उदाहरण के लिए धर्म के क्षेत्र में आधुनिकीकरण संरक्षणशील होता है और ललित कलाओं के क्षेत्र में प्रायः क्रांतिकारी। मुझे लगता है कि वर्तमान नवगीत आन्दोलन में भी संरक्षणशील आधुनिकता की ही प्रवृति परिलक्षित होती है। नवगीतकारों को अपने लक्ष्य में कहाँ तक सिद्धि मिली है या मिल सकती है इस सम्बन्ध में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए गीत के आधारभूत तत्त्वों पर, उसके सृजन के अनुकूल परिवेश के स्वरूप पर

तथा उसके नवरूप ग्रहण की क्षमता पर विचार करना आवश्यक है। तभी हमें वह निष्कर्ष प्राप्त होगा जिस पर नवगीतकारों की मान्यताओं और उपलब्धियों का मूल्यांकन किया जा सकेगा।

द्रुत परिवर्तमान आधुनिक युग में आधारभूत अर्थात् अपेक्षाकृत रूप से अधिक स्थायी तत्त्वों की खोज की बात विरोधाभास सी लगने पर भी आंतरिक अनिवार्यता है तभी तो जीवन के सभी क्षेत्रों में उनकी खोज जारी है। गीत के आधारभूत तत्त्व माने जाते रहे हैं, गेयता, आत्मनिष्ठता, संक्षिप्तता, भावसघनता, अभिव्यंजना-संयम, वैयक्तिकता, सहजता एवं व्यापक आवेदन ! तर्कोपलब्ध ज्ञान के स्थान पर स्वानुभूत सहज ज्ञान एवं भावानुकूल यथार्थ भी गीत में ग्राह्य हो सकते हैं। प्रायः यह मान्यता रही है कि उसके प्रमुख विषय भावाक्षिप्त विचार, प्रकृति और मानव का बाह्याभ्यन्तर सौन्दर्य एवं सुखदुःखात्मक वैयक्तिक अनुभूति ही हो सकते हैं।

नवगीतकारों के वक्तव्यों से ज्ञात होता है कि वे इनमें से अधिकांश तत्त्वों को स्वीकार करते हैं। हाँ उनमें से कुछ गेयता को छन्दों की बँधी लयों से मुक्त कर भावों की आन्तरिक लयों पर आधारित करना चाहते हैं और इस प्रकार मात्राओं या वर्णों की संख्या से बँधे गीतों के परम्परागत विधान को अस्वीकार करते हैं किन्तु ऐसा लगता है कि ऐसा प्रयोग करनेवाले अभी तक अल्पमत में ही हैं। यदि यह प्रवृत्ति बढ़ी तो गीत क्रमशः पाठ्य होते जाएँगे क्योंकि अर्थों या भावों की आन्तरिक लयों का कोई निश्चित स्वरूप नहीं हो सकता और सामान्य पाठक के लिए उन्हें अपरिचित अनिश्चित लयों में गुनगुनाने के स्थान पर पढ़ना ही सुगम होगा। गेयता की सम्पूर्ण अस्वीकृति की बात अभी तक हिन्दी में जोरों से नहीं उठी है यद्यपि विदेशों में अब लिरिक की आवृत्ति ही की जाती है, अब वह प्रायः गाया नहीं जाता। क्रमशः हिन्दी में भी ऐसी स्थिति आ सकती है, इस संभावना को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

गेयता को गीत का अनिवार्य तत्त्व न मानना बहुतों को स्वविरोधी कथन लग सकता है किन्तु शब्द का अर्थ विस्तार तो होता ही रहता है और अत्यन्त बिखराव युक्त बौद्धिकतापूर्ण कविताओं के युग में संयोजित, आत्मनिष्ठ संक्षिप्त तीव्र रागात्मक रचनाओं को बँधी हुई लयों में गेय न होने पर भी यदि गीत संज्ञा से अभिहित किया जाय तो बहुत अधिक आपत्ति नहीं की जा सकती। जो हो, नवगीत का प्रमुख लक्षण यह नहीं है अतः इसे अधिक तूल देना अभीष्ट नहीं है।

नवगीत की नवता प्रमुखतः व्यक्त हुई है पुरानी अतिशय भावुकतापूर्ण जीवन दृष्टि तथा अभिजात अलंकृत या कृत्रिम रोमानी भाषा के परित्याग में। भाव-प्रवणता निश्चय ही आज भी गीतों का आधार तत्त्व है किन्तु वह आधुनिक यथार्थबोध से अनुशासित है। उसका आशावादी, निराशावादी या संत्रासवादी आदि होना गीतकार की व्यक्तिगत जीवन दृष्टि पर निर्भर है। एक तरफ जहाँ शंभुनाथ सिंह आधुनिक आविष्कारों से उल्लसित होकर गा उठते हैं, 'बादलों को बाहों में भर लो एक और अनहोनी कर लो' वहाँ दूसरी तरफ कैलाश वाजपेयी का अनुभव है 'कुछ मत चाहो, दर्द बढ़ेगा, ऊबो और उदास रहो'। किन्तु इससे कौन इन्कार कर सकता है कि इन दोनों अभिव्यक्तियों में आंशिक युग सत्य है। व्यक्तिगत प्रेम हो या समष्टिगत मानव भविष्य दोनों ही आज बहुत अनिश्चित से लगते हैं और इस अनिश्चय.... विश्वास के इस विघटन से सामयिक अनुभवों की वास्तविकता पर भी शंका होती है और ऐसी स्थिति में गहरी अनुभूति से स्वतः स्फुर्त भाव से फूट पड़नेवाली गीतधारा आज सुलभ नहीं। इस कथन में पर्याप्त सत्यांश है कि आज का युग गीत काव्य के बहुत अनुकूल नहीं पड़ता। समष्टि मन जब तक किसी गहरे विश्वास को अपना न ले, जब तक उसे कोई सामूहिक मंगल स्वप्न न दिखे, प्रेम और सौन्दर्य के आभ्यन्तर स्थायित्व पर जब तक उसकी दृढ़ आस्था न हो तब तक साहित्य में गीत युग अवतरित नहीं हो सकता। कुछ लोगों ने 'नवगीत' को 'नई कविता के आन्दोलन की मुग्धावस्था' कहा है। मुझे लगता है कि यह केवल बात ही बात है, नयी कविता न मुग्धा है न मोहिनी और न नवगीतकार ही मुग्ध प्राणी है। वस्तुतः वे मोहभंग की पीड़ा झेल रहे हैं। चन्द्रमौलि उपाध्याय की स्पष्ट स्वीकृति है :

> हम क्या गायें,
> सब गलत हुए अपनेपन का हम क्या गायें ?
> बेहोश तुषारों से पर्वत के सच जकड़े,
> दमघोंट कुहासों से तितली के पर अकड़े
> आक्षितिज कल्पना के घूँघट पर धुँआ चढ़ा
> सन्दिग्ध दिगन्तों के मन का हम क्या गायें ?

अन्तर्राष्ट्रीय प्रवंचना से भी अधिक गहरी चोट लगी है हिन्दी के नवगीतकारों को राष्ट्रीय प्रवंचना से। शलभ ने लोक गीत शैली का सुष्ठु प्रयोग करते हुए लिखा है :

बादल तो आ गये
पानी बरसा गये
लेकिन यह क्या हुआ
धानों के खिले हुए मुखड़े मुरझा गये।

सावन (स्वतंत्रता) का स्वागत और उसकी विपरीत परिणति की वेदना की यह विवृति मुग्धावस्था की परिचायिका तो नहीं लगती।

परिपूर्ण मुग्धावस्था तो अब व्यक्तिगत प्रेम के नवगीतों में भी नहीं झलकती। अपनी प्रिया को अँजुरी भर फूल अर्पित करते हुए अजित कुमार की निवेदनोक्ति है :

तुम कितनी अविदित हो
मैं कैसा अस्थिर हूँ
निश्चित हैं केवल ये—
अँजुरी भर फूल।

मन तो कुटिल है, और
तन कितना दूषित है
तुमको केवल अर्पित
अँजुरी भर फूल।

अपनी प्रिया को अविदित कहना (अर्थात् अपने प्रति उसके भावों को ठीक-ठीक न समझ पाने की भावना बल्कि उन पर शंका तक की संभावना को संकेतित करना) और प्रणय-निवेदन करते समय अपने को अस्थिर, अपने मन को कुटिल और तन को दूषित मान लेना किसी भी छायावादी उत्तर छायावादी या रोमानी गीतकार के लिए असंभव था। निश्चय ही इस स्वीकारोक्ति से उन अँजुरी भर फूलों की पवित्रता बढ़ी है क्योंकि उनमें और कुछ हो, न हो, प्रवंचना तो नहीं ही है। भाव-प्रवणता इस गीत में भरपूर है किन्तु मिथ्या भावुकता का नाम गन्ध तक नहीं है और मैं इस स्थिति को नवगीत की एक विशिष्ट उपलब्धि मानता हूँ।

फिर भी इस तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता कि समष्टि एवं व्यक्ति-मन के इस बिखराव से गीत रचना की प्रेरणा को क्षति पहुँची है। गीत मुख्यतः संयोजित कलाकृति है और यह कैसे संभव है कि वियोजित मन उत्कृष्ट संयोजित सृजन कर सके।

विचार करने पर लगेगा कि जिन नवगीतों में आधुनिक चेतना अधिक उभरी है उनमें बौद्धिकता, विश्लेषणात्मकता का गहरा पुट है और वे व्यक्तिगत अनुभवों को स्वतः स्फूर्त आवेगमयी अभिव्यंजना न होकर उनके ऊपर किये गये मनन से उद्भूत हैं। उदाहरणार्थ प्रस्तुत है चन्द्रदेव सिंह का गीत :

कुछ भी मत कहो,
यूँ ही चुप रहो।
अर्थहीन कोलाहल से बढ़कर
सुखकर यह सूनापन
क्या होंगे लूले संकल्प ?
और बहरे विश्वास ?
और चमकीले आश्वासन ?
अपने को अपने से सहो।
कुछ भी मत कहो,
यूँ ही चुप रहो।

आधुनिक जीवन के खोखलेपन की व्यर्थता के बोध से उत्पन्न यह गीत स्पष्टतः मननात्मक है, आवेगात्मक नहीं। गीतों में चिंतन, मनन की प्रधानता नहीं हो सकती किन्तु उनके नाम से ही भड़क उठनेवाले लोगों को स्मरण रखना चाहिए कि भक्तिकाल में 'विचारणा' परक पद नितान्त नगण्य मात्रा में नहीं लिखे गये थे और छायावादी गीतों में भी चिन्तन की अन्तर्धारा साफ झलकती है। ऐसा नहीं है कि आधुनिक भारतीय मन केवल विघटन और मोह-भंग का ही शिकार हो। अब भी उसमें आस्था की ही प्रधानता है, अब भी वह रीझता है, अब भी वह आवेग चंचल हो उठता है। स्वभावतः नवगीतों में ये मनःस्थितियाँ भी प्रतिफलित हुई हैं किन्तु यहाँ भी बहकी हुई अतिरंजना की गुंजाइश बहुत कम है। वीरेन्द्र मिश्र का गीत 'तू क्यों इतना उदास, मैं हूँ मधुमास, मुझे जीकर तो देख' यदि विश्वास की प्रेरणा देता है तो हिमविद्ध में जगदीश गुप्त के कई गीत शाश्वत प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति मुग्ध बल्कि मोहाविष्ट कविमन की अकृत्रिम स्नेहांजलियाँ हैं, यहाँ उद्धृत है सिर्फ एक पद :

आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी।
शिखरों के पार शिखर
बिंध कर दृग गये बिखर
घाटी के पंछी-सी गहरे मन में उतरी

बदरी केदारमयी मरकत गहरायी ।
आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी ।

जीवन दृष्टियों की विविधता के बावजूद गीतों को मिथ्या भावुकता से मुक्त रखने की चेष्टा इन नवगीतकारों की सामान्य विशेषता है ।

जैसे आधुनिकता बोध से युक्त रहना नवगीतकारों को नवीनता का एक स्रोत है वैसे ही लोकगीतों से जीवन रस संचित करना उसकी नवीनता का दूसरा स्रोत है । शिष्ट साहित्य के गीतों के रूढ़िग्रस्त हो जाने पर उनमें नवीन प्राण संचार करने के लिए लोक गीतों का बराबर आश्रय लिया जाता रहा है । नवगीतकारों ने उस अक्षय स्रोत से अपना सम्बन्ध जोड़ कर अपनी सूझ-बूझ का ही परिचय दिया है । किन्तु दो बातें साफ हो जानी चाहिए, एक तो यह कि लोक गीत का ठेठ अनुकरण मात्र खड़ी बोली के नवगीत को न तो माधुर्य दे सकता है, न उसे आधुनिक बना सकता है, और दूसरी यह कि नागर चेतना में ऊपर-ऊपर से आरोपित कुछ अनगढ़ देशज शब्द उस तरह का छिछला चमत्कार तो उत्पन्न कर सकते हैं जिस तरह का चमत्कार नये शौकीन उद्योगपति आदिवासियों की सामग्री द्वारा अपने एयर कंडीशंड ड्राइङ्ग रूम की सज्जाकर उत्पन्न करना चाहते हैं किन्तु गीतों में वास्तविक निखार नहीं ला सकते । अपनी जनपदीय चेतना के प्रति निष्ठावान् रहकर भी जो उसमें आधुनिक चेतना का संचार करा सकते हैं वे ही इस शैली के श्रेष्ठ नवगीतों की सृष्टि कर सकते हैं । जिनका जनपदों से बादरायण सम्बन्ध मात्र है वे इस शैली में प्रयोग न करें तो उनका भी कल्याण हो और इस शैली का भी । नवगीतों में आँचलिकता के संस्पर्श ने एक ओर जहाँ लोक-जीवन और लोक-प्रकृति के सौन्दर्य की संश्लिष्ट भावमय छवियाँ उपस्थित की हैं वहीं दूसरी ओर उसे अभिव्यंजना की ताजगी और शक्तिमता भी दी है । केदारनाथ सिंह के 'रात पिया पिछवारे पहरू ठनका किया' या महेन्द्र शंकर के 'लुभा गये बदरा' जैसे गीतों में धरती की सोंधी सुगन्ध यदि अपनी प्रकृत भूमि से आयी है तो रामदरश मिश्र की इन पंक्तियों में जनपदीय प्रवासी मन की व्यथा को स्नेह-सिक्त कर गयी है :

दीठि पर काँपे डूबी-डूबी परदेसी राह ।
खोज रहा हूँ मैं यहाँ भी शायद अपनापन ।
कोई उठता बिरवा, कोई बादल का घन ।

नवगीत की भाषा, अप्रस्तुत योजना, बिम्ब रचना, भी एक तरफ नयी कविता के तो दूसरी तरफ लोक गीतों के प्रभाव को झलकाती है । छायावाद

की पच्चीकारी, और रोमानी गीतों की धुँआधारी से मुक्त हो नवगीतों की भाषा बोल-चाल के निकट आकर भी नये बिम्बों, उपमानों से समृद्ध है। शंभुनाथ सिंह का गीत 'बातें घर की' अपनी भाषा की सादगी के बावजूद सूक्ष्म अर्थवता का वाहक है :

छोड़ो बातें दुनिया भर की,
आओ कुछ बात करें घर की।
गमलों को धूप से हटा दो,
बुझी हुई अंगीठी जला दो।
गर्द झाड़ दो इन परदों की,
बिस्तर की सिलवटें मिटा दो।
लहरों में डूब दोपहर की।
आओ, कुछ बात करें घर की।

बिलकुल घरेलू और पारिवारिक परिवेश का यह गीत छलाँग मारकर भारत की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आवश्यकता से अधिक दिलचस्पी और आन्तरिक समस्याओं के प्रति उपेक्षा मूलक रुख का मृदु प्रतिवाद भी बन जाता है।

एक ओर नवगीतों में 'पिघले कोलतार की आस्थायें' 'ओ मेरी धूप दिसम्बर की' 'मुर्दा नक्षत्रों के साये सी जल डूबी चट्टानें' 'रात ने कोठियाँ आँख खोली शहर में' 'देवदारुओं के ऊंचे एरियल' जैसी आधुनिक नागरिक जीवन से गृहीत अप्रस्तुत्योजनायें हैं तो दूसरी ओर है 'महुए की डार कहाँ रोपूँ' 'भउजी के दहिया बिलोने सी रात' 'गोहुवन सा ठनक रहा सरिता का पानी' 'गदराई अँबिया सी देही' जैसी ग्रामीण जीवन और प्रकृति से संचित निधियाँ। केदारनाथ सिंह के बिदा गीत में लोक जीवन से गृहीत प्रतीकों और गुँथे हुए बिम्बों के द्वारा प्रिया को बिदा देते हुए आधुनिक मन की विवशता और पीड़ा के बावजूद प्रेम की सार्थकता और उमंग को सफलतापूर्वक चित्रित किया गया है :

फेन सा इस तीर पर
हमको लहर बिखरा गई है।
हवाओं में गूँजता है मंत्र सा कुछ
साँझ हल्दी की तरह

तन-बदन पर छितरा गई है।
पर रुको तो, पीत पल्ले में तुम्हारे
फसल पकती बाँध दूँ, यह उठा फागुन बाँध दूँ।

छायावादी गीतों की तुलना में अधिक सहज और वास्तव, उत्तर छायावादी गीतों की तुलना में अधिक सूक्ष्म और लोकोन्मुख, चालू रोमानो गीतों की तुलना में अधिक साहित्यिक संस्कारयुक्त और ईमानदार यह नवगीत अब अपने को हिन्दी कविता में प्रतिष्ठित कर चुका है। नयी कविता के किसी साम्प्रदायिक रूप से जकड़े बिना उसे उसका पूरक अंश मानना ही उचित है। आधुनिक मन की सर्जक प्रतिभा अपनी अनुभूतियों को अधिक भावप्रवण क्षणों में नवगीतों में डालती है और अपेक्षाकृत रूप से सम्हले, तटस्थ क्षणों में अन्य काव्य रूपों में। मैं यह नहीं मानता कि नवगीत आन्दोलन के फलस्वरूप काव्येतिहास का वर्तमान युग या अगला युग गीत युग बन सकेगा। सामान्य युगीन परिस्थितियाँ इसके अनुकूल नहीं हैं। यह भी सच है कि गीत मरनेवाले नहीं है, नहीं मरेंगे और नवगीत आन्दोलन ने उन्हें एक नया उभार दिया है।

नवगीत आधुनिक मन के कंक्रीटी आँगन में बरबस उग आनेवाली हरी दूब है या आधुनिक मन के भाखड़ानंगल से निकल कर ग्राम्य प्राकृतिक क्षेत्रों से गुजरनेवाली नहर, यह तो इतिहास ही बतायेगा किन्तु यह सच है कि मानव मन में गीत के लिए ललक सदा बनी रहेगी क्योंकि अन्य काव्य रूपों की तुलना में गीत अधिक भावभीने और लयाश्रित होते हैं; एवं व्यक्तिगत सुख-दुःख की घड़ियों में अनायास ही फूट पड़ते हैं, अपना या अपना लिया गया गीत गुनगुना उठना ऐसे क्षणों में मानव मन की विवशता है और इस विवशता में ही मानवता सुरक्षित है।

हिन्दी का नया नाटक साहित्य

हिन्दी नाटक साहित्य के अतीत का यह दुर्भाग्य रहा है कि सांस्कृतिक दृष्टि-सम्पन्न नाटककार और कलाबोधयुक्त रंगनिर्देशक का सम्मिलन नहीं हो सका। राहु और केतु की तरह हिन्दी नाटक के मस्तक और शरीर अलग-अलग ही रहे। हिन्दी नाटक साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में साहित्यिक और रंगमंचीय इन दो वर्गों में हिन्दी नाटकों का वर्गीकरण बेखटके किया जाता रहा तथा उनकी आलोचना में अधिमान तथाकथित साहित्यिक नाटकों को ही दिया जाता रहा। व्यवसायी रंगमंचीय नाटकों की चर्चा करीब-करीब जातिभ्रष्टों की तरह तथा अव्यवसायी रंगमंचीय नाटकों की चर्चा उनकी तनूकृत साहित्यिकता के लिए किंचित् उदारतापूर्वक की जाती थी। आज स्थिति यह है कि नये नाटककार एवं निर्देशक उस रचना को नाटक मानने के लिए तैयार ही नहीं हैं जो रंगमंच पर खरी न उतरे। रंगमंचबोध-विहीन कोरी साहित्यिक नाट्यकृति के लिए अवज्ञासूचक शब्द चल पड़ा है पाठ्यक्रमीय नाटक या कोर्स-बुकी नाटक। यह कहना तो अन्याय होगा कि तथाकथित साहित्यिक नाटक पाठ्यक्रम के लिए ही लिखे जाते रहे किन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसे कुछ नाटककारों की दृष्टि पाठ्यक्रम की ओर भी लगी रहती थी। रक्तदान के प्रवेश में श्री हरिकृष्ण प्रेमी की संस्वीकृति है, 'फिर बात यह है कि मेरे जैसे लेखक के नाटक पाठ्य-पुस्तक भी बनते हैं। हमारे अध्यापकों को शिकायत होती है कि छोटे-छोटे कथोपकथनों में ऐसा क्या हो सकता है जिसे शिक्षक पढ़ाये और किस प्रकार के प्रश्न उनपर करे? पैसा देनेवाला रंगमंच तो हमारे पास है नहीं और लेखक को रोटी तो खानी है, तब अध्यापकों की माँग भी पूरी करनी पड़ेगी।'[१] ऐसे नाटककारों के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी, जो स्वयं उनकी दृष्टि में 'कला के प्रति बेईमानी' है उसका समर्थन कैसे किया जा सकता है। वस्तुतः पारसी रंगमंच की विकृति और प्रतिष्ठित हिन्दी नाटककारों की अभिजात प्रवृत्ति के द्वन्द्व ने नाटकों के साहित्यिक एवं रंगमंचीय जैसे सर्वथा भिन्न जातीय प्रतीत होने वाले कृत्रिम वर्गीकरण को कुछ काल के लिए वास्तविक सा बना दिया था। निश्चय ही यह समकालीन हिन्दी नाटक

१. रक्तदान (पृ० ६, हरिकृष्ण प्रेमी)

की एक बड़ी उपलब्धि है कि नये नाटककारों तथा रंगशिल्पियों के पारस्परिक सहयोग के फलस्वरूप अब न तो भावपूर्ण, गम्भीर नाट्यकृतियों को रंगशिल्पियों द्वारा अनभिनेय घोषित किया जाता है, न रंगमंच का अनुशासन मानने में नाटककारों को अपमान का बोध होता है। अन्धायुग, आषाढ़ का एक दिन तथा खंडित यात्राएँ जैसे नाटकों का मंचन एवं अश्क, राकेश, कमलेश्वर आदि के द्वारा नाट्य प्रयोग के अनुभवों के आधार पर अपनी कृतियों में संशोधन, परिवर्तन इस बढ़ती हुई स्वस्थ प्रवृत्ति के निश्चित प्रमाण हैं। आज केवल सिद्धांत के रूप में ही नहीं, व्यवहार में भी यह मान लिया गया है कि नाटक केवल साहित्यिक आलेख न होकर दृश्यतत्वयुक्त वह समन्वित कला है जिसकी रचना लेखक, निर्देशक, अभिनेता, अन्य मंचशिल्पी एवं दर्शक संयुक्त रूप से करते हैं। यह ठीक है कि बीजप्रदाता के रूप में इनमें लेखक ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। दुर्बल साहित्यिक कृति का उत्कृष्ट प्रदर्शन भी उसे श्रेष्ठ नाटक का गौरव नहीं दे सकता। इप्टा और पृथ्वी थियेटर्स के नाटक इस कथन के प्रमाण हैं। अश्क ने 'पैंतरे' की भूमिका में बलराज साहनी के नाटक 'जादू की कुर्सी' की तथा धर्मवीर भारती ने अनामिका नाट्य महोत्सव में पठित अपने निबन्ध[२] में पृथ्वीराज के नाटकों पैसा, पठान, दीवार की इसी न्यूनता की उचित आलोचना की है। इससे नये हिन्दी नाटककारों की प्रबुद्धता व्यक्त होती है कि उन्होंने अरंगमंचीय साहित्यिकता तथा असाहित्यिक रंगमंचीयता इन दोनों अतिरेकों से अपनी कृतियों को बचाना चाहा है।

यह भी लक्षितव्य है कि नयी कविता, नयी कहानी, नयी आलोचना की तरह 'नया नाटक' जैसा कोई मुखर आन्दोलन हिन्दी में नहीं उठा। फिर भी चिन्तन और जीवन में परिव्याप्त नवीनता नाटक के क्षेत्र में भी झलकी ही है। आदर्शवादी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के स्थान पर क्रमशः सामाजिक यथार्थ की ओर झुकाव और फिर उसके साथ-साथ चिन्तन प्रधान, काव्यात्मक, प्रतीकात्मक शैलियों का स्वीकरण आधुनिक हिन्दी नाटकों में देखा जा सकता है। विश्व साहित्य की नव्यतम प्रवृत्तियों की कलम हिन्दी में भी लगाने की झोंक के कारण अर्थहीन नाटक और अनाटक की चर्चा का क्षीण गुंजन भी सुना जा सकता है। हिन्दी नाटक के क्षेत्र में नवीनता का संचार अपेक्षाकृत रूप से निर्विरोध एवं एक सीमा के भीतर ही हुआ। इसके कई कारण हैं। एक तो अन्य साहित्य-विधाओं की तुलना में हिन्दी नाटक इतना विकसित नहीं था कि उसको

---

२. उक्त निबन्ध नटरंग के प्रवेशांक (जनवरी १९६५) में हिन्दी नाट्य-लेखन : कुछ समस्याएँ नाम से प्रकाशित हो चुका है।

ऐसी सुनिश्चित परम्परा होती, जिसका अतिक्रमण आन्दोलनसाध्य होता, दूसरे नाटकों का क्षेत्र इतना 'अर्थप्रद' भी नहीं था कि स्थापितों और नवोनों में 'बाजार' पर कब्जा करने के लिए तीव्र द्वन्द्व होता, तीसरे कविता-कहानी में तीव्र विरोध के बावजूद अपने को प्रतिष्ठित कर लेने के बाद साहित्य की अन्य विधाओं में नवोनता की स्वीकृति सहज हो गयी।

विरासत के रूप में नये नाटक को अपने अव्यवहित पूर्व हिन्दी नाटकों से मुख्यतः प्राप्त हुई थी प्रसाद की काव्यगरिमा युक्त आदर्शोन्मुख स्वच्छन्दतावादो नाट्य-परम्परा हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, वृन्दावन लाल वर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, डा० रामकुमार वर्मा, सोताराम चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि नाटक लेखक न्यूनाधिक रूप में उन्हीं आदर्शों से प्रेरित थे जिनसे प्रसाद परि-चालित थे। प्रसाद शैली का सरलीकृत रूप ही इनकी कृतियों में उपलब्ध होता है। प्रसाद और उनके सहयोगियों द्वारा ऐतिहासिक नाटक सम्बन्धी जनता की आकांक्षा को इतना संतृप्त कर दिया गया था कि उनके तत्काल बाद की पीढ़ी के नाटककारों को नयी शुरूआत करने के लिए सामाजिक यथार्थ के चित्रण की नयी भूमिका ग्रहण करनी पड़ी। किन्तु श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की उलझी हुई भावाक्षिप्त बुद्धिवादिता, सेठ गोविन्ददास की पत्रकारी रचनाधर्मिता तथा उपेन्द्रनाथ अश्क की सतही प्रगतिशील यथार्थवादिता कोई ऐसी कृति नहीं दे पाई जिसे बड़ी उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जा सकता। फिर भी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के सम्मोहन से हिन्दी नाटक को मुक्त करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है।

बाह्य यथार्थ के विरोध में तो नहीं किन्तु उससे कुछ अलग हटकर आभ्यन्तर यथार्थ का चित्रण करना नये हिन्दी नाटकों की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। आधुनिक समाज व्यवस्थाओं ने मनुष्य के बाह्य आचरणों को नाना विधि-निषेधों की शृंखला से जकड़ कर उसका जितना लौहसंघटन किया है, उसके आहत क्षत-विक्षत अन्तर का उतना ही विघटन हुआ है। आधुनिक मनुष्य के इसी आन्तरिक संकट को मूर्त्त करने का प्रयास नये नाटकों में परिलक्षित होता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सामान्य शिक्षित भारतीय जनमानस का विघटन १९५४-५५ के बाद ही तीव्रता से हुआ। उसके पूर्व देश विभाजन एवं महात्मा गाँधी की हत्या के बावजूद स्वतन्त्रता, नेहरू छाप समाजवाद, प्रथम पंचवर्षीय योजना की आंशिक सफलता आदि के कारण पश्चिम के सामान्य शिक्षित जन

की भाँति न तो भारतीय सामान्य शिक्षित व्यक्ति अपने को दिशाहीन समझता था, न प्रवंचित। उसी के अनुरूप तब तक की हमारी नाट्य-कृतियों में उतने तीव्र विक्षोभ, नैराश्य, लक्ष्यहीन विद्रोह आदि के स्वर नहीं मिलते। जैसे-जैसे उसे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में प्रवंचना का मर्मन्तुद अनुभव होता गया वैसे-वैसे हमारी कलाकृतियों में उत्तरोत्तर तिक्तता दिशाहीनता, अनास्था के स्वर मुखर होते गये तथापि अब भी यह सत्य है कि हमारी सर्जनात्मक दृष्टि सर्वथा आस्थाहीन नहीं हो गयी है।

इन नाटककारों में जिन्होंने व्यक्ति की अपेक्षाकृत आधारभूत समस्याओं को उठाया है उन्होंने निकटताजनित वर्तमान के ब्यौरों को काटकर उन मूलभूत समस्याओं को किसी ऐतिहासिक या पौराणिक सन्दर्भ में अनुस्यूत कर दिया है। सपाट, शुष्क बौद्धिक विश्लेषण के स्थान पर उन्होंने अपने नाटकों में भाव-प्रवणता, कल्पना की रमणीयता, काव्यात्मक भाषा का संयोजन किया है। इनमें भी जिन्हें लगा है कि उनका कथ्य और अधिक सूक्ष्म एवं लचीले माध्यम की माँग करता है उन्होंने काव्यनाटक लिखे। पुराणप्रिय रसात्मक, भारतीय साहित्य परम्परा इन नाटकों के पक्ष में जाती थी, यह आकस्मिक नहीं है कि इस काल की तीनों सर्वाधिक चर्चित, अभिनीत एवं अभिमान्य नाट्य कृतियाँ-कोणार्क, अन्धायुग एवं आषाढ़ का एक दिन इसी धारा की हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क और लक्ष्मीनारायण लाल के सामाजिक यथार्थ पर आधारित नाटकों को भारतीय साहित्यिक परम्परा में पगे हुए भारतीय जातीय मानस का प्रच्छन्न विरोध झेलना पड़ा है जबकि भारतेन्दु, प्रसाद, प्रेमी, भट्ट आदि को उसका प्रत्यक्ष एवं जगदीशचन्द्र माथुर, भारतीय तथा राकेश को उसका परोक्ष सम्बल प्राप्त है। हम यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि इसका यह अर्थ नहीं कि हिन्दी या भारतीय भाषाओं में समर्थ सामाजिक यथार्थवादी नाटक लिखे ही नहीं जा सकते। यदि समसामयिक जीवन पर आधारित प्रथम श्रेणी के कथा-साहित्य की रचना हो सकती है तो नाटकों की भी हो सकती है किन्तु उसके लिए अधिक शक्तिशाली, सर्जनात्मक प्रतिभा की अपेक्षा होगी, जो नये संस्कार दे सकें।

यह भी नहीं समझना चाहिए कि इतिहास पुराण का परिवेश ले लेने मात्र से ये कृतियाँ प्रसाद युग की ऐतिहासिक पौराणिक नाट्य-कृतियों की परम्परा-मुक्त हैं। वस्तुतः इस विश्वास के अतिरिक्त कि नाटक की उत्कृष्टता के लिए भावप्रेरित स्थितियों और चरित्रों की योजना तथा प्रतीकों एवं बिम्बों से समृद्ध भाषा का प्रयोग वांछनीय है, दृष्टि, निष्कर्ष, शिल्प आदि में प्रसादकालीन नाटकों

से इनकी और कोई समता लक्षित नहीं होती। प्रसाद भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराना चाहते थे जिनसे प्रेरणा ग्रहण कर हम अपना पुनरुत्थान कर सकते थे। उनसे वे घटनाएँ, वे चरित्र सर्वोपरि निष्ठा की माँग करते थे। समसामयिक जीवन के प्रश्न उनसे बिच्छुरित प्रकाश किरणों के आलोक में हल किये जा सकते हैं, यह भी उनका विश्वास था और एक सीमा के भीतर उन्होंने प्रयास भी किया था कि उनसे प्राप्त प्रेरणा से वे हल हों किन्तु इसके लिए वे उन घटनाओं को न तो बदल सकते थे, न चरित्रों को उनके परम्परागत रूप से अन्यथा आँक सकते थे। यह निष्ठा इस सीमा तक थी कि अपने समय में स्वीकृत ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति-कूल जाने पर उन्होंने अपने एक नाटक 'यशोधर्म देव' को नष्ट कर दिया था। यह बात भिन्न है कि नवाविष्कृत ऐतिहासिक तथ्यों के कारण उनके कुछ नाटकों की घटनाओं की ऐतिहासिकता संदिग्ध हो जाती है।

किन्तु इन नये नाटककारों के लिए इतिहास उपकरण मात्र है जिसका उपयोग वे अपने कथ्य को अधिक परिस्फुट एवं प्रभावशाली बनाने के लिए करते हैं। उनकी मूल निष्ठा अपने कथ्य के प्रति है ऐतिहासिक घटनाओं या चरित्रों के प्रति नहीं, अपने कथ्य के अनुरूप घटनाओं की सृष्टि या प्राचीन चरित्रों को बिलकुल आधुनिक प्रवृत्तियों के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करने में उनको हिचक नहीं होती। यह दृष्टि उचित है कि नहीं, इस पर विवाद हो सकता है किन्तु इसके चलते सृष्टि को तो अस्वीकारा नहीं जा सकता।

स्वाधीनता के बाद लिखित लक्ष्मीनारायण मिश्र या डा० रामकुमार वर्मा के ऐतिहासिक नाटक जहाँ किसी प्राचीन भारतीय विचार या चरित्र को समा-धान या आदर्श के रूप में उपस्थित करते हैं वहाँ ये नये नाटक गहरे अन्तर्द्वन्द्व, उलझाव और भटकाव में से सत्य को तलाशते से प्रतीत होते हैं। कोई बना-बनाया समाधान ये नहीं देते बल्कि कुछ प्रश्न-चिह्न लगाते हैं। सम्भावित सत्य की ओर अग्रसर होने के लिए इनके चरित्र जो कदम उठाते हैं, उनसे सहमत होना सब समय सम्भव नहीं होता क्योंकि ये वैयक्तिक निर्णय हैं, जो सामाजिक स्वीकृति या समर्थन से निरपेक्ष होकर किये गये हैं अतः विवादास्पद होने के लिए बाध्य हैं। फिर भी ये नाटक महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि अपने समय की प्रबल आकांक्षाओं को व्यक्त करने का, गहरी शंकाओं या चुनौतियों से जूझने का सर्जनात्मक प्रयास इनमें स्पष्ट परिलक्षित होता है।

इन नाटककारों ने लोकग्राह्यता की तुलना में विशिष्टता को अधिक महत्व दिया है। इनके कथावस्तु संयोजन, चरित्रांकन, संवाद, सभी में सामान्याति-

रिक्तता झलकती है। नाटक में यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने की परिपाटी को वे त्याग चुके हैं क्योंकि प्रभाव सृष्टि की दृष्टि से उसकी दुर्बलता और फिल्म की तुलना में अपूर्णता प्रमाणित हो चुकी है। उनकी आस्था प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण पर है जिसमें सांकेतिक कल्पनाशीलता के साथ ही साथ संगीत, आलोक-सम्पात आदि पार्श्व प्रभावों का कलात्मक संयोजन किया जाता है।

इस धारा की पहली प्रभावशाली कृति जगदीशचन्द्र माथुर के कोणार्क में 'कलाकार के शाश्वत अन्तर्दहन' को सामाजिक दायित्व बोध से युक्त कर प्रस्तुत किया गया है। यह समकालीन प्रगतिवाद की प्रतिध्वनि मात्र भले ही न हो किन्तु १९५१ में प्रकाशित इस नाटक पर १९३६-३७ से चले आने वाले इस विचार मंथन का गहरा और स्पष्ट प्रभाव है कि साहित्यकार किसके लिए लिखे—कस्मै देवाय हविषाविधेमा-सौन्दर्य सृजन के सम्मोहन में भूले हुए कलाकार को जीवन के संघर्ष और सत्ता के अत्याचारों के प्रति सजग करना; अपनी कलासृष्टि को पराजय का प्रतीक न बनने देने को उसे प्ररणा देना और चरम प्रतिकार के लिए सन्नद्ध करना ही नाटककार का उद्देश्य है, जिसकी पूर्ति उसने अल्पमात्रा में ही इतिहास का सहारा लेकर 'कोणार्क' के बनने और टूटने के अपने कल्पित क्रम के माध्यम से इस 'अद्भुत सुघर संतुलित कलाकृति' के द्वारा की है। विध्वस्त 'कोणार्क' कलाकार का बदला है, यह भावुक कल्पना युग की एक विशिष्ट आकांक्षा को तृप्त करने के कारण ही इतनी लोकप्रिय हो सकी। एक ही केन्द्रीय विचार के चारों ओर बुनी हुई कथा, विशु और धर्मपद की जीवन्त चरित्र सृष्टियाँ, परिस्थितिजन्य द्वन्द्व का चरम तक प्रभविष्णु निर्वाह काव्यात्मक संवाद इन गुणों ने कोणार्क का गौरव और बढ़ा दिया है। किन्तु युग के बदले हुए आज के मिजाज में इसकी भी अतिरंजनाएँ उतनी प्रभावशालिनी नही लगतीं।

माथुर जी की दूसरी कृति शारदीया कोणार्क की तुलना में दुर्बल है। इसमें असफल एकनिष्ठ प्रेम की करुणा को उभारने का प्रयास किया गया है जो बहुत सफल नहीं हो सका है। शारदीया की दुर्बलता के कई कारण हैं। एक तो 'देवदास की मनोवृत्ति आज की वास्तविकता के प्रतिकूल पड़ती है, दूसरे इसमें हिन्दू मुस्लिम एकता, सामन्तवादी व्यवस्था की दुर्बलता आदि का चित्रण करने के लिए अवान्तर घटनाओं का इतना विस्तार किया गया है कि मूल भाव उनसे आच्छन्न सा हो गया है, तीसरे इसमें 'न तो युग की किसी नयी बड़ी चुनौती की स्वीकृति है न किसी पुरानी समस्या का ही तलस्पर्शी विश्लेषण।

धर्मवीर भारती का 'अंधा युग' सशक्त नाट्य कृति है जिसमें समसामयिक जीवन की विभीषिका महाभारतोत्तर पट भूमिका में चित्रित है। १९५४ में रचित इस काव्य नाटक की प्रेरणा केवल भारतीय परिवेश से नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से भी, बल्कि मुख्यतः उन्हीं से आयी है। दो, दो विश्वयुद्धों की निष्णोषणकारी यातना तीसरे सर्वनाशी युद्ध की प्राणशोषी आशंका, व्यक्तिगत, दलगत एवं राष्ट्रगत स्वार्थों के लिए सिद्धान्तों की निर्लज्ज प्रवंचना, सामाजिक मूल्यों के विघटन से उत्पन्न जीवन की मर्यादाहीन स्थिति, संशय, ग्लानि, व्यर्थताबोध आदि का उत्कट संवेदन विश्वचेतना के स्तर पर कर, उसे सर्व-विदित भारतीय पौराणिक सन्दर्भ से युक्त कर सामान्य प्रबुद्ध हिन्दी पाठक को दृश्यकाव्य के माध्यम से उसकी तीखी अनुभूति करा पाना निश्चय ही एक बड़ी उपलब्धि है। और फिर इस तिमिराच्छन्न स्थिति में भी जब विजय तिल-तिल कर फलीभूत होने वाले आत्मघात का पर्याय लगती हो (युधिष्ठिर) अमानुषिक अर्धसत्य घृणा का तर्क ले पशुओं के स्तर पर उतर गया हो (अश्वत्थामा), प्रवंचित आस्था आत्मघाती हो गयी हो (युयुत्सु), निरपेक्ष सत्य निष्क्रिय रहकर अपने अस्तित्व का अर्थ खोता जाता हो (संजय), तब भी मन में बीज रूप में स्थित साहस, स्वतंत्रता नूतन सर्जन के तत्व (श्रीकृष्ण) पर आस्था रखना वस्तुतः अंधों के माध्यम से उस ज्योति की कथा प्रस्तुत करना ही है जो अन्त-तोगत्वा व्यक्ति के विवक से ही प्राप्य है। अपनी कुछ सीमाओं के बावजूद अंधा युग निस्सन्देह हिन्दी का श्रेष्ठ ग्रंथ है। एक क्षयिष्णु समाज की ह्रासोन्मुख संस्कृति के आभ्यन्तर यथार्थ को कुशलतापूर्वक अंकित किया गया है अंधायुग में।

दुष्यन्त कुमार का 'एक कंठ विषपायी' इसी धारा का एक अन्य उल्लेख्य काव्य नाटक है जिसमें 'जर्जर रूढ़ियों और परम्परा के शव से चिपटे' लोगों के मोह और मोह मुक्ति की मनःस्थिति का चित्रण शिव-सती की गाथा के माध्यम से किया गया है, किन्तु कई स्थलों पर मर्मस्पर्शी होकर भी अपने समग्र रूप में यह प्रत्यायक (कन्विन्सिग) नहीं हो पाया है विशेषतः विष्णु के प्रणाम बाण छोड़ते ही शंकर का क्रोध शान्त हो जाना, सम्भावित युद्ध एवं रक्तपात का थम जाना एक चमत्कार सा लगता है जो न दृश्य काव्य में, वर्त-मान सन्दर्भ में ही किसी विश्वसनीय महत्वपूर्ण अर्थ का द्योतन करता है। इस दुर्बल अन्त के अतिरिक्त पीड़ित प्रवंचित प्रजा के प्रतीक सर्वहुत तथा राजसत्ता-लोलुप इन्द्र, वरुण आदि के चरित्र मूल कथ्य को प्रभावपूर्ण बनाने के स्थान पर क्षीण बनाते हैं।

मृत्यु के साक्षात्कार द्वारा मृत्यु के भय का अतिक्रमण करना तथा दर्पस्फीत अहं की कारा से मुक्त हो विराट् को समर्पित होने की साधना अज्ञेय के लेखन

के दो प्रमुख प्रेरणा स्रोत रहे हैं । अपने गीतिनाट्य 'उत्तर प्रियदर्शी' में अशोक सम्बन्धी कुछ पुराकथाओं के आधार पर उन्होंने व्यक्ति के स्फीत अहं से निर्मित नरक···उसके अन्तःस्थ नरक में उसी के फँसने, ऐंठन, टूटन, तड़पन की मरण यातना को सहने और फिर पारमिता करुणा के सहारे उससे मुक्त होने की गाथा प्रस्तुत की है । इस प्रकार इसमें उन्होंने इन दोनों बोधों को समन्वित कर दिया है । इस नाटक का स्वर 'शुद्ध नाट्यधर्मी' है । वस्तुगत यथार्थ या स्थूल उत्तेजनापूर्ण घटनाओं के प्रत्याशी इसे पढ़कर या देखकर निराश हो होंगे । किन्तु प्रस्तुत कृति से इसकी अपेक्षा ही अन्याय है । इसकी सूक्ष्म सांकेतिकता और सहज विलम्बित गति के लिए अज्ञेय जापानी नाट्यशैली नौ के अंशतः ऋणी हैं ।

इस नाटक के अशोक की तरह ही आज का व्यक्ति भी एक ही साथ एक तरफ तो जन-जन से अनातंकित, उदार, उजला दुलार चाहता है और दूसरी तरफ अपने प्रेत शत्रुओं को शमित कर कड़ी यंत्रणा, नरकयातना देना चाहता हैं—यथासम्भव देता भी है । परिणामतः स्वयं नरक की कालजिह्व ज्वालाओं में झुलसता रहता है । उसको मुक्ति उसी के अन्तर से निःसृत करुणा के द्वारा ही सम्भव है, उसी को जगाने का निर्देश भिक्षु के माध्यम से नाट्यकार देता है । आज के सन्दर्भ में यह समाधान अत्यन्त सरलीकृत और उपदेशात्मक सा प्रतीत होता है और यही इस नाटक की सबसे बड़ी कमजोरी है । आज का व्यक्ति अपनी अन्तःस्थ करुणा को जगाकर यदि भीतरी नरक से मुक्ति पा भी ले तो भी बाहरी नरक का क्या होगा, जिस पर उसका कोई अधिकार ही नहीं है । नहीं, आधुनिक व्यक्ति को इतनी सरलता से मुक्ति नहीं मिल सकती ।

मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास व्यक्ति न होकर 'सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है ।' नाटककार की चेष्टा है कि उसका चरित्र किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करने वाले अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित करे । ऐसा लगता है कि इस नाटक की मुख्य समस्या कलाकार की अन्तरंग प्रतिबद्धता की समस्या है । उसका अन्तर्द्वन्द्व यह निश्चय न कर पाने के कारण है कि कलाकार की सर्वोपरि प्रतिबद्धता किसके प्रति है, अपनी कला के प्रति, प्रेयसी के प्रति या राज्य के दायित्व के प्रति ? नाटककार ने दिखाया है कि प्रेम कलाकार की आन्तरिक क्षमता का विकास करता है और राज्याश्रय से उसे प्रतिष्ठा प्राप्त होती है किन्तु अपने आधार से कटकर राज्याधिकार ग्रहण करने पर कलाकार भीतर-भीतर टूटता और रीतता जाता है । राज्याधिकार से लिप्त होना कलाकार के लिए घातक है, यह निष्कर्ष स्पष्ट है, किन्तु कला

और प्रेम के प्रति दायित्व-निर्वाह के द्वन्द्व को प्रथम अंक में संकेतित भरकर अन्त तक अमीमांसित छोड़ दिया गया है। प्रेम के प्रति समर्पण के भावुकता-पूर्ण अन्तर्निहित संकेतों के बावजूद इस नाटक के कालिदास के आचरणों से उसका जैसा सुविधावादी एवं स्वार्थनर रूप उभरता है उसे कलाकार के लिए आदर्श मानना तो दूर की बात है, उचित मानना भी अस्वीकार्य है। बड़े कलाकारों में भी दुर्बलताएँ हो सकती हैं किन्तु किसी भी क्षेत्र में वस्तुतः बड़ा होने के लिए अनिवार्य है कि व्यक्ति मूलतः अच्छा हो। कालिदास के नाम पर किसी क्षुद्र कलाकार का चरित्र चला देना और उसे 'मानवीय धरातल पर रहकर भी जीवन में कुछ महान् किया जा सकता है' कहना विवेचकों को कैसे मान्य हो सकता है? इसी तरह मल्लिका को कालिदास की प्रेयसी और प्रेरणा से आगे जाकर आस्था मानना समझ में न आनेवाली बात है। और यह भी कि बार-बार प्रवंचित होकर भी उसके मन में आक्रोश क्यों नहीं जागता, वह मानवी से अधिक दैवी या यों कहिये मूर्तिमती समर्पण सी लगती है। वस्तुतः इस नाटक की लोकप्रियता के मूल में मल्लिका के उत्सर्ग पूर्ण चरित्र का सम्मोहन है, इसकी रोमानी प्रवृत्ति है, इसकी आकर्षक शैली है, इसकी बौद्धिक मीमांसा नहीं।

'लहरों के राजहंस' में प्रवृत्ति (सुंदरी) एवं निवृत्ति (बुद्ध) या पार्थिव एवं अपार्थिव मूल्यों के प्रति युगपत् रूप से आकृष्ट आधुनिक मनुष्य (नन्द) के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण है। ऐतिहासिक तथ्य की माँग के कारण इस नाटक का नन्द अन्त में सुंदरी के क्षोभ का गलत अर्थ लगाकर उसको त्याग कर बुद्ध के पास चला जाता है किन्तु उसका अन्तःकरण तब भी दुविधाग्रस्त है जिसका अर्थ यही है कि अन्त तक वह अपनी दोनों आन्तरिक आवश्यकताओं, इन दोनों मूल्यों में से किसी एक को दूसरे से पूर्णतः निरपेक्ष होकर ग्रहण नहीं कर पाता। इसी के साथ-साथ स्त्री-पुरुष की आधारभूत प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में नाटककार का संकेत यह प्रतीत होता है कि स्त्री-पुरुष को अपने से, पार्थिव मूल्यों से सर्वथा बाँध रखना चाहती है जबकि पुरुष अंशतः उस बन्धन को स्पृहणीय समझकर भी अपनी चरितार्थता के लिए अपार्थिव मूल्यों का सन्धान करता रहता है। इसे आत्यन्तिक सत्य के रूप में स्वीकार करना कठिन है। 'आषाढ़ का एक दिन' की तुलना में 'लहरों के राजहंस' की प्रतीक योजना अधिक जटिल, घटना-प्रवाह अधिक क्षिप्र और अन्तर्द्वन्द्व अधिक गहरा है। आषाढ़ का एक दिन के समान लोकप्रिय न होने पर भी यह कृति संभवतः उससे अधिक गौरव की अधिकारिणी है।

व्यक्ति के आभ्यन्तर यथार्थ को समसामयिक जीवन के सन्दर्भ में सफलतापूर्वक अंकित करना अपेक्षाकृत रूप से सरल लगने पर भी वस्तुतः अधिक कठिन है। इसमें सामाजिक जीवन के विश्वसनीय परिवेश के भीतर ही उसके दबावों के कारण व्यक्ति के मानसिक तनावों, ऊहापोहों आकांक्षाओं, पावन संकल्पों, कुंठाओं, विकृतियों को अंकित करना पड़ता है। अपने अनुरूप अर्थ कल्पित ऐतिहासिक परिवेश में संकेतात्मक समकालीनता की अनुभूति कराने की सुविधा यहाँ नहीं रहती। यह ठीक है कि नवीनतम प्रवृत्ति परिवेश की बाह्य विश्वसनीयता की ओर अधिक ध्यान नहीं देती, उसके प्रभाव को अमूर्त चित्रकला की शैली में झलकाना चाहती है। किन्तु अभी हिन्दी नाटक के क्षेत्र में इसका सूत्रपात भर हुआ है, अतः इस पर इस स्थिति में कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता।

इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण नाम श्री लक्ष्मीनारायण लाल का है। रंगमंच के प्रति उनकी गहरी आस्था एक ओर तो उनके कर्मठ नाट्य प्रयोक्ता के रूप में प्रकट हुई है, दूसरी ओर उर्वर नाट्यकार के रूप में। अंधा कुआँ (१९५६) से दर्पन (१९६४) तक उनके नौ पूर्णकालिक नाटक प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें विषयवस्तु, चयन, शिल्प, शैली आदि की इतनी विभिन्नता है कि लगता है नाटककार के लिए प्रयोग बहुत बड़ा मूल्य है या यह भी संभव है कि वह अभी तक अपनी शैली की तलाश में ही है। इन दोनों ही स्थितियों में ये संकेत तो निहित हैं ही कि ये कृतियाँ सिद्धि की पूर्व प्रस्तुति मात्र हैं तथा अपनी विशिष्ट शैली को खोज लेने के बाद नाटककार उसमें अपनी और उत्कृष्ट कृतियाँ दे सकेगा। श्री लाल की विविधता का आभास इसी से मिलता है कि उन्होंने यथार्थवादी शैली में ग्राम जीवन का चित्रण (अंधा कुआँ), लोक नाट्य शैली में लोक-कथा का नाट्य रूपान्तर (नाटक तोता मैना) प्रतीकात्मक गीत नाट्य शैली में भाव सत्य का निरूपण (सूखा सरोवर) सामाजिक विकृतियों पर मृदुल व्यंग्य (सुन्दर रस) बाह्य सामाजिक समस्याओं का दिग्दर्शन (रक्त कमल) तथा व्यक्ति के आभ्यन्तर यथार्थ का उद्घाटन (मादा कैक्टस, रात रानी, दर्पन, आदि) करने का प्रयास किया है! उन्हें सर्वाधिक सफलता व्यक्ति के आभ्यन्तर यथार्थ के उद्घाटन में मिली है और मादा कैक्टस तथा दर्पन निश्चय ही दो श्रेष्ठ नाट्य कृतियाँ हैं। जीवन के, विशेषतः यौन नैतिकता के बदलते हुए मूल्यों को रेखांकित करने का प्रयास है मादा कैक्टस। नर नारी की निविड़ निकटता विवाह के कवच में ही मर्यादित और सुरक्षित है या बन्धुत्व के मुक्त साहचर्य द्वारा आनन्द और प्रेरणा के आदान-प्रदान में सार्थक तथा साफल्य मण्डित?

और जब परम्परा (सुजाता) बहरी हो जाय तथा प्रगति (आनन्दा) क्षयग्रस्त, तब क्या हो ? नहीं ऐसा तो नहीं है कि आधुनिक संस्कार (अरविन्द) जिसे सबसे ज्यादा महत्व देते हैं अनजाने उसी मूल्य का खून कर डालते हैं ? इस नाटक में नाटककार ने प्रश्न ही बिखेरे हैं संभवतः इस आशा से कि उत्तर के अंकुर जीवन की धरती से ही उगेंगे । अपने वास्तविक स्वरूप की तलाश करने की आकुल चेष्टा, परस्पर विरोधी मूल्यों के युगपत् आकर्षण के कारण निर्णय न कर पाने की यातना और अन्त में व्यक्तिगत सुखोपभोग के ऊपर सामाजिक मंगल के लिए आत्मोत्सर्ग की प्रतिष्ठा का मर्मस्पर्शी अंकन 'दर्पन' में किया गया है । लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में भारतीय संस्कृति और आधुनिकता का समन्वय करने की सन्तुलित चेष्टा झलकती है जो सर्वथा समर्थनीय है किन्तु कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि उनमें जितना उत्साह है, उतनी सामर्थ्य नहीं जितनी प्रयोगशीलता है, उतनी उपलब्धि नहीं, जितनी उर्वरता है उतनी उत्कृष्टता नहीं ।

ग्राम सुधार एवं देश रक्षा सम्बन्धी कई नाटक लिखने के बाद श्री ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने अपनी नवीनतम कृति 'शुतुरमुर्ग' में वर्तमान राजनीतिक दुरवस्था पर शक्तिशाली व्यंग्य किया है । दिल्ली को शुतुरनगरी में परिवर्त्तित कर देने के कारण वे अन्योक्ति पद्धति की सहायता से वर्तमान की वस्तुनिष्ठता से बचकर वर्तमान की विरूपता को, दिल्लीश्वर के शुतुर्मुर्ग सदृश आचरण की ओट में छिपी उसकी दुर्बलता, धूर्तता प्रवंचकता को और उन सबकी व्यर्थता को परिहासपरक शैली द्वारा उजागर करने में बहुत दूर तक सफल हुए हैं । अनामिका ने अपने अभिकल्पित नाट्य प्रयोग के द्वारा इसकी अन्तर्निहित क्षमता का अच्छा उद्घाटन किया है । यह ठीक है कि इस नाटक के संकेत बहुत कुछ स्थूल हैं और कथा अपेक्षाकृत रूप से अगंभीर तथापि यह श्री अग्निहोत्री के विकसित नाटककार का निश्चित प्रमाण है ।

श्री ललित सहगल कृत 'हत्या एक आकार की' महात्मा गाँधी (इस नाटक में वह के द्वारा संकेतित) के हत्यारे के अन्तर्द्वन्द्व को मूर्त करनेवाला प्रभविष्णु नाटक है । 'उसकी' और 'उसके' कई विगत कार्यों की महत्ता को स्वीकारते हुए भी, 'उसकी' कुछ पिछली और वर्त्तमान कार्यवाही को देशहित-विरोधी मानने के कारण बिना किसी व्यक्तिगत शत्रुता के एक छोटे से दल के सदस्य 'उसकी' हत्या की कूट-योजना बनाते हैं । सहसा उन्हीं में से एक इस निर्णय के औचित्य के प्रति शंकालु हो उठता है, और अपने उस सदस्य की शंका का निराकरण करने के लिए दल 'उस' पर मुकदमा चलाकर

'उसे' अपराधी प्रमाणित करना चाहता है ताकि 'उसकी' हत्या का नैतिक आधार प्राप्त हो सके। वह शंकालु सदस्य 'उसका' वकील बनकर 'उस' पर लगाये अभियोगों का खंडन करता है, उस विरोधी सदस्य की दलीलों को प्रबल पड़ता देख उस दल के लोग अपने उस सदस्य का गला घोंटकर 'उसकी' हत्या कर देते हैं।

यह पूरा मुकदमा आन्तरिक वृत्तियों के अन्त:संघर्ष की बाह्य अभिव्यक्ति है। वस्तुत: वह विरोधी युवक उस हत्यारे का अपना विवेक ही है, वह न्यायाधीश, वह इतिहासकार उसके अपने न्याय एवं तथ्यपरक औचित्य के बोध के प्रतिरूप मात्र हैं और वह वादी वकील है उसका अपना हठाग्रह, मतान्ध संकीर्ण विश्वास।

नाटककार और अभियान (नट्यप्रयोक्ता दल) इसके लिए बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने इस कृति को वृत्तनाटक की प्रामाणिकता के बावजूद प्रचारात्मक होने से बचा लिया है। 'उसके' विरुद्ध जो कुछ कहा जा सकता था, उसे पूरे पैनेपन के साथ कहा गया है और 'उसकी' हत्या की योजना के पीछे के क्षोभ को सही-सही ढंग से रखकर भी उस पूरे चिन्तन की विसंगति, विकृति और घृणित परिणति को कलात्मक स्तर पर दरसाया गया है। निश्चय ही हम ललित सहगल से भविष्य में ऐसे बहुत कुछ की आशा रख सकते हैं, जिससे हिन्दी का नाटक साहित्य गौरवान्वित होगा।

इनके अतिरिक्त नरेश मेहता, लक्ष्मीकान्त वर्मा, कमलेश्वर, डा० विपिन कुमार अग्रवाल, मन्नू भंडारी, सत्येन्द्र शरत् आदि ने भी नाटक के क्षेत्र में अच्छे प्रयोग किये हैं। अपने संस्कारों और विश्वासों के कारण नाटक के माध्यम से भी इन्होंने व्यक्ति के अन्तर की विविध परतों को उधेड़ कर उसके वास्तविक रूप को प्रस्तुत करना चाहा है। नरेश मेहता कृत 'खंडित यात्राएं' और मन्नू भंडारी कृत 'बिना दीवारों के घर' अपनी सीमाओं के बावजूद मर्म-स्पर्शी हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने कथाहीन नाटक 'अपना-अपना जूता' (१९६४) लिखकर एक नया प्रयोग कि या तो आलोक शर्मा ने एक कदम और आगे जाकर केवल कथाहीन ही नहीं संवादहीन नाटक 'चेहरों का जंगल' (१९६७) की रचना की। हमारी जानकारी में भारतीय साहित्य में सम्भवत: यह पहला ही संवादहीन नाटक है जिसमें महानगर के चेहरों के जंगल में भटकते हुए समाज से अलग पड़ जाने के कारण अकेलेपन की यंत्रणा भोगते व्यक्ति की रोजमर्रा की ऊबमरी अर्थहीन जिन्दगी और मानसिक शान्ति की बेचैन तलाश को केवल मूक अभिनय के द्वारा अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गयी है।

इसी प्रकार काशीनाथ सिंह का नाटक 'घोआस' (१९६७) आज के भयाक्रांत, अर्थहीन जीवन के अन्तरंग को चित्रित करने का प्रयास है, जिसमें उसकी बाहरी हलचल, विधिव्यवस्था को अग्राह्य कर उसके प्रभाव परिणाम को झलकाने की चेष्टा की गयी है। पासी, घीसा, मास्सा, फूजी नाजी आदि कुछ अत्यन्त ऊबे हुए, विवश से भयाक्रांत लोग हैं, जो कुछ भी सर्जनात्मक कार्य करने में असमर्थ हैं क्योंकि 'कोई' है जो सर्वत्र है या हो सकता है जो हत्या भी करता है, और जिसकी उपस्थिति उन्हें असह्य है किन्तु वह मिलता ही नहीं, कैसे—उससे युद्ध किया जाय, कैसे हत्या का बदला लिया जाय। कुछ लोग फिर भी उसकी तलाश में लगे रहते हैं किन्तु एक (पासी) उस किसी का प्रतिरोध करने में भी अपने को असमर्थ पाता है और उसकी वृथा तलाश में चरमन की छत पर जाने से बेहतर मानता है, नफरत से भरकर यों ही पड़े रहना। शायद यही परिणति है आज के बुद्धिजीवियों की भी।

मुद्राराक्षस के नाटक 'मरजीवा' और 'योर्स फेथफुली' स्वयं उनके शब्दों में 'बेहद क्रूड ढंग की हिंसात्मक कृतियाँ' हैं। दुर्भाग्य से ये अभी तक अमुद्रित हैं अतः इन्हें हम देख नहीं पाये और मुद्रा जी नहीं चाहते कि 'छद्म नाटकों' पर लिखे पँचमेल लेख में उनकी चर्चा की जाये। क्योंकि उनके अनुसार 'हिन्दी में तो परम्परा है कविता-कहानीनुमा नाटकों की ही चर्चा की। मंच से ही जनमे और व्यवस्था विरोधी कड़वे नाटकों के जिक्र का सवाल क्यों उठे ?

स्पष्ट है कि १९६० के बाद नाटक लेखन के क्षेत्र में भी ऐसे स्वर उठ रहे हैं जो कथ्य और शैली दोनों ही दृष्टियों से नये नाटकों के एक और नये मोड़ के सूचक हैं। ये नये प्रयोग हिन्दी रंगमंच पर कैसे उतरेंगे, यह बिना वास्तविक मंचन के कैसे कहा जाय किन्तु आशंका यही है कि इनसे दर्शकों की माँग और नव्यतम प्रवृति के बीच का गहरा विच्छेद ही मूर्त हो उठेगा। समसामयिक साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भी सामान्य पाठकों और कृतिकारों के बीच जो दूरी बढ़ती जा रही है, उसका समर्थन करना कठिन है। फिर भी कवियों, कथाकारों की विशेषतः कवियों की स्थिति ऐसी है कि वे अधिक स्वतंत्रता बरत सकते हैं किन्तु नाटककार को अपने साथ दर्शकों को लेकर चलना ही होगा अन्यथा पाठ्यक्रमीय न सही, अवास्तविक नाट्य कृतियाँ ही रूप ग्रहण करेंगी। अन्तर्राष्ट्रीय नाट्य साहित्य के स्तर पर पहुँच जाने की झोंक में प्रयोगातिशयता को ही चरम मूल्य मान बैठनेवाले नाटककारों को यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि वे पुस्तकालयों की शोभा बढ़ाने के लिए ही

नाटक नहीं लिखना चाहते तो अपने रंगमंच, अपने दर्शक समाज और अपनी नाट्य परम्परा के सन्दर्भ में ही उनके प्रयोग सार्थक हो सकेंगे ।

यह हम मानते हैं कि यदि समकालीन लोकरुचि एवं रंगमंच को ही दृष्टिगत रखकर नाटक लिखे जाते तो न तो उनका संस्कार ही संभव होता न उत्कृष्ट नाटकों का सृजन ही । निश्चय ही श्रेष्ठ नाटककार की प्रतिभा समकालीन स्तर को और ऊपर उठने की चुनौती देगी किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उन्नयन आन्तरिक क्षमताओं के अनुरूप ही हो सकता है । पुरानी रूढ़ियों और सस्ती लोकरुचि के अंकुश को स्वीकार करना जितना घातक है, बाहर की चमक-दमक का सस्ता और कच्चा-पक्का अनुकरण उससे भी अधिक घातक है । जो इन दोनों से मुक्ति पाकर भारतीय नाट्य-परम्परा की गहराइयों में उतर कर उसके जीवन्त तत्वों के साथ अपने परिवेश में स्वीकार्य आधुनिकतम उपलब्धियों का मणिकांचन संयोग कर सकेगा वही भावी हिन्दी नाटक को सही दिशा दे सकेगा ।

● ●

११.

पूछते हैं वो कि ग़ालिब कौन है

वाचक :

पूछते हैं वो कि ग़ालिब कौन है,
कोई बतलाओ कि हम बतलायें क्या ?

मिर्ज़ाग़ालिब का यह शोखी भरा शेर आज भी एक दृष्टि से चुनौती बना खड़ा है ।

वाचिका :

क्यों ग़ालिब को कौन नहीं जानता । अपनी कविता के कारण वे सुप्रसिद्ध हैं ही और उनके जीवनी लेखकों ने उनके जीवन की जानने लायक प्राय: सभी बातों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया ही है । इसके बाद भी यह कहना क्यों कर उचित है कि 'ग़ालिब कौन है' इस प्रश्न का उत्तर देना आज भी एक चुनौती ही स्वीकार करना है ।

वाचक:

क्योंकि रचनाकार अपने व्यक्तिगत जीवन से कहीं अधिक अपनी रचनाओं में जीता है, वह वास्तव में कौन है, क्या है इसका सही उत्तर वही दे सकता है जो उसके जीवन के साथ उसकी रचनाओं को जोड़कर उसके मर्म को पहचाने । ग़ालिब की नुक्ताचीनी करनेवालों की संख्या कम नहीं रही । यह खुशी की बात है कि उसमें उत्तरोत्तर कमी होती जा रही है, जैसे ग़ालिब के भावुक भक्तों की संख्या दिनों दिन बढ़ती जा रही है किन्तु ग़ालिब के सच्चे मर्मज्ञ तो विरले ही हैं । अच्छा हो यदि हम इन तीनों की बातचीत सुनें ।

× × × ×

भावुक :

आप मानें या न मानें, मेरा तो यह विश्वास है कि ग़ालिब उर्दू के ही नहीं हिन्दुस्तान के सबसे बड़े कवि थे और दुनियाँ के गिने चुने कवियों में एक थे । प्रेम और सौन्दर्य, करुणा और दर्शन जिस किसी विषय को उन्होंने

छुआ उसको चरम सीमा तक पहुँचा दिया । जैसी समर्थ उनकी भाषा थी, वैसी ही बाँकी थी उनकी शैली । वे सचमुच महान् मौलिक कवि थे ।

नुक्ताचीं :

आप अपने विश्वास के आगे अन्ध शब्द और जोड़ लीजिए, फिर मुझे कोई आपत्ति नहीं रह जायगी । यह तो ठीक है कि ग़ालिब में अच्छे कवि की सम्भावनाएँ थीं किन्तु जिस कदर उलझे हुए उनके विचार थे, वैसे ही भारी भरकम उनकी भाषा थी, परिणाम यह होता था कि मौलिक बनने के फेर में वे पहेली बनकर रह जाते थे ।

भावुक :

हर ऊँची चीज उनके लिए पहेली बन जाती है, जो नासमझ होते हुए समझदारी का दावा करते हैं, खिसियानी बिल्ली खंभा नोचती ही है ।

नुक्ताची :

जी हाँ, बजा फर्माते हैं आप । लेकिन मैंने ऐसे लोग भी देखे हैं और शायद आपने भी देखे हों जो समझ में न आनेवाली हर चीज को ही महान् घोषित कर अपनी समझदारी का पर्दाफाश होने से बचाते हैं ।

मर्मज्ञ :

देखिये, इस तरह के व्यक्तिगत और हवाई आक्षेपों से या निराधार प्रशंसा और निन्दा से हम अपनी हठधर्मी का परिचय तो दे सकते हैं किन्तु ग़ालिब के प्रति सुविचार नहीं कर सकते । आवश्यकता इस बात की है, कि हम ग़ालिब की रचनाओं के आधार पर सहृदयतापूर्वक उन्हें समझने की चेष्टा करें । आपने उन्हें महान् मौलिक कवि कहा है, महत्ता का विचार हम बाद में करेंगे, पहले आप यह बताने का कष्ट करें कि किस दृष्टि से आप उन्हें मौलिक कवि मानते हैं ।

भावुक :

हर दृष्टि से, चाहे विचार हो या भाव, अलंकार योजना हो या कहने का ढंग प्रत्येक क्षेत्र में वे मौलिक और अद्वितीय हैं ।

नुक्ताचीं :

आप तो ग़ालिब पर उसी तरह फ़िदा हैं, जिस तरह वे अपनी प्रेमिका पर थे, जिसकी शान में उन्होंने यह शेर कहा था :

बलाए जाँ है ग़ालिब उसकी हर बात,
इबारत क्या, इशारत क्या, अदा क्या।

लेकिन सोचिये कि उर्दू कविता, विशेषतः ग़ालिब के समय की उर्दू कविता अत्यन्त रीतिबद्ध थी। उसके प्रमुख विषय थे प्रेम, सौन्दर्य, कुछ अंशों में भगवद्भक्ति या तसव्वुफ़ और अवश्य ही राजस्तुति। क्या ग़ालिब ने इन्हीं विषयों पर परम्परागत पद्धति से ही नहीं लिखा? क्या उनकी प्रेमिका परम्परा के अनुरूप ही परम सुन्दरी होते हुए भी नाजोअदा की बिजलियाँ गिरानेवाली, बेवफा हरजाई और निष्ठुर नहीं है? क्या उनका प्रेमी उसी प्रकार एकनिष्ठ, प्रेमिका के याद में पागल, लोक-विमुख, अत्यन्त दुर्बल, अभागा और मरणोन्मुख नहीं है? क्या उन्होंने उन्हीं रूढ़िबद्ध प्रतीकों शमा, परवाना, गुलो बुलबुल, चमनकफ़स और सैयाद, साकी मै और पैमाना आदि के माध्यम से ही अपनी बात नहीं कही है? समझ में नहीं आता उन्हें फिर मौलिक कैसे कहा जा सकता है।

मर्मज्ञ :

आप तो तैश में आ गये। उत्तेजना से विचार में सहायता नहीं मिलती, बाधा ही पड़ती है। काव्य में मौलिकता की आपकी धारणा से मैं सहमत नहीं हूँ। ऐसा लगता है कि आपके अनुसार वही कवि मौलिक है जो विषय प्रतीक, विचार-शैली सब में नयी क्रांति करे किन्तु ऐसा नहीं हुआ करता। जिस प्रकार वृक्ष, लता, पौधे तो पुराने ही रहते हैं किन्तु वसन्त ऋतु में नये पल्लव, पत्ते और फूल आ जाने के कारण वे नये दिखते हैं, उसी प्रकार कविता के पुराने विचारों विषयों प्रतीकों आदि को कहीं पल्लवित, कहीं परिवर्तित करनेवाला, कहीं 'नया अर्थ', नया रूप देनेवाला कवि भी मौलिक माना जाता है। और ग़ालिब ने निश्चय ही ऐसा किया है।

भावुक :

मैं भी यही कहनेवाला था पर इन्होंने मुझे अपनी बात ही कहाँ पूरी करने दी। जरा मुलाहिज़ा फर्मायें, ग़ालिब की मौलिकता का। कहते हैं,

करे हैं कत्ल लगावट में तेरा रो देना,
तेरी तरह कोई तेगे निगह को आब तो दे।

प्रेम के आवेग में प्रिया का रो देना प्रेमी को कत्ल किये डाल रहा है जिससे उसका घाव और कारी हो गया है, भला तेरी तरह ऐसा और कौन कर सकता है। जरा ध्यान दीजियेगा कि इस छोटे से शेर में एक ओर प्रेमिका

के हृदय की वेदना का और दूसरी और प्रेमी पर पड़े उसके प्रभाव का वर्णन नये अन्दाज़ से किया गया है।

नुक्ताचीं :

हाँ, यह शेर पुर-असर है, लेकिन इसमें नयी बात क्या है, प्रेमी का कत्ल होना या निगाह को तेग कहना ? क्या ऐसा और लोगों ने नहीं कहा है ?

मर्मज्ञ:

लगता है, आप ही जैसे के लिए ग़ालिब ने यह शेर लिखा है :

नुक्ताचीं है गर्म दिल उसको सुनाये न बने,
क्या बने बात जहाँ बात बनाये न बने।

जहाँ तक आपकी बात का सवाल है प्रेमिका की अदा से प्रेमी के कत्ल होने का बयान तो उर्दू में आम है किन्तु उसके रोने से कत्ल होने का उसकी व्यथा से मर मिटने का ऐसा बयान और खासकर आँसू से आँख रूपी तलवार पर आब देने, पानी चढ़ाने का ऐसा कलात्मक वर्णन निश्चय ही मौलिक है। अच्छा आपने कभी इस पर विचार किया है कि लोगों को ग़ालिब का कलाम इतना मुश्किल क्यों लगता था।

नुक्ताचीं :

क्योंकि वह मुश्किल था। ग़ालिब शुरू-शुरू में उर्दू में लिखते ही कहाँ थे, केवल 'है' या 'आया' जैसे क्रियापदों के आ जाने से फारसी से लदी रचना उर्दू तो नहीं हो जाती। वे मूलतः फारसी के ही कवि थे और जब उन्होंने उर्दू में लिखना शुरू किया तो उसे भी करीब-करीब फारसी ही बना दिया। इसके अलावा उनके विचार भी उलझे हुए थे अतः स्वाभाविक था कि लोग उनकी कविता पर आपत्ति करते।

भावुक :

यह जवाब पूरा नहीं पड़ता। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है यह ठीक है कि ग़ालिब की आरम्भिक कविताओं में फारसी की भरमार है। हाँ उत्तरोत्तर उनकी कविताओं में उर्दू का टकसाली रूप निखरता चला गया है किन्तु मुश्किल बयानी की तोहमत उन पर अन्त तक लगायी जाती रही, तभी तो उन्होंने झल्लाकर कहा था,

या रब वो न समझे हैं न समझेंगे मेरी बात,
दे और दिल उनको जो न दे मुझको जुबाँ और।

मर्मज्ञ :

फारसी की भरमार के कारण ही उनकी कविता समझ में नहीं आती थी, यह कहना तो हास्यास्पद है। जो लोग फारसी कविता समझ लेते थे वे फारसी से लदी उर्दू नहीं समझ सकते थे क्या? फिर समस्या यदि कठिन शब्दों के अर्थ की ही होती तो शब्द-कोष से हल हो जाती। सच तो यह है कि शब्दार्थ समझते हुए भी भावार्थ न पकड़ पाने के कारण ही लोगों ने ग़ालिब की कविता को बेमानी कहा। ग़ालिब के शेरों को बेमानी कहना अपनी अज्ञता का परिचय देना और उस महाकवि का अपमान करना है जिसने दावे के साथ कहा है,

गंजीनए-मानी का तिलिस्म उसको समझिये,
जो लफ्ज कि ग़ालिब मेरे अशआर मे आये।

अर्थात् मेरी कविता में जो शब्द आये उसे अर्थ के भण्डार का तिलिस्म समझना चाहिये। वास्तव में ग़ालिब की कविता के कठिन लगने का कारण कुछ और ही है।

नुक्ताचीं :

जरा मैं भी सुनूँ कि वह कारण क्या है?

मर्मज्ञ :

एक शब्द में ही कहूँ तो वह ग़ालिब की मौलिकता है। ग़ालिब की पूर्ववर्त्ती एवं समसामयिक उर्दू कविता में भावुकता की ही प्रधानता थी। परम्परागत प्रतीकों के माध्यम से उसमें मानव जीवन के एक सीमित क्षेत्र के सरल इकहरे अनुभवों के चित्रण पर ही बल दिया जाता था। ग़ालिब असाधारणता के उपासक थे। उन्होंने प्रायः जीवन की जटिल अनुभूतियों को चुना, उन्हें बुद्धि की कान्ति से चमकाया तथा कल्पना की बुलन्दी और अभि-व्यंजना की वक्रता से सँवार कर अपनी कविताओं में पिरोया। ग़ालिब का केवल 'अन्दाजे बयाँ' ही और नहीं है बहुत बार उनका कथ्य भी सामान्य से भिन्न होता है। उसमें जटिल मनोवृत्तियों का बौद्धिक निरूपण रहता है। इसीलिए सर्व सामान्य काव्य प्रेमी उनकी कविताओं का रसास्वादन सहज ही नहीं कर पाते।

भावुक :

बहुत पते की बात कही है आपने। ग़ालिब को समझने और सराहने के लिये सहृदयता के साथ-साथ विदग्धता भी आवश्यक है। साधारणजनों की बात तो जाने ही दीजिये, कोरे पंडितों को भी चुनौती देते हुए ग़ालिब ने लिखा था,

आगही दामे शुनीदन जिस कदर चाहे बिछाये,
मुद्दआ उन्का है अपने आलमे तकरीर का।

अर्थात् विद्वत्ता चाहे जिस तरह सुनने का जाल क्यों न बिछाये, मेरी रचना के संसार का अभिप्राय उन्का पक्षी के समान है, जो किसी के जाल में नहीं फँसता।

नुक्ताचीं :

किन्तु क्या इससे कविता का उद्देश्य ही विफल नहीं हो जाता? सच तो यह है कि 'मजा कहने का तब है एक कहे और दूसरा समझे'। जो कविता जन साधारण की समझ में ही नहीं आती, उसकी उपयोगिता ही क्या है?

मर्मज्ञ:

आपकी बात में थोड़ी सच्चाई ज़रूर है, किन्तु सब कवि जन-कवि नहीं होते, कुछ ऐसे भी होते हैं जो कवियों के कवि होते हैं। ग़ालिब ऐसे ही हैं। वे अपने समय में ज़ौक के समान लोकप्रिय नहीं हो सके, यह सच है किन्तु यह उससे भी बड़ा सच है कि ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये त्यों-त्यों ग़ालिब के प्रभाव की परिधि बड़ी होती गई और आज उनकी कविता का एक बड़ा अंश उर्दू हिन्दी बोलनेवालों के शिक्षित वर्ग की चेतना का अंश बन गया है। उनकी बोल-चाल को उनकी भाषा को, कुछ हद तक उनके सौन्दर्य बोध को उसने नया संस्कार दिया है। किन्तु यह सब भी गौण है, मुख्य तो वह आनन्द है जो समझदारों को उनकी रचनाओं के पाठ से मिलता रहा है।

भावुक :

मैं तो उनके बयान की शोखी पर सौ जान से फिदा हूँ। औरों की तो बात ही क्या, खुदा से भी छेड़-छाड़ करने में वे नहीं झिझकते थे। ज़रा इस रूबाई के तेवर तो देखिये,

हम गर्चे बने सलाम करनेवाले
करते हैं दिरंग काम करनेवाले

कहते हैं कहीं ख़ुदा से अल्लाह अल्लाह
वो आप हैं सुबह शाम करनेवाले।

कवि कहता है कि यद्यपि हम प्रभु-वन्दना करने लगे हैं तथापि उनके परिकर उनके काम करनेवाले हमारी बात आते ही टालमटोल करने लगते हैं और देर पर देर लगाते चले जाते हैं। हम सोचते हैं चलो सीधे ख़ुदा से ही कहें, लेकिन उनसे क्या कहें, वे आप ही सुबह शाम करनेवाले हैं, सर्व समर्थ हैं, जो उचित समझेंगे अपने आप कर देंगे। इसमें छिपा हुआ एक विनोदपूर्ण अर्थ यह भी है कि ख़ुदा से क्या कहें वे तो खुद सुबह शाम, सुबह शाम करनेवाले यानी टाल-मटोल करनेवाले हैं। इस अर्थ से कैसी रंगीन हो उठी है यह रुबाई।

नुक्ताचीं :

किन्तु यह रंगीनी सतही है, केवल शब्दों तक सीमित! दरबारी मुसाहब की प्रवृत्ति ही इसमें प्रधान हो उठी है, भक्तों के भावात्मक उलाहने की गहराई इसमें कहाँ। दरअसल तसव्वुफ़ अथवा भक्ति दर्शन उनका क्षेत्र ही नहीं है।

भावुक :

लगता है आपने मिर्ज़ा का दीवान पढ़ा ही नहीं है। नहीं तो अंश में पूर्ण को देखनेवाली दृष्टि को ही वास्तविक दृष्टि कहनेवाले की शान में ऐसा न कहते,

क़तरे में दजला दिखाई न दे और जुज़्व में कुल,
खेल लड़कों का हुआ दीदए-बीना न हुआ।

यह शेर तो आपने भी सुना होगा,

इशरते कतरा है दरया में फ़ना हो जाना,
दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।

भला जो यह मानता हो कि बूँद रूपी आत्मा को समुद्र रूपी परमात्मा में विलीन होकर ही परमशांति मिल सकती है, उसके लिए यह कैसे कहा जा सकता है कि भक्ति और दर्शन उसका क्षेत्र नहीं है।

नुक्ताचीं :

सवाल केवल मानने का नहीं, जीवन में उतारने का है, क्योंकि तसव्वुफ़ या भक्ति साधना है, जीवन व्यापी साधना, केवल शब्दों का खेल नहीं। मिर्ज़ा

के बारे में आपसे ज्यादा जानने का दावा तो मैं नहीं कर सकता, किन्तु उनका एक शेर याद आ रहा है, उसे सुनाने की इजाजत चाहूँगा,

जानता हूँ सवाबे ताअतो ज़ुह्द
पर तबीयत इधर नहीं आती ।

जो व्यक्ति खुद यह कहता हो कि भक्ति और वैराग्य के पुण्य का फल तो मैं जानता हूँ पर इधर तबीयत आती ही नहीं, उसे भी भक्तों की कोटि में बैठाना आपके लिए ही सम्भव है ।

मर्मज्ञ :

मैं समझता हूँ कि इस बार आप सच्चाई के ज्यादा करीब हैं । मुझे भी लगता है कि ग़ालिब के काव्य की दार्शनिकता में बुद्धि-विलास अधिक है, अनुभूति कम ! विद्वानों की सभा में उनकी ऐसी रचनाओं का सम्मान दार्शनिक सूक्ति के रूप में तो हो सकता है पर वे भक्तों के जीवन का सम्बल नहीं बन सकतो । किन्तु क्या यह जरूरी है कि किसी कवि के गौण पक्ष की कमियों को इतना तूल दिया जाये कि उसका वास्तविक रूप उभर ही न पाये, ग़ालिब मूलतः मानवीय प्रेम और वेदना के कवि हैं उनकी उपलब्धियों का विवेचन करते समय उन्हीं का विशेष विचार करना उचित नहीं है क्या ?

भावुक :

प्रेम··· मानव जीवन का सबसे बड़ा वरदान और शायद सबसे बड़ा अभिशाप भी है । ग़ालिब ने इस विरोधाभासी सत्य को जिस कुशलता से एक ही शेर में व्यक्त किया है, वह इस बात का असन्दिग्ध प्रमाण है कि इसके मर्म तक पहुँच चुके थे, कैसा लाजवाब शेर है ।

इश्क़ से तबीयत ने जीस्त का मजा पाया,
दर्द की दवा पायी दर्द बे दवा पाया ।

प्रेम से मनुष्य को जीवन के आनन्द, जीवन की चरितार्थता का अनुभव होता है, जीवन के खालीपन···अकेलेपन के दर्द से छुटकारा मिलता है, पर हाँ उसके मीठे दर्द की कोई दवा नहीं है किन्तु बकौले ग़ालिब :

'तेरा बीमार बुरा क्या है, जो अच्छा न हुआ ।'

नुक्ताचीं :

बहुत खूब ! जी चाहता है कि ग़ालिब की भाषा में ही कहूँ ।

'लो हम मरीज़े इश्क के तीमारदार हैं'

लेकिन जाने दीजिये, अभी तो यह बताइये कि प्रेम की सही तारीफ़ यही है :

'कहते हैं जिसको इश्क़ ख़लल है दिमाग का।'

यह मिसरा भी तो शायद ग़ालिब का ही है।

भावुक :

आप बिलकुल हृदयहीन व्यक्ति मालूम पड़ते हैं। प्रेम की महिमा इन व्यंग्यों से घट नहीं सकती, आपने इसकी पहली पंक्ति ही काट दी :

'बुलबुल के कारोबार पे है खन्दहायगुल'

बुलबुल रूपी प्रेमी के व्यवहार पर फूल रूपी संगदिल प्रेमिका का मुस्कुरा कर कहना कि जिसे प्रेम कहते हैं वह माथे की खराबी है, प्रेम की तारीफ नहीं, निष्ठुर प्रेमिका की तारीफ है। इसी का जवाब है ग़ालिब का यह शेर :

इश्क़ मुझको नहीं वहशत ही सही,
मेरी वहशत तेरी शोहरत ही सही।

हाँ, यह भी ठीक है कि प्रेम के उन्माद में दीनोदुनिया की खबर की बबत ही क्या अपनी भी खबर नहीं रहती। कितना सादा पर कितना प्यारा शेर है मिर्ज़ा का।

हम वहाँ हैं जहाँ से हमको भी,
कुछ हमारी ख़बर नहीं आती।

लेकिन आप जैसे व्यावहारिक व्यक्तियों के लिए तो यह दिमाग का खलल ही है।

नुक्ताचीं :

इसका मैं क्या करूँ कि मेरी निगाहें तस्वीर का वह पहलू भी देखती है, जिसे आप जानबूझ कर नज़रन्दाज़ कर देना चाहते हैं, मुझे गालिब का प्रेम-वर्णन बहुत दूर तक रूढ़िबद्ध और कृत्रिम लगता है। ज़रा गौर फर्माइये कि ग़ालिब की प्रेमिका का कौन-सा रूप इस शेर में उभरा है।

रात के वक्त मय पिये, साथ रक़ीब को लिये,
आये वो याँ ख़ुदा करे पर न करे ख़ुदा कि यूँ।

इससे उदात्त प्रेम का अनुभव आपको हो तो हो, मुझे तो नहीं होता। जब ग़ालिब का प्रेमी कहता है :

ज़हर मिलता ही नहीं मुझको सितमगर वर्ना,
क्या क़सम है तेरी मिलने की कि खा भी न सकूँ।

तो वह भी जानता है, और मैं भी समझता हूँ कि वह सच्चाई का इज़हार नहीं कर रहा, केवल बातें बना रहा है। इसे ही सच्चे प्रेम की कविता में कैसे मान लूँ।

मर्मज्ञ :

खास कर तब, जब कि आपके यहाँ बात पर जुबान कटती हो। पर आप यह क्यों भूल जाते हैं कि हर व्यक्ति परम्परा और परिवेश से बहुत कुछ बँधा होता है और ग़ालिब भी उसके अपवाद नहीं हैं। जिन स्थितियों की ओर आपने अभी इशारा किया है उनके लिए ग़ालिब से अधिक उत्तरदायी है तत्कालीन पतनशील सामन्ती वातावरण एवं उर्दू की वह रुग्ण रोमानी काव्य-धारा जिसका कसकर विरोध ग़ालिब के ही शिष्य हाली ने अपने 'मुकद्दमाओ शेरो शायरी' नामक ग्रन्थ में किया है। अतः गालिब की रचनाओं में ऐसी विसंगतियों का आ जाना अस्वाभाविक नहीं है। पर तत्त्वदर्शी दृष्टि इन्हीं से उलझी नहीं रह जा सकती, इनकी उपेक्षा करके वह मूलगामी विशिष्टता को पहचान लेती है प्रासंगिक मस्ती, चुहल और छेड़छाड़ के बावजूद ग़ालिब की प्रेम सम्बन्धी मान्यता बहुत ऊंचे स्तर की है। उनका विश्वास है कि प्रेम पात्र से प्रेमालाप करने के लिए यही जीभ और मुंह काफी नहीं हैं, ग़ालिब के शब्दों में :

जब तक दहाने ज़ख्म न पैदा करे कोई।
मुश्किल कि तुझसे राहे सखुन वा करे कोई।

कहने का मतलब यह है कि जब तक दिल में प्रेम की तलवार से घाव नहीं हो जाता तब तक सच्चा प्रेमालाप हो ही नहीं सकता। इसी तरह प्रेम में धीरज की विवशता और मिलन की आकुल इच्छा के द्वन्द्व का और उस समय प्रेमी हृदय की विकलता का बहुत सच्चा रूप उभारा है मिर्ज़ा ने इस शेर में :

आशिकी सब्रतलब और तमन्ना बेताब,
दिल का क्या रंग करूं खुने जिगर होने तक।

भावुक :

प्रेम की वेदना का ऐसा करुण चित्रण कहीं और भी देखा है आपने :

> दिल ही तो है न संगो खिश्त दर्द से भर न आये क्यों,
> रोयेंगे हम हजार बार कोई हमें सताये क्यों।

कहने की अदा पर ध्यान दीजियेगा, आखिर हमारा दिल ही तो है, कोई ईंट पत्थर तो नहीं, किसी के सताने पर वह दर्द से क्यों न भर आये, कोई सतायेगा तो हम जरूर हजार बार रोयेंगे, क्या हमें रोने का भी अधिकार नहीं। और प्रेमी की वह बेक़रारी :

> दिले नादाँ तुझे हुआ क्या है,
> आखिर इस दर्द की दवा क्या है,
> हम है मुश्ताक़ और वो बेज़ार,
> या इलाही य' माजरा क्या है।

नुक्ताचीं :

माजरा तो ठीक-ठीक मेरी भी समझ में नहीं आ रहा है कि क्या है। मुझे तो लगता है कि जैसे मिर्ज़ा रोज़ा रखकर रोजे को बहलाये रखते थे, कभी पानी पीकर, कभी हुक्का पीकर, कभी कोई टुकड़ा रोटी का खाकर वैसे ही ग़मगीन होने पर दिल को बहलाये रखते थे, यह यक़ीन दिलाकर कि यह ग़म इश्क का है क्योंकि वे बखूबी जानते थे कि :

> 'ग़मे इश्क जो न होता, ग़मे रोज़गार होता'

भावुक :

आपने व्यंग्य से ही सही अनजाने ही ग़ालिब की आधारभूत मान्यता की ओर संकेत कर दिया है। यह मान्यता उन्होंने किताबों से उधार नहीं ली थी, अपने व्यक्तिगत और सामाजिक अनुभवों से उपार्जित की थी। जिन्दगी की ठोकरें खाकर वे मानने लगे थे कि जीवन की क़ैद और दुःख की क़ैद असल में दोनों एक ही हैं और मौत से पहले आदमी को ग़म से छुटकारा नहीं मिल सकता। उनका शेर है :

> क़ैदे हयात और बन्दे ग़म अस्ल में दोनों एक हैं,
> मौत से पहले आदमी ग़म से निजात पाये क्यों।

यह नहीं कि वे खुशी चाहते न थे पर यदि वह नहीं ही मिले तो मौत की चुप्पी की तुलना में ग़म के संगीत को ही गनीमत समझते थे।

नग़महाए ग़म को हो ऐ दिल ग़नीमत जानिये,
बेसदा हो जायगा ये साज़े हस्ती एक दिन ।

नुक्ताचीं :

किन्तु क्या यह निराशावाद नहीं है ? ग़म से समझौता कर लेने की यह भावना क्या आदमी को कमज़ोर नहीं बनाती ? व्यक्तिगत और सामाजिक दुःख को झेलने और स्थिति को बदलने की प्रेरणा देने के स्थान पर :

रहिये अब ऐसी जगह चलकर जहाँ कोई न हो,
हमसखुन कोई न हो और हमज़ुबाँ कोई न हो ।

जैसी पलायनवादी ग़ज़ल लिखने वाले को महान् कवि कैसे माना जा सकता है ।

मर्मज्ञ :

मैं आपसे सहमत हूँ कि संघर्षशील आशावाद बड़ी चीज है किन्तु कवि के लिए असली बात है जीवन से उपजी अनुभूति । मंगनी माँग लिये गये बड़े-बड़े सिद्धांतों की दुहाई देनेवाले कवि को भार से अधिक महत्व नहीं मिल सकता, जब कि समसामयिक जीवन में व्याप्त निराशा, वेदना और घुटन को ईमानदारी से कलात्मक अभिव्यक्ति देने वाला कवि अस्त होते हुए सूरज की अपार करुणा को साकार कर देने वाले के समान ही महान् है । हाँ यदि वह आने वाली रात के अंधेरे को चीर कर शाश्वत ज्योति के दर्शन करने और कराने में भी समर्थ हो तो वह ऋषि बन जायगा । ग़ालिब ऋषि नहीं थे किन्तु उनकी कविता में पीड़ा का स्वर सच्चा है ।

भावुक :

पीड़ा का स्वर सच्चा क्यों न हो ! उनका सारा जीवन जो दुखों की— असफलताओं की कहानी ही था । तभी तो जीवन के अन्तिम दिन उन्होंने मौत की प्रतीक्षा में ही नहीं, उसकी आरज़ू में काटे थे । कितना करुण शेर है :

मरते हैं आरज़ू में मरने की
मौत आती है, पर नहीं आती ।

वे इतने निराश हो चुके थे कि मरने की आशा को ही अपना सम्बल मान बैठे थे । उनका विश्वास था कि बेशुमार हसरतों के दाग़ों और बहत्तर पत-झड़ों की उदासी से मुर्झाई उनकी हस्ती के ग़म का इलाज मौत ही कर सकती थी ।

नुक्ताचीं :

मृत्युकामना को आदर्श मानना आपको ही मुबारक हो। मुझे तो इसमें करुणा उगाहने की रुग्ण प्रवृत्ति की ही झलक दिखती है।

भावुक :

जी नहीं, करुणा उगाहना ग़ालिब के स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल था। स्मरण रहे ये रचनायें उसी ग़ालिब की हैं जो कभी जीवन को भरपूर प्यार करता था, जो बहुत ही खुशदिल और खुशमिजाज था, जिसके दिलचस्प लतीफे आज भी शौक़ से कहे और सुने जाते हैं : जो इतना स्वाभिमानी था कि समुचित सम्मान न होने के कारण दिल्ली कॉलेज की मिली हुई अध्यापकी को अस्वीकार कर आया, लखनऊ के नवाब गाजीउद्दीन से मिलने नहीं गया। जिसका कौल था :

> बन्दगी में भी वो आज़ाद औ खुदबीं है कि हम,
> उल्टे फिर आये दरे काबा अगर वा न हुआ।

अर्थात् वन्दना में भी हम इतने स्वच्छन्द और आत्मगौरवपूर्ण हैं कि यदि हम काबे भी जायँ और वहाँ का द्वार हमारे लिए खुला न हो तो उल्टे पाँव लौट आयें। ऐसा व्यक्ति करुणा उगाहने के लिए पीड़ा की कवितायें नहीं लिखेगा, उतना तो आपको भी मान लेना चाहिए।

मर्मज्ञ :

और फिर करुणा उगाहने के लिए लिखी गयी कविता निष्प्राण होती है जब कि गालिब की ये ग़मगीन रचनाएं अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं। इनकी मार्मिकता कवि की वैयक्तिक एवं सामाजिक अनुभूति की सच्चाई के कारण है। इनमें इनकी व्यक्तिगत पीड़ा ही नहीं, महान् मुग़ल साम्राज्य के बिखर जाने की करुण ट्रैजेडी की पीड़ा भी मुखरित हुई है। पराजित जाति की मर्मन्तुद वेदना व्यक्तिगत आधार में प्रतिफलित हुई, क्या इसीलिए उसे आप नकार देंगे ? जब वे कहते हैं,

> न गुले नग़मा हूँ, न परदये साज़,
> मैं हूँ अपनी शिकस्त की आवाज़।

यानी, न मैं गीत का फूल हूँ, न साज़ का पर्दा, मैं अपनी शिकस्त की.... पराजय की आवाज हूँ तो वे अपने पूरे समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। ग़ालिब की कला बहुत बाँकी है, उनकी प्रेमानुभूति गहरी है किन्तु महान्

बनाती है, मर्मबेधी पीड़ा की यह अभिव्यक्ति ही, जो पत्थर जैसे हृदय में भी करुणा जगाकर उसे इन्सान बनाने में समर्थ है। ग़ालिब अपनी इस शक्ति को पहचानते थे, तभी उन्होंने कहा था :

ज़ुल्म है गर न दो सुखन की दाद,
क़हर है गर करो न मुझको प्यार।

× × × × × × × × ×

वाचिका :

अरे इनकी बातें सुनते सुनते तो ऐसा लगता रहा जैसे ग़ालिब एक न हों, तीन हों, जिनमें से दो तो एकदम एक दूसरे के विपरीत ही हों।

वाचक :

इसीलिए तो मैंने कहा था कि मिर्ज़ा का शेर 'पूछते हैं वो कि ग़ालिब कौन है' आज भी एक दृष्टि से चुनौती बना खड़ा है।

वाचिका :

तो हम इनमें से ग़ालिब की किस तस्वीर को सही मानें, मर्मज्ञ की न !

वाचक :

कोई जरूरी तो नहीं है, ऐसा करना। हज़रत मूसा जब तूर पहाड़ पर गये तो खुदा के प्रकाश को झेल पाने के कारण बेहोश हो गये, उनके दर्शन न कर सके। मिर्ज़ा ने उनके अनुभव को अन्तिम मानने से इन्कार करते हुए कहा था :

क्या फ़र्ज़ है कि सबको मिले एक सा जवाब,
आओ न हम भी सैर करें कोहेनूर की।

इसी तरह क्यों न हम भी खुद ग़ालिब को पढ़े, उन्हें खुद समझने की कोशिश करें। बहुत संभव है कि हमारी तस्वीर औरों से जुदा और ज्यादा सही हो।

१२.

स्वाधीनता के बाद हिन्दी-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

काल के अखंड प्रवाह में किसी महान घटना को सीमा चिह्न बनाकर अपनी प्रगति का सर्वेक्षण करते रहना अत्यन्त स्वाभाविक है। निश्चय ही आधुनिक भारतीय इतिहास में स्वाधीनता ऐसी ही महान् घटना है, जिसे आरम्भिक विन्दु मानकर बाद की विकास रेखाओं को अंकित करना समीचीन जान पड़ता है।

एक बहुत प्रचलित उक्ति है 'साहित्य समाज का दर्पण है'। इस अत्यन्त सरलीकृत वक्तव्य के अभिधार्थ के आधार पर बहुत से लोग छोटी बड़ी समसामयिक घटनाओं का प्रतिबिम्ब साहित्य में ढूँढ़ते फिरते हैं और उन घटनाओं का मनोनुकूल साहित्यिक साक्ष्य न पाकर फतवा देने लगते हैं कि समाज से साहित्य कट गया है। उन्हें समझना चाहिए कि समसामयिक जीवन में जो कुछ घटता है, साहित्य में उसका तात्कालिक प्रतिफलन देखने की चेष्टा बहुत कुछ सूरदास के बालकृष्ण की उस चेष्टा के समान है जो दूध पीते न पीते अपनी चोटी को टटोल कर देख लेना चाहते हैं कि वह कितनी बढ़ गयी! सामयिक जनजीवन की घटनाओं का (विशेष कर ऐसी घटनाओं का, जिनसे साहित्यकार का सीधा व्यक्तिगत रागात्मक सम्बन्ध नहीं बन पाया है) साहित्य में सद्यः प्रतिफलन बहुत बार सतही हो जाता है। अपेक्षाकृत रूप से सफल कृतियों में भी अनुभूति का उष्ण स्पर्श भले हो किन्तु प्रायः संयोजित समग्र की अन्वित चेतना नहीं रहती, जिसके अभाव में कोई साहित्यिक कृति महान् नहीं हो सकती। फिर राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवर्तन लानेवाली घटनाएँ साहित्य में सीधे-सीधे आयें, यह अनिवार्य तो नहीं ही है, आवश्यक भी नहीं है। जिस प्रकार भोजन शरीर को पुष्ट तो करता है किन्तु शरीर की अपनी पाचन प्रक्रिया के अनुसार ही; उसी प्रकार ये घटनाएँ परिचित होकर जब संस्कार बन जाती हैं तभी उनके ऊपर बड़ी साहित्यिक रचना संभव हो पाती हैं। अतः हम स्वाधीनता या उसके बाद की बड़ी-बड़ी राष्ट्रीय घटनाओं का साहित्यिक उपलब्धियों से समीकरण बैठाने नहीं जा रहे हैं। हमारी चेष्टा होगी कि हम उन प्रवृत्तियों

को उपस्थित करें जिन्होंने इस काल की साहित्य-सर्जना को गति और आकार दिया है।

इसके लिए आवश्यक है कि हम स्वाधीनता के बाद भारतीय चेतना में अपनी पूर्व स्थिति से आये अन्तर को समझ लें। स्वाधीनता के पूर्व भारत की प्रमुख प्रेरक राष्ट्रीय इच्छा थी स्वाधीनता पाने की। स्वभावतः अपनी संस्कृति के प्रति गहरी भक्ति थी, स्वाधीनता के आन्दोलन के लिए बलिदान देने एवं कष्ट वरण करने की भावना की प्रधानता थी।

स्वाधीनता के बाद राष्ट्र-निर्माण की लगन ही हमारी राष्ट्रीय प्रवृत्ति होनी चाहिये थी किन्तु दुर्भाग्य से अपेक्षित मात्रा में ऐसा नहीं हो सका। राष्ट्रनिर्माण हो, इस इच्छा को क्रिया में परिवर्तित करने के लिए व्यक्तिगत रूप से मुझे त्याग करना चाहिए यह भावना सामान्य जन में नहीं पनपी। राष्ट्रनिर्माण के कार्य को सरकारी जिम्मेदारी मान लिया गया। यह दुःखद सत्य है कि जनता का सक्रिय अंश ग्रहण उसमें बहुत कम रहा। पूँजीवादी या समाजवादी विकास-यात्रा के लिए अनिवार्य राष्ट्रीय श्रम एवं संयम के बिना ही उनके फलों को प्राप्त करने की बालिश इच्छा ने नेतृवर्ग और जनता दोनों को सम्मोहित सा कर दिया। उधार के पैसे, उधार के जीवन-दर्शन और उधार की विशेषज्ञता के आधार पर हमारी पंचवर्षीय योजनाएँ बनीं। सम्मोहित जनमानस स्वप्न देखने लगा कि अब शीघ्र हमारे सभी दुःख-दर्द दूर होंगे, हमारा जीवन-मान भी शीघ्र ही पश्चिमी देशों के जीवन-मान की तरह हो जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं हुआ, होना सम्भव ही नहीं था। सबसे अधिक सपने मध्यवर्ग ने देखे थे अतः सबसे अधिक कटुता भी उसी में आयी। और साहित्यकार मुख्यतः इसी वर्ग की देन है!

स्वाधीनता के पहले राष्ट्रीय उग्र भावना के कारण पश्चिमी आचार, विचार, संस्कार पर अंकुश था। स्वाधीनता के बाद अन्तर्राष्ट्रीयता और आधुनिकता के नाम पर उसकी निवृत्ति हो गयी। भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन तो बाद में हुआ, भारतीय संस्कृति का अवमूल्यन स्वतन्त्रता के बाद तुरन्त हो गया। भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के अन्वेषण, स्वीकरण और विकास के स्थान पर उन्हें पिछड़ा प्रतिगामी करार देकर उनके प्रति अश्रद्धा की भावना फैलायी गयी। अन्तर्राष्ट्रीयता और आधुनिकता के स्वस्थ तत्त्व निश्चय ही काम्य हैं किन्तु इस तथ्य की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया कि जब हम भारतीय बने रहकर ही अन्तर्राष्ट्रीय और आधुनिक बनेंगे, तभी राष्ट्र की वास्तविक

शक्ति जाग पायेगी। आज हुआ यह है कि उच्च मध्य वर्ग और उच्च वर्ग के बच्चे अंग्रेजी माध्यम के (अधिकतर ईसाई मिशनरी) स्कूल-कालेजों में पढ़ते हैं, आधुनिकता के उदार बौद्धिक एवं सांस्कृतिक तत्त्व कितनी मात्रा में ग्रहण करते हैं यह कहना तो मुश्किल है किन्तु भारतीय परम्परा एवं रीति-नीति के प्रति अवज्ञा एवं पश्चिमी सभ्यता के सपाट अन्धे अनुकरण के द्वारा अपना एवं अपने परिवारों का आधुनिकीकरण अवश्य करते जा रहे हैं जिसकी अभिव्यक्ति किं भूत किमाकार वेश-भूषा, उच्छृङ्खल भोगपरकव्यवहार, ट्विस्ट, रौकएन रोल तथा क्लबों एवं रेस्तराओं के कोलाहलपूर्ण किन्तु अन्तःसारशून्य जीवन में हो रही है। अवचेतन मन में भरे हुए भारतीय संस्कार और चेतन मनमें उनके प्रति अवज्ञा ने जहाँ उनके व्यक्तित्व को विभाजित किया है वहीं पश्चिम की श्रेष्ठता के आतंक ने उनमें हीनता की भावना भी भरी है। इसका सम्यक् प्रतिविधान करने के लिए स्वाधीनता के बाद कोई बड़ी प्रचेष्टा नहीं हुई है।

हमारे बुद्धिजीवी विश्व-चेतना के वैज्ञानिक, वैचारिक, एवं भाविक स्तरों तक पहुँचने की चेष्टा में बहुत आगे बढ़ गये हैं। उनकी तुलना में जनसाधारण की प्रगति बहुत मन्द है। परिणाम यह है कि आज जनता और बुद्धि-जीवियों की चिन्तनधारा और अनुभूति में बहुत बड़ा विच्छेद आ गया है। भारतीय भाषाओं में ज्ञानविज्ञान के नवीनतम विकासों की सूचक पुस्तकों का करीब-करीब अभाव होने के कारण हमारी साधारण शिक्षित जनता का भी बहुत बड़ा भाग उनसे अपरिचित ही है। इस विच्छेद के कारण बुद्धिजीवी जन-साधारण की आत्मीयता और श्रद्धा पाने में सफल नहीं हो रहे हैं।

बुद्धिजीवी अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तरों पर हुए मोहभंग की पीड़ा भी झेल रहे हैं। पश्चिमी और साम्यवादी राष्ट्रों द्वारा जनतन्त्र और साम्यवाद के पावन सिद्धान्तों की आड़ में अपने-अपने राष्ट्रीय या दलीय स्वार्थों की पूर्ति के लिए किये जानेवाले अमानवीय क्रिया-कलाप, तृतीय विश्वयुद्ध में समस्त मानव सभ्यता के निश्चिह्न होने की घोरतर आशंका, किसी तेजस्वी नवीन आदर्शवादी दृष्टि का अभाव यदि अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर उनके मोहभंग के कारण है तो आदर्शों का विघटन, राष्ट्रीय नेतृत्व की दुर्बलता, अयोग्यता, देश में व्याप्त भयंकर भ्रष्टाचार, गरीबी, बेकारी और उससे मुक्ति पाने की आशु संभावना का न होना राष्ट्रीय स्तरों पर उनकी कुंठा के कारण हैं।

यह नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तरों पर आशा और साहस के साथ आगे बढ़ने की प्रेरणा देने वाले तत्त्व हों ही नहीं। अन्तरिक्ष विजय, युद्ध

के विरुद्ध व्यापक जनमत, सहग्रस्तित्व की चेतना, उपनिवेशों की स्वतन्त्रता, विकसित राष्ट्रों का ग्रविकसित राष्ट्रों से ग्रार्थिक सहयोग ग्रादि यदि ग्रन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ग्राशा की किरणें हैं तो राष्ट्रीय क्षेत्र में लोकतन्त्र की जड़ों का दृढ़ होना, भूदान ग्रान्दोलन, चीन ग्रौर पाकिस्तान से होने वाले युद्धों में साक्षात्कृत राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की चेतना ग्रादि ऐसे ही ग्राश्वस्त करने वाले तत्त्व हैं। किन्तु फिर भी यह मानना चाहिए कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता से जागनेवाली ग्रभिलाषायें, ग्राकांक्षायें बड़े पैमाने पर ग्रतृप्त रहने के कारण इस समय देश में विक्षोभ ग्रौर कुंठा ग्रधिक व्याप्त है।

इस राष्ट्रीय मनःस्थिति को दृष्टिगत रखकर ही हिन्दी के स्वातंत्र्योत्तर साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों की विवेचना सम्भव है। स्वतन्त्रता के पूर्व हिन्दी साहित्य में परिलक्षित होने वाली प्रमुख प्रवृत्तियाँ थीं (क) राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृत्ति (ख) स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति (ग) प्रगतिवादी प्रवृत्ति (घ) प्रयोगशील प्रवृत्ति। स्वतन्त्रता के बाद का हिन्दी साहित्य मुख्यतः इन्हीं प्रवृत्तियों के संकोच, विस्तार एवं रूपान्तर के कारण ग्राकार ग्रहण करता रहा है। ग्रतः इन प्रवृत्तियों के क्रमिक विश्लेषण द्वारा हम ग्राज के हिन्दी साहित्य को समझने की दृष्टि पा सकते हैं।

राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृत्ति—वास्तव में किसी भी देश के साहित्य के मूलाधार के रूप में उस देश की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना ही रहती है। हाँ, कभी यह ग्रत्यन्त मुखर हो साहित्य को प्रत्यक्ष प्रेरणा देती है, कभी नेपथ्य से विविध साहित्यिक ग्रान्दोलनों को ग्रप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती रहती है। हिन्दी साहित्य में पुनर्जागरण काल से ग्रारम्भ कर स्वाधीनता की प्राप्ति तक इसका प्रभाव ग्रसंदिग्ध रूप से सर्वाधिक था। न केवल पुनरुत्थानवादी, गाँधीवादी, राष्ट्रीयतावादी साहित्य में ही इसकी प्रेरक भूमिका प्रत्यक्ष होती है, बल्कि छायावादी रचनाग्रों में भी देशभक्ति एवं सांस्कृतिक मूल्यों के समावेश में इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा थी। प्रगतिशील ग्रौर प्रयोगशील साहित्य को भी इसका सम्बल प्राप्त था यद्यपि उनकी दृष्टि ग्रन्तर्राष्ट्रीय प्रेरणा स्रोतों की ग्रोर ग्रधिक लगी हुई थी।

पीढ़ियों की दृष्टि से भी यदि विचार किया जाय तो स्वाधीनता के समय ग्रौर उसके बाद सृजनरत हिन्दी साहित्यकारों में सबसे वरिष्ठ पीढ़ी के साहित्यकार इसी प्रवृत्ति के थे। उनमें से कुछ ने राष्ट्रीय मुक्ति ग्रांदोलन में प्रत्यक्ष भाग लिया था कुछ उसके पार्श्ववर्ती सहचर थे। स्वाधीनता के बाद इस प्रवृत्ति

ने तीन प्रकार की साहित्यिक कृतियाँ प्रस्तुत कीं, पहले प्रकार की तो वे जिनमें प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष उद्घाटित किये गए थे, दूसरे प्रकार की वे जिनमें भारतीय और पश्चिमी, प्राचीन और अर्वाचीन जीवनमूल्यों का समन्वय करने का प्रयास किया गया था। तीसरे प्रकार की रचनाओं में समसामयिक घटनाओं एवं प्रश्नों को आधार बनाया गया था। पहले प्रकार की रचनाओं का उद्देश्य स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन और साहित्य को अपनी परम्परा से अनुप्राणित करना भी था। इस कोटि की उल्लेख कृतियों में मैथिलीशरणगुप्तकृत जयभारत एवं विष्णुप्रिया, सियारामशरण गुप्तकृत गोपिका, महादेवीवर्माकृत सप्तपर्णा आदि काव्य ग्रन्थ लक्ष्मीनारायण मिश्रकृत वत्सराज, वितस्ता की लहरें, सेठ गोविन्ददास एवं हरिकृष्ण प्रेमी के नाट्यग्रंथ तथा वृन्दावनलालवर्माकृत मृगनयनी, माधवजी सिन्धिया, चतुरसेन शास्त्रीकृत वैशाली की नगर वधू, जय सोमनाथ जैसे उपन्यास ग्रंथ आते हैं।

दूसरे प्रकार की रचनाएं अधिक विचार-प्रधान एवं संश्लेषणात्मक हैं, स्वभावत: उनकी संख्या विरल है। अरविन्द, राधाकृष्णन् एवं विनोबा के चिन्तन ने इनके लिए आधारभूमि प्रस्तुत की है। मैथिली शरण गुप्तकृत पृथिवी-पुत्र, सुमित्रानन्दन पन्तकृत उत्तरा, सौवर्ण एवं सर्वोपरि लोकायतन, बच्चनकृत दो चट्टानें जैसे काव्य ग्रंथ जैनेन्द्रकृत जयवर्धन जैसे उपन्यास ही इस धारा का सबल प्रतिनिधित्व करते हैं। आलोचना के क्षेत्र में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सौन्दर्य शास्त्र पर एवं डा० नगेन्द्र ने रस सिद्धान्त पर इस दृष्टि से मौलिक कार्य किया है।

तीसरे प्रकार की रचनाओं की संख्या बहुत अधिक है किन्तु उनमें स्थायी साहित्यिक मूल्य अपेक्षाकृत रूप से कम हैं। स्वाधीनता की प्राप्ति, देश-विभाजन, महात्मा गांधी के बलिदान, भूदान आंदोलन, चीन और पाकिस्तान से हुए युद्ध जैसी राष्ट्रीय जीवन को गम्भीर रूप से प्रभावित करनेवाली घटनाओं तथा सामयिक समस्याओं पर लिखा गया साहित्य परिमाण में अत्यधिक होते हुए भी गुण की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट नहीं है। मेरा विश्वास है कि इनमें से कुछ घटनाओं पर भविष्य में अधिक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृतियाँ निर्मित होंगी। युद्धकाव्य में दिनकर की 'परशुराम की प्रतीक्षा' ही ऐसी कृति है जिसमें राष्ट्रीय क्रोध एवं प्रतिशोध के संकल्प की सम्यक् रूप से अभिव्यक्ति हुई है।

राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृत्ति की प्रेरणा से रचित साहित्य में कई महत्त्वपूर्ण एवं स्थायी मूल्यों से युक्त उत्कृष्ट कृतियों के बावजूद यह मानना पड़ता है कि

ये बुजुर्ग साहित्यकार वर्तमान के जीवन्त प्रश्नों से अपेक्षाकृत रूप से कम उलझे हैं। भारतीय संस्कृति के स्वस्थ तत्वों के आधार पर या उसका पश्चिमी संस्कृति से समन्वय कर भविष्य की रचना की राष्ट्रीय चेतना ही इनका प्रमुख प्रेरक तत्व है किन्तु नये साहित्य को प्रभावित कर पाने में या नये साहित्यकारों की दृष्टि में परिवर्तन लाने में इनका प्रयास विशेष सफल नहीं हो सका। अपनी राष्ट्रीयता और संस्कृति के प्रति गौरवबोध का नये साहित्यकारों में नितान्त अभाव हो गया हो, ऐसा भी नहीं है, किन्तु यह सही है कि उन्होंने समसामयिक जीवन की निर्मम समस्याओं का विवेचन राष्ट्रीयता और संस्कृति के प्रति भावात्मक लगाव की रंजित दृष्टि के स्थान पर अधिक यथार्थवादी एवं बौद्धिक दृष्टि से करना चाहा है। वैसे अपना सांस्कृतिक आधार पूर्णरूपेण त्याग देना किसी के लिए सम्भव नहीं है, अपनी संस्कृति का विरोध करनेवालों के लिये भी नहीं, अतः अन्य प्रवृत्तियों से परिचालित साहित्यकारों की कृतियों में भी राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा के तत्व मिल सकते हैं किन्तु यह सत्य हमें स्वीकार कर लेना चाहिए कि हिन्दी साहित्य के नव सृजन में यह धारा अन्तःसलिला फल्गु की तरह अन्तर्निहित है, साहित्य की प्रमुख धारा के रूप में कार्यशील नहीं।

स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति—रूढ़िविरोधी मानवतावादी मुक्त वैयक्तिक चेतना की वाहिका के रूप में यह प्रवृत्ति छायावादी कहे जाने वाले साहित्य में व्याप्त रही। न केवल साहित्यिक वस्तु में बल्कि अभिव्यंजना शैली में भी नवीनता लाने का श्रेय इसे प्राप्त है। छायावाद की सुकुमार प्रेमानुभूति एवं प्रकृति प्रीति पर भी इसकी छाप अत्यन्त स्पष्ट है। उत्तर छायावादियों की मस्ती भरी मांसल प्रणय भावना, भावुकता, आवेगमयी सरल अभिव्यंजना भी इसी प्रवृत्ति की देन है। स्वाधीनता के बाद भी सीमित रूप से यह प्रवृति सक्रिय रही एवं लोकप्रिय साहित्य में अब भी इसकी प्रधानता मानी जा सकती है। स्वाधीनता के बाद की इस प्रवृत्ति की उत्कृष्ट उपलब्धियों के रूप में बच्चन की मिलन यामिनी तथा प्रणय पत्रिका, भगवतीचरण वर्मा की रंगों से मोह, दिनकर की उर्वशी जैसी काव्य कृतियाँ, भगवती बाबू कृत आखिरी दाँव, रेखा, धर्मवीर भारतीकृत गुनाहों का देवता जैसे उपन्यासों की गणना की जा सकती है। अपेक्षाकृत रूप से नये साहित्यकारों में गीतकार ही इस प्रवृत्ति को पूर्णतः अपनाकर चले और सम्भवतः इसकी सस्ती अभिव्यंजना के कारण ही आधुनिक कवियों ने गीत को महत्वपूर्ण काव्य विधा मानने से इन्कार कर दिया। यह सन्तोष की बात है कि नवगीत के रूप में उसकी पुनः प्रतिष्ठा की चेष्टा चल रही है।

आज के समस्याबहुल यथार्थवादी युग में अपने दुर्बल दार्शनिक बौद्धिक आधार के कारण यह प्रवृत्ति गंभीर विचारकों एवं कृतिकारों द्वारा अधिक समादृत नहीं हो सकी। असंगठित वैयक्तिक प्रयासों के रूप में क्रियाशील होने के कारण भी यह प्रवृत्ति संगठित साहित्यिक प्रवृत्तियों के आक्रमण नहीं झेल सकी। साहित्य में भावुकता के अवमूल्यन एवं रूढ़िविरोधिता तथा मानवतावादी भावना की अन्य वैचारिक आधारों पर स्थापना के फलस्वरूप यह प्रवृत्ति अपनी प्रेरक शक्तियों से वंचित हो गयी। फिर भी यह सच है कि बहुत से प्रगतिशील और प्रयोगशील माने जाने वाले साहित्यकारों पर इस प्रवृत्ति की गहरी छाप है।

प्रगतिवादी प्रवृत्ति—शोषण, उत्पीड़न का अन्त कर मानव को सामूहिक मुक्ति का आदर्शवादी स्वप्न तथा मार्क्सवाद का प्रबल बौद्धिक आधार लेकर विश्वव्यापी आन्दोलन के अंग के रूप में १९३६ के आसपास यह प्रवृत्ति हिन्दी साहित्य में प्रकट हुई थी। पराधीन राष्ट्र की विक्षुब्ध उग्र युव चेतना ने इसका स्वागत किया और बहुत ही शीघ्र इसने अपने को प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में स्थापित कर लिया। उस समय का प्रगतिशील लेखक संघ एक प्रकार से सभी प्रगतिकामी लेखकों का संयुक्त साहित्यिक मोर्चा था किन्तु धीरे-धीरे वह कम्युनिस्ट पार्टी के साहित्यिक मोर्चे के रूप में परिणत हो गया और शील का स्थान वाद न ले लिया। परिणाम यह हुआ कि स्वतन्त्रचेता साहित्यकार उससे अलग हो गये या अलग कर दिये गये। यह कठमुल्लापन स्वयं इस प्रवृत्ति एवं संघ के लिए घातक हुआ। स्वतन्त्रता के पहले ही प्रगतिशील माने जाने वाले कुछ स्वतन्त्रचेता साहित्यकार इससे अलग हो गये थे और स्वतन्त्रता के बाद तो आन्तरिक एवं बाध्य अनेक कारणों से इसकी शक्ति और भी क्षीण हो गयी। प्रगति की शोषण विरोधी संघर्षशीलता, विकसित ऐतिहासिक दृष्टि, मानव भविष्य के प्रति आस्था, सामाजिक पुनर्निर्माण एवं सामाजिक दायित्व के प्रति निष्ठा स्वागतयोग्य विशेषताएँ हैं तो साहित्य पर राजनीतिक प्राणघाती अंकुश, व्यक्ति चेतना का तिरस्कार तथा आध्यात्मिक मूल्यों का सर्वथा बहिष्कार उसके ऐसे तत्व हैं जो भारतीय संस्कार के नितान्त विरुद्ध हैं। राजनीतिक दृष्टि से कम्युनिस्ट न होते हुए भी बहुत से साहित्यकार इसके उज्ज्वल पक्ष से प्रभावित हैं। प्रगतिवादी खेमे में आलोचना बल्कि फतवों की जितनी प्रधानता है कृति साहित्य की उतनी नहीं। फिर भी स्वतन्त्रता के बाद इसकी प्रमुख उपलब्धियों के रूप में केदारनाथ अग्रवाल कृत 'फूल नहीं रंग बोलते हैं, नागार्जुन कृत सतरंगे पंखों वाली तथा प्यासी पथराई आँखें जैसी

काव्य कृतियाँ यशपालकृत मनुष्य के रूप तथा झूठा सच, नागार्जुन कृत बाबा बटेसर नाथ जैसे उपन्यास एवं राम विलास शर्मा, शिवदास सिंह चौहान तथा नामवर सिंह की व्यावहारिक आलोचनाओं की गणना की जा सकती है। उपेक्षित और तुच्छ समझे जाने विषयों का साहित्य में समावेश तथा मानव सम्बन्धों की वर्गवादी दृष्टि से विवेचना इस धारा की प्रमुख देन है। वस्तु को अत्यधिक प्रधानता देने के कारण शिल्प की उपेक्षा इन साहित्यकारों ने प्रायः की है। इस धारा के अपेक्षाकृत अल्प सामर्थ्यवाले साहित्यकारों की रचनाएँ प्रचारात्मक एवं सपाट हो जाती हैं। यह भी इनकी एक सीमा है। इस तथ्य को स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रथम श्रेणी की नवीन प्रतिभाओं ने कतिपय प्रगतिशील तत्वों को आत्मसात् करते हुए भी प्रगतिवादी मठाधीशों के अंकुश को मानने से इन्कार कर दिया है। प्रगतिवादी आन्दोलन में नवदीक्षित साहित्यकार प्रायः दुर्बल साहित्यिक कृतियाँ ही दे पाये हैं। यह तो ठीक है कि अपने राजनीतिक आधार के कारण यह प्रवृत्ति हिन्दी साहित्य में अब भी अपना स्थान बनाये हुए है किन्तु यह भी ठीक है कि इसका विकास अवरुद्ध हो चुका है और 'वाद' का रूपान्तर यदि पुनः शील में न हुआ तो सम्भवतः यह अपना वर्तमान स्थान भी न बनाये रख सके।

प्रयोगशील प्रवृत्ति—प्रगतिवादी प्रवृत्ति के साँचे ढले समाज की कल्पना से कुंठारहित इकाई को अच्छा मानने वाले कुछ प्रगतिशील साहित्यकारों ने ही १९४३ के आस-पास नये ढंग से सोचना और लिखना शुरू किया। उन्हें यह भी लगा कि परम्परागत जीवन मूल्य एवं साहित्यिक रूपविधान एकदम घिस गये हैं। प्रगतिवादी जीवन मूल्यों एवं साहित्यिक रूपविधान से भी वे असन्तुष्ट थे। बनी-बनायी राहों को अनुकूल न पाकर ये साहित्यकार अपनी राहों के स्वयं अन्वेषी हुए और नये प्रयोगों में प्रवृत्त हुए। प्रयोगों पर अधिक बल देने के कारण पहले इन्हें प्रयोगवादी भी कहा गया किन्तु उनकी दृष्टि में यह कहना उसी प्रकार अर्थहीन था जिस प्रकार किसी को कवितावादी कहना। उनका मत था कि प्रयोग कोई वाद न होकर सृजनशील प्रतिभा का धर्म होता है। परम्परावादी एवं प्रगतिवादी विचारकों के प्रबल विरोध के बावजूद इस प्रवृत्ति ने स्वाधीनता के बाद ही अपने को प्रतिष्ठित कर लिया। चूँकि यह प्रवृत्ति कविता में ही सर्वप्रथम प्रकट हुई थी अतः पूर्ववर्त्ती काव्य-परम्परा से इन कविताओं की भिन्नता संकेतित करने के लिए इन्हें नयी कविता की संज्ञा दी गयी। नयी कविता के वजन पर ही नयी कहानी, नया नाटक नयी आलोचना नवगीत या नया गीत जैसे नाम भी चले। यद्यपि इन परवर्त्ती आन्दोलनों के

प्रवर्त्तक अपने को नयी कविता की प्रवृत्तियों से अनुप्रेरित नहीं मानते हैं किन्तु व्यापक दृष्टि से विचार करने पर उनका दावा सही नहीं लगता। वास्तव में नयेपन की ये पुकारें एक ही मूलभूत प्रवृत्ति की विविध परिणतियाँ हैं। उस प्रवृत्ति के ऋणात्मक तत्व हैं संकीर्ण व्यक्तिवादिता, अनास्था, कुंठा, मोहभंग से उत्पन्न शंकाशीलता आदि और धनात्मक तत्व हैं वैज्ञानिक चेतना, मानववाद रूढ़िमुक्त बौद्धिक दृष्टि, व्यक्ति स्वातन्त्र्य आदि। पूर्व विवेचित अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय परिस्थितियों में कुछ संवेदनशील प्रतिभाओं का अपनी सारी पीढ़ी की ही नहीं मानव मात्र को अभिशप्त समझना और भविष्य के प्रति आस्थाहीन हो जाना असम्भव नहीं है। किन्तु ऐसा भी नहीं है कि सबके सब नये लेखक सर्वथा आस्थाहीन ही हों। स्वयं अज्ञेय के लेखन का पर्याप्त अंश आस्था से युक्त है। भवानी प्रसाद मिश्र तो आस्थावादी हैं ही और भी अनेकों नये लेखकों ने मानव भविष्य के प्रति आस्था दृढ़ रखी है। यद्यपि यह भी सच है किकुछ नये साहित्यकारों ने विश्व साहित्य के स्तर पर आने की होड़ा-होड़ी में राष्ट्रिय जीवन के विकास क्रम को एवं उसके वर्त्तमान स्वस्थ मूल्यों को भी दृष्टि से ओझल कर पश्चिमी संस्कृति की समस्याओं को अपनी समस्याओं के रूप में ग्रहण करने की चेष्टा की है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि अभी नयी कविता, नयी कहानी आदि के साथ ही साधारण शिक्षित जनता समरस नहीं हो पायी थी कि पश्चिमी हवा का इशारा पहचान कर यहाँ भी लोगों ने अकविता, अकहानी, अनाटक की हाँक लगानी शुरू कर दी। अत्याधुनिकों द्वारा जीवन को एक व्यापक ट्रैजेडी बल्कि अर्थहीन मानने का आग्रह, अतीत और भविष्य के प्रपच में न पड़कर भुक्त क्षण के प्रति ईमानदार होने की घोषणा, भोगे हुए यथार्थ को उसकी समस्त कुरूपताओं या विकृतियों के साथ अभिव्यक्त करने का प्रयास मूलध्वनि से कहीं अधिक प्रतिध्वनि सा लगता है। जैसे जीवन में वैसे ही साहित्य में भी उधार ली हुई भावना, उधार ली हुई भाषा और उधार लिया हुआ शिल्प कृत्रिम प्रगति का ही आभास देते हैं। किन्तु जिन समर्थ लेखकों ने पश्चिम के प्रभाव को यहाँ के जीवन से समंजित कर ग्रहण किया है उन्होंने अधिक विश्वसनीय रूप से आधुनिक भारतीय जीवन को उसकी समग्रता में अंकित किया है।

नये साहित्य की विशिष्ट उपलब्धियों के रूप में उल्लिखित की जा सकती है अज्ञेय कृत 'आँगन के पार द्वार' मुक्तिबोध कृत 'चाँद का मुँह टेढ़ा है,' भारतीकृत कनु प्रिया जैसी काव्य पुस्तकें, अज्ञेयकृत नदी के द्वीप, अमृत लाल नागर कृत बूँद और समुद्र तथा अमृत और विष, फणीश्वर नाथ रेणु कृत मैला आँचल और परती परिकथा जैसे उपन्यास जगदीश चन्द्र माथुर कृत कोणार्क मोहन राकेशकृत आषाढ़ का एक दिन, भारती कृत अन्धा युग, लक्ष्मी-नारायण लाल कृत मादा कैक्टस जैसे नाटक, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव आदि की कुछ कहानियाँ! मोटे तौर पर स्वतन्त्रता के बाद के हिन्दी साहित्य में व्यक्तिकेन्द्रिक एवं समाजकेन्द्रिक दो धाराएँ प्रवहमान हैं। दोनों ही अपनी

अतिवादी स्थितियों में वर्तमान मन:स्थिति का सम्यक् प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ हैं। कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाय तो सामान्य तौर पर नया हिन्दी लेखक व्यक्तिवादी होते हुए भी सामाजिक दायित्व बोधसम्पन्न है या समाजवादी होते हुए भी व्यक्ति चेतना का तिरस्कार नहीं करता है। उदात्त सामाजिक आदर्शों के मोहक नारों पर वह सहज ही विश्वास नहीं करता किन्तु मनुष्य को पशु भी नहीं मानता। निर्बन्ध यौन चित्रण की ओर उसका झुकाव बढ़ा है। वर्जनाओं और मर्यादाओं के अतिक्रमण करने की प्रवृत्ति इसके मूल में है। वीभत्स यौन चित्रण में रुचि लेना निश्चय ही अवस्था मनोदशा का सूचक है। महामानव चरित्रों के पीछे दौड़ना छोड़ लघुमानव की अपनी सीमाओं की गहरी परतों को उधेड़ कर देखने का उसका आग्रह है। नये साहित्य में सामाजिक परिवेश से कटे असामान्य मनोविज्ञान के केस सरीखे एकाकी व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व भी चित्रित हुए हैं तो अंचल विशेष के समग्र जीवन को मूर्त्त कर देने के सफल प्रयास भी हुए हैं। दृष्टियों एवं प्रयोगों की विविधता नये साहित्य को किसी एक संगठित साहित्यिक आन्दोलन से अधिक आंदोलन समूह के रूप में उपस्थित करती है। इन नये साहित्यकारों का जो वर्ग अपने आधार से कट कर शंका और अनास्था को ही चरम मूल्य समझने लगा है उसके भविष्य के बारे में आशावान् होना कठिन है किन्तु जो वर्ग अपने सांस्कृतिकदाय को ग्रहण करता है प्रगति की साम्प्रदायिक व्याख्या को अस्वीकार करके भी सामाजिक मंगल से अपने को प्रतिबद्ध मानता है, जो साहित्य को प्रचार या शयनकक्ष दैनिकी से भिन्न आत्मोपलब्धि का माध्यम मानता है, उसके प्रति आस्थावान् होना ही चाहिए।

साहित्य को विशेषज्ञों की वस्तु बना देने की भी एक प्रवृत्ति परिलक्षित हो रही है। साधारणीकरण के स्थान पर विशेषीकरण करने का आग्रह प्रबल हो रहा है। कथ्य और शिल्प दोनों में जटिलता, असम्बद्धता, मनमानी प्रतीकात्मकता की योजना मात्र से कोई कृति चौंकाने में भले समर्थ हो जाये किन्तु सहृदयों को ग्राह्य नहीं हो सकती। 'बुध-विश्राम सकल जन रंजिनि,' रचनाएँ ही वस्तुत: बड़ी रचनाएँ होती हैं।

मेरी समझ में साहित्य की राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृत्ति को आधुनिक रूप देने की समस्या ही नये साहित्यकारों के लिए वास्तविक चुनौती है। यह कार्य न तो अनुकरण से हो सकता है, न अनास्था से। सम्पूर्ण परम्परा से अर्थहीन द्रोह आत्मघात का ही दूसरा नाम है जबकि परम्परा के जड़ पड़ते जाने वाले अंश से विद्रोह करना, उसे नवीन परिवेश की नवीन चुनौतियों को ग्रहण करने के योग्य बनाना है, उसका कायाकल्प करना है। भारत के दीर्घ सांस्कृतिक साहित्यिक इतिहास का समर्थ प्रतिनिधित्व करने वाले नये हिन्दी साहित्यकार सामयिक कुंठाओं और विकृतियों के विष को पचाकर अमृतमयी साहित्य सृष्टि की परम्परा को अक्षुण्ण रख सकेंगे इसका मुझे विश्वास है।

● ●

१३
जैनेन्द्र की कहानियाँ

जैनेन्द्र का हिन्दी कथा-साहित्य में प्रवेश एक बड़ी घटना के रूप में स्वीकार किया गया था। स्वयं प्रेमचन्द ने कहा था 'हिन्दुस्तान में कोई गोर्की है या हो सकता है तो वह जैनेन्द्र है।' मैथिलीशरण का उच्छ्वसित उद्गार था, 'हिन्दी साहित्य के कथाक्षेत्र में हमने (जैनेन्द्र में) रवि और शरत् बाबू को एक ही साथ पाया।' साहित्य में सहज ही स्वीकृत और प्रतिष्ठित हो जाने का ऐसा सौभाग्य बिरलों को ही मिलता है।

और यह भी सत्य है कि हिन्दी के नये कहानीकारों में जितना आक्रोश जैनेन्द्र के प्रति है उतना और किसी के प्रति नहीं। हाल ही में कलकत्ते में हुए हिन्दी कथा-समारोह में नयी पीढ़ी के कथाकारों ने जैनेन्द की उपस्थिति में उनकी कथा-दृष्टि का तीव्र विरोध किया। एक ने हस्ताक्षर पुस्तिका पर सही करते हुए लिखा, 'जैनेन्द्र को मत पढ़ो' तो दूसरे ने नहले पर दहला जमाते हुए लिखा 'जैनेन्द्र को पढ़कर पछता रहा हूँ।'

वह स्वीकृति और यह विरोध दोनों इसके प्रमाण हैं कि जैनेन्द्र शक्तिशाली कथाकार हैं और उनकी देन स्थायी महत्त्व की है। सहज ही सवाल उठ खड़े होते हैं कि क्या है ऐसा जैनेन्द्र में जिसके चलते उन्हें इतनी प्रतिष्ठा मिली और अब क्यों उनके प्रभाव से मुक्ति पाने की इतनी छटपटाहट है। वह विशेषता जिसके चलते प्रेमचन्द युग के साहित्यकार उनपर मुग्ध हो गये थे यह है कि जहाँ प्रेमचन्द और उनके सहयोगी अधिकतर जीवन के व्यक्त रूप को अपना आधार मानकर चले थे, सामाजिक सम्बन्धों के बीच मानव जैसा लगता है, प्रधानतः उसी का चित्रण उन्होंने किया था, वहाँ जैनेन्द्र व्यक्तिमन की अव्यक्त गहराइयों में उतरे थे। इस नये स्वाद से हिन्दी के पाठक और पुराने लेखक चमत्कृत हो गये। प्रेमचन्द के विशाल कैनवास के स्थान पर जैनेन्द्र का छोटा कैनवास अपने में कुछ ऐसी सांकेतिकता रखता था कि वह अपनी सीमा में भी असीम लगता था। निश्चय ही जैनेन्द्र की विषयवस्तु सीमित है, नरनारी का प्रेम, बालमन की उलझी अनुभूतियाँ नैतिक, आध्यात्मिक निष्ठा....इन्हीं को आधार बनाकर जैनेन्द्र की कथासृष्टि चलती है। इनमें जैनेन्द्र केवल द्रष्टा या भोक्ता के रूप में ही नहीं चिन्तक के रूप में भी आये

हैं। जैनेन्द्र के चिन्तन को मोटे तौर पर गांधीवादी चिन्तन कहा जाता है किन्तु मुझे सन्देह है कि जैनेन्द्र की स्थापनाएं सर्वत्र गांधीवाद के अनुकूल हैं। भारतीय परम्परा उनका मूल स्रोत है इसमें कोई सन्देह नहीं किन्तु पश्चिम से भी उन्होंने बहुत कुछ विशेषतः मनोविश्लेषण और व्यक्तिवाद के तत्व लिये हैं। मुझे लगता है कि उनके कलाकार पर उनका चिन्तक उत्तरोत्तर हावी होता गया है, इसे मैं शुभ नहीं मान पाता। चिन्तक समस्याओं का जो हल सुझाता है कलाकार उन्हें अपने चरित्रों के वचनों और व्यवहारों पर आरोपित कर देता है, यह भूल जाता है कि उसको निष्ठा चिन्तक के प्रति ही नहीं जीवन के प्रति भी है और यह भी आवश्यक है कि कथा में जीवन अपने यथार्थ रूप में या विश्वसनीय सम्भव रूप में उभरे। इसी जगह नये कहानीकारों को जैनेन्द्र से सबसे बड़ी शिकायत है, चिन्तन या साहित्य से जीवन की ओर आना नये लेखकों को अस्वीकार है, जीवन से साहित्य की ओर जाना ही उन्हें अभीष्ट है। मुझे स्वीकार करना चाहिए कि जैनेन्द्र के प्रति यह शिकायत अंशतः सही है। उनकी अनेक कहानियों के चरित्र और उनके व्यवहार विश्वसनीय नहीं प्रतीत होते विशेषतः नर-नारी के प्रेम का चित्रण करते समय वे शारीरिक सम्बन्धों के समय भी जब आध्यात्मिक शुचिता की दुहाई देते रहते हैं जैसे 'परदेसी' और 'एक रात' में तब यह पूछने की इच्छा होती है कि जीवन में ऐसे नरनारी कहाँ हैं जो उस घनिष्ठ आत्मीयता के समय इतने पवित्र अबोध और स्थितप्रज्ञ बने रहते हैं, कहाँ है वे नारियाँ जो अपनी तृप्ति के उपरान्त छोड़कर जानेवालों को देवता समझ कर उनकी चरण-रज लिया करती हैं, कहाँ हैं वे पति जो अपनी पत्नियों को उनके पूर्व प्रेमियों से मिलकर खुल खेलने को छूट देते हैं और फिर भी अपने आत्मिक प्रेम से परिपूर्ण विवाह सम्बन्ध को सोल्लास, सोत्साह निभाते रहते हैं? कहा जाता है, 'प्रेम के विषय में जैनेन्द्र जी का अपना एक व्यापक और मौलिक दृष्टिकोण है। उनके प्रेम का आधार आत्मा है, जो सबमें—स्त्री-पुरुष में भी—सम्बन्धों के यथातथ्य रूपों के अन्तस्तल में यथार्थ रूप से धड़कती रहती है। जैनेन्द्र की प्रेम कहानियों में इसीलिए स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण की जो मूल भावना है वह केवल सेक्स सम्बन्धी नहीं, बल्कि आत्मिक गहराई की यथार्थता की द्योतक होती है।' मुश्किल यह है कि उनकी यह धारणा उनकी कुछ कहानियों में जिस रूप में मूर्त हुई है वह उदात्तता की आड़ में सुविधा को छिपाये प्रतीत होती है, या किताबी, हवाई लगती है। उदाहरण के लिए ध्रुवयात्रा की उर्मिला रिपुदमन से प्रेम भी करती है, उसके पुत्र की माता भी है किन्तु उससे विवाह नहीं करना चाहती, प्रेमिका बनी रहकर रिपुदमन को पूर्णता की ओर ले जाना चाहती है, एक

रात की सुदर्शना प्लेटफार्म पर सिर्फ एक दिन के परिचित राष्ट्रकर्मी जयराज के अंक में आत्मिक प्रेम का अनुभव करते हुए रात काट देती है, उसी वर्ष माता बन जाने के विश्वास के साथ उसकी चरण धूलि लेकर बिदा हो जाती है, प्रणयदंश का प्रद्युम्न समर्पित सविता को अंक में लेकर उसके बालों को सहलाते हुए यह कह सकता है, 'मैंने देवी के रूप में तुम्हें देखा है। तुम मेरे लिए जिस ऐश्वर्य की स्वामिनी हो, उसे मैं धरती पर नहीं ला सकता। सच कहता हूँ, ऐसा अपराध मुझसे स्वप्न में भी नहीं हुआ है। अपनी कविता की अधिष्ठात्री देवी के अतिरिक्त किसी और स्थान पर देखने का अविनय मुझसे नहीं बन सकता।' जैनेन्द्र इतने परम्परावादी भी नहीं हैं कि यौनशुचिता को ही नारी का सबसे बड़ा मूल्य मानें, इतने आधुनिक भी नहीं हैं कि प्रेम के शारीरिक आधार को अनिवार्यतः स्वीकार कर लें। उनका आत्मिक प्रेम जिसमें शारीरिक सम्बन्धों की छूट है किन्तु विवाह की अनिवार्यता नहीं, जिसमें घनिष्ठता के चरम क्षणों में आवेग, उत्तेजना के स्थान पर अबोधता या स्थितिप्रज्ञता रहती है, कम समझ में आता है।

सत् के प्रति उनकी निष्ठा अविचल है। उनकी बहुत सी प्रेम की ऐसी कहानियां जिनमें चिन्तक हावी होकर नहीं आया है त्याग की गरिमा से मंडित हैं जैसे बीट्रिस, मास्टर जी, पत्नी आदि। सत् के प्रति यह निष्ठा उनके चरित्रों में एक प्रकार का तटस्थ समर्पण भाव भी लाती है, जो है, जो आयेगा ही, उसे बिना हाय हाय करे झेलने की शक्ति भी देती है। इसीलिए उनकी प्रवंचिता नारियाँ भी सहिष्णु हैं और शोषित पात्र भी। कर्म को भोगकर ही जीवन काटा जा सकता है यह मान्यता उनकी बड़ी दृढ़ है। इसीलिए उनकी कहानियों में उत्ताप, आवेग, आक्रोश, तोड़-फोड़ कर बदल देने का आतुर आग्रह नहीं मिलता, एक प्रकार का स्निग्ध, सौम्य, व्यथा में भी स्थैर्य और स्वीकार का भाव मिलता है।

समाज की स्थूल समस्याओं की ओर उनकी रुझान कम है। फिर भी दरिद्रता आदि सामाजिक अन्यायों के प्रति उनके कुछ व्यंग्य बड़े करारे हैं। 'अपना-अपना भाग्य' इन कहानियों में सर्वश्रेष्ठ है। एक असहाय बालक नैनीताल की ठंड में अकड़ कर मर जाता है, मध्यवर्गीय नैतिकता केवल शाब्दिक सहानुभूति ही प्रकट करके रह जाती है।

जैनेन्द्र की दृष्टि में 'भाव उसमें (कहानी में) प्रधान है, पदार्थ अप्रधान, बाह्य गौण, अन्तः मुख्य, दृश्यजगत् आनुषंगिक, अदृश्य आत्मा लक्ष्य।' अब

हाड़-मांस के सजीव समसामायिक मनुष्यों की कहानियों में यह बात एक सीमा तक ही आ सकती है अतः जैनेन्द्र जी ने बहुत सी प्रतीकात्मक कहानियाँ लिखी हैं जिनमें जीवन के अदृश्य आवर्त, अन्तःसत्य को साकार करने की चेष्टा की गयी है। ये कहानियाँ एक तरफ पौराणिक कहानियों से अनुप्राणित हैं, दूसरी तरफ लोक-कथाओं से। सत्य, सेवा, निरहंकारता, उत्सर्ग द्वारा आत्मोपलब्धि जैसे उदात्त मानव मूल्यों को इनमें व्यक्त किया गया है। ऐसी कहानियों में लाल सरोवर, नीलम देश की राजकन्या, कामनापूर्ति आदि विशिष्ट हैं। इन प्रयोगों के द्वारा जैनेन्द्र ने एक पुरानी विधा को नवीन साहित्य के साथ सगौरव जोड़ दिया है।

बाल मनोविज्ञान को समझने-समझाने में अपनी आन्तरिक सहानुभूति के कारण जैनेन्द्र जी को बहुत सफलता मिली है। इनाम, पाजेब, आत्म शिक्षण, खेल आदि कहानियों में एक तरफ बालकों का स्वभाव समझने की औसत वयस्कों की अक्षमता दूसरी तरफ बालकों के सहज सरल विश्वासी मन की बड़ी मर्मस्पर्शी छवि अंकित है।

जैनेन्द्र की शैली बड़ी ही प्यारी और आत्मीय है। किसी प्रकार की औपचारिकता उसमें नहीं है। मित्रों की बातचीत से, लेखक के अपने दैनन्दिन व्यवहार से, स्मरण से···किसी भी प्रसंग से बात उठती है और आगे बढ़कर धीरे-धीरे कहानी का रूप ले लेती है। ऐसा नहीं लगता कि आपको अलग से कहानी सुनायी जा रही है। जैनेन्द्र की भाषा भी इस दृष्टि से अद्भुत है, सरल, निरलंकृत, रोजमर्रे को अथच ऐसी भी नहीं कि बिलकुल पकड़ में आ जाये सीधी सादी किन्तु अपने अन्तर में गहराई छिपाये हुए, बोधगम्य फिर भी रहस्यावृत, ऐसी ही भाषा और ऐसी ही कहानी है जैनेन्द्र की। कहानी के मध्य में अचानक चिन्तक उलझ जाता है और फिर ऊँची से ऊँची दार्शनिक बातें उभर आती हैं। यह सच है कि कहीं-कहीं ये बातें अपने में महत्वपूर्ण होते हुए भी कहानी के प्रसंग में बेमेल हो जाती हैं किन्तु अधिकतर ऐसा हुआ है कि ये विचारकण कहानी की आत्मा से अभिन्न होकर उसकी महिमा और बढ़ा देते हैं। उदाहरण के लिए कथा का स्रोत कहाँ है इस पर प्रकट किया गया यह विचार उनके किसी निबन्ध का नहीं कहानी का ही अंश है, "मैं सोचता था—प्रेम जो असत् में सत् और अभाव में आनन्द सृष्टि करता है, स्मरण जो काल के अनन्त गह्वर से चीर निकालकर मृत को अमृत करता है, जो निराकार को आकार और अरूप को रूप देता है, जिससे मन एक होता है और व्यवधान मिट जाता है—जिससे यह सब है और उत्तरोत्तर होता रहता है, वही दिक्कालहीन मानव मन और उसकी विरह व्यथा ही क्या

वह मर्म नहीं जो अनन्त कथा का स्रोत है और अतल है, और अक्षय है।"
'यह अंश अवश्य गरिष्ठ हो गया है और अच्छा होते हुए भी निबन्ध के अधिक उपयुक्त लगता है किन्तु सौन्दर्य पर यह छोटी सी टिप्पणी, "सौन्दर्य कहाँ नहीं है? सौन्दर्य परम सत्य है, परम सत्य की अभिन्न विभूति है, सत्य की भाँति सब ठौर व्यापा हैं। जिसकी जहाँ आँख है, वहाँ ही वह उसे देख लेगा। इसी से अम्बर नील सुन्दर है, धूप झकझकाती धौली खिलती हैं। धरती हरी भाती है, रात तारों टकी श्यामल सुहाती है, प्रभात गुलाबी अच्छा लगता है।" ऐसी टिप्पणियाँ और सूक्तियाँ जैनेन्द्र की कहानियों की शोभा हैं।

जैनेन्द्र हिन्दी के समर्थ कथाकार है, निश्चय ही उन्होंने हिन्दी कहानी को एक नया आयाम दिया है और उसका ऐतिहासिक महत्व है। उनसे असहमत हुआ जा सकता है किन्तु उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैनेन्द्र के उदयकाल में उन्हें गोर्की, रवीन्द्र या शरत् के रूप में देखने की कामना बहुतों ने की थी किन्तु वे न गोर्की बने न रवीन्द्र न शरत्। वे सिर्फ जैनेन्द्र रहे और यही उनकी सबसे बड़ी महत्ता है। अनुकरण नहीं सृजन जो भले विवादास्पद हो किन्तु मौलिक हो, स्वतन्त्र हो उनका लक्ष्य रहा है और असंदिग्ध रूप से उनका साहित्यिक व्यक्तित्व उनका अपना है।

● ●

१४.

दिनकर के
काव्य का मूलाधार

> 'पढ़ो रक्त की भाषा को विश्वास करो इस लिपि का
> यह भाषा, यह लिपि मानस को कभी न भरमायेगी
> छली बुद्धि की भाँति, जिसे सुख दुख से भरे भुवन में
> पाप दोखता वहाँ, जहाँ सुन्दरता हुलस रही है
> श्रौर पुण्यचय वहाँ, जहाँ कंकाल कुलिश कांटे हैं।'

उर्वशी की इन पंक्तियों में दिनकर की मूल चेतना को समझने का पुष्ट आधार मिलता है। वस्तुतः दिनकर ने 'रक्त की भाषा' को अभिव्यक्ति दी है। वे मूलतः निर्बंध आवेगों के कवि हैं, संयत चिन्तन के नहीं। यह नहीं कि उन्होंने चिन्तन को तिलांजलि दे दी है, कुरुक्षेत्र श्रौर उर्वशी अपने-अपने क्षेत्रों के चिन्तन से श्रोतप्रोत काव्यग्रंथ है किन्तु उनका चिन्तन स्थितप्रज्ञ विचारक का नहीं, शंकाकुल हृदय का है जो अपने अनुभवों श्रौर भावावेगों की सत्यता को तार्किकों श्रौर नीतिकारों की युक्तियों के कारण झुठलाने को तैयार नहीं। पुरुरवा की उलझन है,

> 'भृत्तिमहदाकाश में ठहरे कहाँ पर ? शून्य है सब।
> श्रौर नीचे भी नहीं सन्तोष
> मिट्टी के हृदय से
> दूर होता ही कभी अम्बर नहीं है।

यही उलझन दिनकर की भी है। केवल बुद्धि या चिन्तन आकाशचुम्बी होने पर भी निराधार टिक नहीं सकता श्रौर केवल भावावेग से भी सन्तोष नहीं होता अतः अपने भाव सत्य के समर्थन के लिए वे बुद्धि श्रौर चिन्तन का उपयोग भर करते हैं। दोनों में द्वन्द्व हो जाने पर वे आरोपित चिन्तन को झाड़कर फेंक देते हैं श्रौर रक्त की भाषा, भावावेग की सत्यता का ही सम्मान करते हैं। कुरुक्षेत्र में उन्होंने साफ लिखा है,

> 'बुझा बुद्धि का दीप वीरवर आँख मूँद चलते हैं,
> उछल वेदिका पर चढ़ जाते श्रौर स्वयं बलते हैं।

भावसत्य को उपेक्षित कर वस्तुसत्य पर अत्यधिक बल देने के कारण ही दिनकर के अनुसार आज का मनुष्य 'मनुष्यता का घोरतम अपमान' बन गया है क्योंकि मनुज का वास्तविक परिचय या श्रेय यह नहीं है कि वह व्योम से पाताल तक सब कुछ जान चुका है सब पर अधिकार कर चुका है। इससे तो उसकी पशुवृत्ति ही और भड़की है, सच कहा जाय तो,

'श्रेय उसका, बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत,
श्रेय मानव को असीमित मानवों से प्रीत,
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान
तोड़ दे जो बस वही ज्ञानी, वही विद्वान
और मानव भी वही।'

हृदय के रागात्मक सम्बन्ध को महत्त्व देनेवाली भावुकतापूर्ण मानवतावादी चेतना ही दिनकर के काव्य का मूलाधार है।

और ऐसा होना स्वाभाविक भी है। दिनकर छायावाद और प्रगतिवाद के सन्धियुग के कवि हैं। छायावाद की स्वप्निल अतीन्द्रिय, गगनविहारी भावुकता उनमें धरती का ठोस आधार पा गयी है, जिससे वह अधिक मांसल, अधिक साहसिक और अधिक सामाजिक हो गयी है। १९३० से १९३६ तक की संघर्षमयी राजनीतिक परिस्थितियों में दिनकर के तरुण रक्त की भाषा क्रान्ति और विद्रोह के स्वर में ही अपने को अभिव्यक्त कर सकती थी। गुलाम देश की गरीबी की विभीषिका से जूझता हुआ भावुक कवि अपनी कविता को जगाता हुआ यही कह सकता था,

क्रान्तिधात्रि कविते जाग उठा आडम्बर में आग लगादे।
पतन, पाप, पाखण्ड जलें, जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे।

दिनकर की उग्र राष्ट्रीयतावादी रचनाएँ क्रांति और समता के प्रति जो निष्ठा द्योतित करती हैं वह किसी सिद्धान्तवादी से प्राप्त दीक्षा के कारण उत्पन्न नहीं हुई है, वह तो दासता और विषमता के प्रति विद्रोही भावुक तरुण की स्वाभाविक हुँकार है। इसीलिए एक तरफ उसमें स्वानुभूत क्रोध और विक्षोभ को कसमसाहट है तो दूसरी तरफ एक प्रकार की अस्पष्टता और वायवीयता भी! दूध के अभाव में तड़पने वाले शिशुओं के लिए वे स्वर्ग लूटने का उपक्रम करते हैं, क्रान्ति को विपथगा कहते हैं। वर्गवादी कवियों की तुलना में उनका अहं काफी तीखा और व्यक्तिवादी है। अपने कवि के सम्बन्ध में उनका दावा है,

जड़ को उड़ने की पाँख दिये देता हूँ,
चेतन के मन को आँख दिये देता हूँ
शूरों के दृग अंगार बना देता हूँ
हिम्मत को ही तलवार बना देता हूँ।

बुद्धिवादी पाठकको इस दावे और दिनकर द्वारा कल्पित क्रान्ति दोनों में अतिशय भावुकता के दर्शन हो सकते हैं। भारतीत संस्कृति के गौरवपूर्ण प्राचीन स्मृतिचिह्नों के मुकाबले में समकालीन पतितावस्था को रखकर 'हिमालय के प्रति' 'पाटलिपुत्र की गंगा' जैसी शक्तिशाली कविताएँ लिखने में दिनकर इसी भावुकता के कारण सफल हो सके थे। राष्ट्रीय स्वतंत्रता का आन्दोलन हो या विश्वयुद्ध, प्राकृतिक सुषमा हो या नारी सौन्दर्य, व्यक्तिगत प्रेम निवेदन हो या नरनारी के सम्बन्ध की शाश्वत समस्या सर्वत्र दिनकर की प्रतिक्रिया उद्दाम, वैयक्तिक, स्वच्छन्द, भावात्मक और गतिधर्मी रही है। साथ ही उस पर भारत की प्रवृत्तिमूलक सांस्कृतिक परम्परा और सामाजिकता की छाप भी है पश्चिम के आधुनिक साहित्य और दर्शन से उन्होंने अपनी भावना को परिष्कृत भले किया हो पुर्ननिर्मित नहीं।

आरम्भ में दिनकर को राष्ट्रीय कही जानेवाली कविताओं के कारण ही ख्याति प्राप्त हुई थी, आज उन कविताओं को पढ़कर लगता है कि उनमें सामयिकता अधिक मुखरित हो उठी थी, स्थायी मूल्यवाली कविताएं रेणुका, हुँकार, द्वन्द्वगीत में कम ही हैं, कुरुक्षेत्र में दिनकर ने पहली बार एक बड़े सवाल को बड़े पैमाने पर उठाया है और निस्सन्देह उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है, द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि पर रचित इस प्रबन्ध काव्य का विषय और प्रस्तुतीकरण बहुत कुछ विचार के स्तर पर है, क्या युद्ध अनिवार्य है? कौन है उस नाश, हत्या और सांस्कृतिक विघटन के लिए जिम्मेदार? उस व्यापक हृदयहीन, क्रूर अमानुषिक सामूहिक हत्याकाण्ड का क्या समर्थन किया जा सकता है? भारत का कवि इस युद्ध में संलग्न न होने के कारण अपेक्षाकृत रूप से तटस्थ होकर विचार कर सकता था, दिनकर ने सन्दर्भ को निकटताजनित पूर्वग्रहों से बचाने के लिए और हिन्दी के पाठकों के हेतु अधिक ग्राह्य बनाने के लिए महाभारत के युद्ध को आधार बनाया है, कुरुक्षेत्र वस्तुतः युद्ध की करुणा और औचित्य-विचारणा का काव्य है, युधिष्ठिर युद्ध के दुष्परिणामों से कातर होकर पितामह भीष्म के निकट जाकर अपना मनस्ताप प्रकट करते हुए कहते हैं :

जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का
तनबल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता
ताप से सहिष्णुता से, त्याग से सुयोधन को
जीत नई नींव इतिहास की मैं धरता
और कहीं वज्र गलता न मेरी आह से जो
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता
तो भी हाय, यह रक्तपात नहीं करता मैं
भाइयों के संग कहीं भीख माँग मरता।

अहिंसा के नाम पर इस कायरता और पौरुषहीनता के जीवन-दर्शन को अस्वीकार करते हुए दिनकर ने भीष्म द्वारा युधिष्ठिर को प्रबोध दिलाते हुए कहलाया है कि तप, करुणा, क्षमा, त्याग आदि व्यक्ति के धर्म हैं किन्तु उन्मत्त आततायी आक्रमणकारी समूह के समक्ष इनका वश नहीं चलता, देह का संग्राम मनोबल से नहीं देहबल से ही जीता जा सकता है, इसलिए :

छीनता हो स्वत्व कोई तू त्याग तप से काम ले यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे, बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।।

इस प्रकार युद्ध एक अनिवार्य अभिशाप है, जिसका उत्तरदायित्व उन अन्यायियों के ऊपर है जो मनुज ने उसका न्याय चुराते हैं, उन स्वाभिमानियों के ऊपर नहीं जो प्राणों की बाजी लगाकर न्याय की पुनः प्रतिष्ठा करते हैं।

किन्तु कुरुक्षेत्र के युद्धचिन्तन में शंकाकुल हृदय ने जरा जल्दबाजी की है, भीष्म ने जिस सरलता से युधिष्ठिर के पक्ष को सर्वथा न्यायमूलक एवं दुर्योधन के पक्ष को बिलकुल अन्यायमूलक घोषित कर दिया है उसी सरलता से क्या आज कोई विचारक किसी एक पक्ष को सर्वथा न्यायी और दूसरे को सर्वथा अन्यायी कह सकता है? अजा-धर्म का खण्डन करने के जोश में दिनकर यह भूल गये हैं कि आज सत्य खंडित हो चुका है, दोनों पक्षों में सत्यांश है और दोनों में अधर्मांश भी, दोनों पक्षों की स्वार्थान्धता के कारण ही युद्धाग्नि भड़क उठती है, जब न्याय अंशतः दोनों ओर हो तब विचारक क्या इतनी आसानी से किसी को निर्दोष और किसी को दोषी करार दे सकता है? कुरुक्षेत्र का विचार एकायामी है उसकी तुलना में भारती का 'अन्धायुग' अधिक आधुनिक बौद्धिक दृष्टि प्रस्तुत करता है, फिर भी कुरुक्षेत्र में युधिष्ठिर भीष्म और कवि का लक्ष्य प्रेम करुणा पर आधृत मानवतावाद ही है, षष्ठसर्ग में

आधुनिक ज्ञान विज्ञान से सम्पन्न मनुष्य की हृदयहीनता को धिक्कारते हुए कवि ने आशा व्यक्त की है कि एक न एक दिन मनुष्य अपनी सद्भावना के सहारे अपनी पशुता को जीत सकेगा। उसकी भावविह्वल जिज्ञासा है :

> साम्य की वह रश्मि स्निग्ध, उदार
> कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान ?
> कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त
> हो, सरस होंगे जली सूखी रसा के प्राण ?

युद्ध के सन्दर्भ पर ही दिनकर ने 'परशुराम की प्रतीक्षा' लिखी है, किंतु इसकी पृष्ठभूमि है भारत पर चीनी आक्रमण की, शत्रु पर अतिरिक्त विश्वास एवं अहिंसावृत्ति के कारण भारत को अपमानित होना पड़ा, देशभक्त कवि दिनकर का ज्वालामुखी फूटा, परशुराम की प्रतीक्षा युद्ध के क्रोध का काव्य है, आहत सर्प जिस तरह फण तानकर खड़ा हो जाता है, उसी तरह इस काव्य में दिनकर का अपमानित पौरुष प्रतिहिंसा-परायण हो गरज उठा है, न्याय-अन्याय, औचित्य-अनौचित्य, धर्माधर्म के सूक्ष्म प्रश्नों को ताक पर रखकर शम, दम, विराग को छोड़कर दिनकर ने इसमें शत्रुओं का रक्तपान करने का सन्देश दिया है, आज धर्मों का धर्म यही है कि आक्रमणकारियों को मुहतोड़ जबाब दो, सिद्ध कर दो कि,

> बृक हो कि व्याल जो भी विरुद्ध आयेगा,
> भारत से जीवित लौट नहीं पायेगा।

एक हाथ में वेद और दूसरे में परशु धारण करनेवाला यह नवीन परशुराम नये भारत का उत्तेजित और क्रुद्ध तारुण्य ही है, स्पष्टतः यह ऊष्णरक्त की भाषा है, विचार विवेक की नहीं।

दिनकर के पौरुष का एक अत्यन्त सुकुमार और कोमल पक्ष भी है, अपने कठोर संघर्षशील व्यक्तित्व के कोमल पक्ष का उद्घाटन करते हुए रसवन्ती में दिनकर ने लिखा था :

> मुझमें जलन है, प्यास है, रस का नहीं आभास है,
> यह देख हंसती बल्लरी, हंसता निखिल आकाश है,
> जग तो समझता है यही पाषाण में कुछ रस नहीं
> पर गिरिहृदय में क्या न व्याकुल निर्झरों का बास है ?

रसवन्ती की सरस भाव प्रधान कविताओं में प्रेम का बड़ा मार्मिक किन्तु मर्यादित रूप प्राप्त होता है, कवि की चेष्टा है कि रक्त की भाषा को संयत

कर दिया जाये, भारतीय संस्कृति का मर्यादा-बोध और राष्ट्रीय कवि के रूप में ख्याति भी शायद इस प्रयत्न के पीछे है, प्रेम की मीठी ज्वाला की प्रशस्ति गाता हुआ कवि कहता है :

तृणवत् धधक धधक मत जल सखि,
औदी आँच धुनी विरहिन की
नहीं लपट की चहल-पहल सखि
अन्तर्दाह मधुर मंगल सखि
प्रीति स्वाद कुछ ज्ञात उसे जो
सुलग रहा तिल-तिल पल-पल सखि,

कवि के रक्त की भाषा प्रणय के क्षेत्र में उद्दाम आवेग के साथ मुखरित हो उठी है उर्वशी में, दिनकर ने अपनी इस विशिष्ट कृति में नरनारी के प्रेम की अत्यन्त सुक्ष्म रेखाएं पुरुरवा और उर्वशी के माध्यम से उरेही हैं। शरीर के स्तर पर जन्म लेनेवाला प्रेम मन, बुद्धि और आत्मा के स्तर पहुँचकर किस प्रकार कामाध्यात्म की संज्ञा प्राप्त कर जीवन को कृतार्थ कर देता है, यही उर्वशी का प्रतिपाद्य है, काम के स्वस्थ रूप की सिद्धि द्वारा समाधि सुख की उपलब्धि हो सकती है, इसका संकेत देते हुए कवि कहता है :

प्रकृति नित्य आनन्दमयी है, जब भी भूल स्वयं को
हम निसर्ग के किसी रूप (नारी नर या फूलों) से
एकतान होकर खो जाते हैं, समाधि निस्तल में
खुल जाता है कमल, धार मधु की बहने लगती है
दैनिक जग को छोड़ कहीं हम और पहुँच जाते हैं
मानो मायावरण एक क्षण मन से उतर गया हो।

मानवीय आवेगों के गायक कवि दिनकर ने मानव की बड़ी मार्मिक परिभाषा सहज ही अंकित कर दी है :

फूलों पर आंसु के मोती और अश्रु में आशा,
मिट्टी के जीवन की छोटी नपी तुली परिभाषा।

आधुनिक हिन्दी कविता :
एक संक्षिप्त सर्वेक्षण

आधुनिक शब्द का साधारण अर्थ है आजकल का। प्रश्न उठता है कि इस आजकल की व्याप्ति कितनी है। इसी के साथ जुड़ा हुआ प्रश्न है कि आधुनिक शब्द क्या केवल समयसूचक ही है या भाव और विचार से भी सम्बन्ध रखता है। इन दो प्रश्नों पर विचार किए बिना आगे बढ़ना अपने विषय के साथ अन्याय करना होगा।

जरा सा सोचने पर लगेगा कि आधुनिक शब्द का प्रयोग केवल समकालीन व्यक्ति, वस्तु या विचार आदि के लिए नहीं होता। आधुनिक होने के लिए आवश्यक होता है कि युग की समस्याओं को समझा जाए, उनको सुलझाने के लिए नये ज्ञान-विज्ञान एवं आचार-विचार का उपयोग किया जाये। नये परिवर्तनों, नयी आशा आकांक्षाओं, नयी चुनौतियों, नये अभावों और नये विश्वासों को प्रतिध्वनित करनेवाली कविता ही आधुनिक कविता कही जा सकती है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह नयापन परम्परा को काटकर नहीं आ सकता, उसका विकास कर ही आ सकता है। परम्परा से कटी हुई, उधार ली हुई, ऊपर से थोपी हुई आधुनिकता न प्राणवान होती है, न संस्कृति को समृद्ध करने में सहायक। उसी तरह नवीन परिवर्तनों से बेखबर रहकर जड़ीभूत रूढ़ियों का अनुगमन करनेवाली रचनाएँ आधुनिक नहीं मानी जा सकतीं। उदाहरण के लिए रीतिकालीन विषयवस्तु और शैली का अनुकरण करने वाली आज की लिखी रचना समसामयिक हो सकती है, आधुनिक नहीं। यह जरूरी नहीं है कि आधुनिक होने के लिए समस्त नवीन परिवर्तनों का समर्थन ही किया जाए, उनके अस्वस्थ पक्ष का खण्डन और परम्परा के युगोपयोगी स्वस्थ-पक्ष का मण्डन या उसे युगानुकूल बनाने का प्रयास भी आधुनिकता के अन्तर्गत ही माना जायेगा।

कब तक की रचनाओं को आधुनिक माना जाए? इस प्रश्न के उत्तर के लिए वैचारिक आधार यही हो सकता है कि जो साहित्यिक प्रवृत्तियाँ आज भी जीवन्त रूप से नवीन रचनाओं में रूप पा रही हैं, उनके उद्भवकाल तक

आधुनिकता का विस्तार किया जा सकता है। मोटे तौर पर हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में भारतेन्दु के समय से आधुनिक काल माना जाता है। यह सच है कि भारतेन्दु के साहित्य में व्यक्त प्रवृत्तियां अपने समय के लिए क्रांतिकारी थीं और रीतिकाल से उनका बिलगाव बहुत साफ झलकता है, लेकिन आज के सन्दर्भ में वे भी पुरानी पड़ गयी हैं। द्विवेदीयुग और छायावाद-युग की कविता, विशेषतः छायावाद की कविता, हिन्दी-साहित्य की गौरव-निधि है, किन्तु फिर भी यह साफ है कि सृजनात्मकता की दृष्टि से वह आज की कविता के जीवित वर्तमान का अंग नहीं है। इस लेख में छायावादोत्तर हिन्दी कविता को ही आधुनिक हिन्दी कविता के रूप में स्वीकारा गया है। प्रस्तुत लेख न तो इस काल की समस्त कृतियों का परिचायक है, न किसी एक ही काव्य-आन्दोलन का पक्षधर : आधुनिक हिन्दी काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचायात्मक विवेचन ही इसका उद्देश्य है।

छायावाद की विरासत थी नवीन जीवनदृष्टि की रागात्मक स्वीकृति, भारतीय पुनर्जागरण की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति, अतिशय कोमल, भावुक, अशरीरी प्रणय-निवेदन, प्रकृति के प्रति गहरा आत्मनिष्ठ अनुराग, वैयक्तिकता का पोषण, कल्पना का ऐश्वर्य एवं जीवन की स्थूलताओं की तुलना में सूक्ष्मता के प्रति, यथार्थवाद के स्थान पर स्वच्छन्दतावाद, रहस्यवाद के प्रति आग्रह। इसी के अनुरूप छायावादी काव्य-शिल्प में प्राकृतिक बिम्बों एवं प्रतीकों की प्रधानता, लाक्षणिकता, भाषा की कोमल, मधुर, अलंकृत वक्रता भी थी। देश की तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों ने साहित्य से और अधिक स्पष्टता, यथार्थता, बौद्धिकता और संघर्षशीलता की माँग की। छायावादी कवियों को स्वयं लगने लगा कि बदलते हुए युग में उनकी जीवनदृष्टि और शैली का बदलना आवश्यक हो उठा है। 'कामायनी' के रूप में छायावाद ने १९३६ में अपनी चरम उपलब्धि दी और उसी वर्ष 'युगान्त' के माध्यम से उसने घोषित किया कि उसका युग समाप्त हो चला है। उसी वर्ष भारत में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई और उसके द्वारा सन् ३० से ही धीरे-धीरे जोर पकड़ते हुए समाजवादी चिन्तन की साहित्यिक अभिव्यक्ति का सुसंगठित आन्दोलन आरम्भ हुआ। काव्य-चेतना ने एक जबर्दस्त मोड़ लिया और अनेक धाराओं में विभक्त हो गयी जिनमें प्रगतिशीलता, वैयक्तिक प्रेमप्रधान स्वच्छन्दवादिता, राष्ट्रीयता, नैतिकता, आध्यात्मिकता, प्रयोगवादिता आदि प्रमुख हैं। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि ये धाराएँ एक-दूसरे से अछूती अलग-अलग प्रवाहित हो रही हैं, ये एक-दूसरे को प्रवाहित करती हुई कभी-कभी विरोधी-

सी लगती हुई होने पर भी एक-दूसरे से आदान-प्रदान करती हुई बढ़ रही हैं। एक ही कवि में विभिन्न तत्व उभरते हैं और बहुत बार रचनाएँ केवल आलोचकों के बनाये वर्गीकरण ही नहीं, स्वयं अपने रचयिताओं के घोषित सिद्धांतों का भी उल्लंघन करती हैं। जीवन की तरह ही सृजन को भी कोष्ठों में नहीं बाँटा जा सकता।

छायावाद को अपदस्थ कर सुसंगठित सम्प्रदाय के रूप में जिस साहित्यिक आन्दोलन ने अपने आपको बलपूर्वक प्रतिष्ठित कर लिया, वह प्रगतिवाद था। मार्क्सवाद को अपना दार्शनिक आधार मानकर, वर्ग-संघर्ष की भावना को अपना शास्त्र बनाकर, सामाजिक यथार्थ के चित्रण द्वारा साहित्य को सामन्तीय या मध्यवर्गीय दायरे से मुक्त कर उसे शोषित, पीड़ित जीवन के निकट लाने का और उसे परिवर्त्तित करने का आग्रह इस साहित्यिक आन्दोलन का था। इसने शोषित मानवता की मुक्ति की ऐसी आकर्षक एवं तर्कपूर्ण योजना की ओर संकेत किया कि एकबारगी इसकी ओर पन्त, निराला, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा तथा अन्य प्रतिष्ठित कवि झुक गये, किन्तु ये इस क्षेत्र में टिके नहीं रह सके। जैसे-जैसे यह स्पष्ट होता गया कि यह आन्दोलन वस्तुतः अपने नग्न रूप में कम्युनिस्ट पार्टी का साहित्यिक मोर्चा है, वैसे-वैसे पुराने कवि इससे अलग होते गये। प्रगतिवादी आन्दोलन ने जिन्हें कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया उनमें नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन प्रमुख हैं। एक समय में सुमन, अंचल, रांगेय राघव आदि भी इससे सम्बद्ध थे। हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य में आलोचना की ही प्रधानता है। रचना के क्षेत्र में कथा-साहित्य में ही उसे उल्लेख-योग्य सफलता प्राप्त हुई। कविता निश्चय ही उसका दुर्बल अंग है। हिन्दी की प्रगतिवादी कविता का शक्तिशाली अंग उसकी प्रखर व्यंग्यात्मकता है, उसने अभी तक ध्वंस अधिक किया है। नागार्जुन की रचनाएं 'प्रेत का बयान', 'भूदान यज्ञ', 'आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी' इसका प्रमाण हैं। पन्त की 'ग्राम्या' में और केदारनाथ अग्रवाल की 'युग की गंगा' में उसका जो विधायक रूप प्रकट हुआ था, उसे और ऊंचाई पर ले जानेवाली रचनाओं की कमी रही। प्रगतिवादी काव्य ने छायावादी भावुकता लाक्षणिक शिल्प-विधान के स्थान पर सुस्पष्ट सैद्धांतिक मान्यता और दो टूक बात कहने की सपाट शैली पर जोर दिया, जिसके परिणामस्वरूप बहुत बार वह कविता राजनीतिक नारेबाजी-सी लगने लगी। यह सच है कि साहित्य में कथ्य का बहुत महत्व होता है, लेकिन यह अभिव्यंजना-कौशल ही है जो उसे साहित्य का रूप देता है। मुझे खेद है कि प्रगतिवादी कवियों ने इस ओर कम ध्यान

दिया है। साहित्य राजनीति का अनुगामी बनकर अपना स्वतन्त्र रूप खोकर मर्यादाहीन हो जाता है। प्रगतिवादी काव्य ने जितनी सम्भावनाओं के साथ हिन्दी में प्रवेश किया था, उतनी सशक्त रचनायें वह नहीं दे पाया। सांचे ढले विचार में व्यक्ति की स्वतन्त्रता (जो साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य है) नहीं रह पाती, अतः परवर्त्ती वैयक्तिकतावादी कवियों ने प्रगतिवाद के ख़िलाफ विद्रोह कर दिया और यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि आज प्रगतिवादी काव्यधारा हिन्दी की प्रमुख काव्यधारा नहीं है। फिर भी यह सच है कि छायावादी कुहेलिका को दूर कर काव्य को जीवन के अधिक निकट लाने में, समसामयिक बनाने में, अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि प्रदान करने में, शोषित-पीड़ित वर्ग के प्रति साहित्यकारों को सचेत करने में प्रगतिवाद की देन महत्व-पूर्ण है। मुझे लगता है कि इसके कठमुल्लेपन को दूर कर इसके विधायक रूप को प्रकट करनेवाला कोई बड़ा प्रतिभाशाली कवि इसे मिला होता तो काव्य के क्षेत्र में यह धारा गौरवशाली स्थान बना सकती थी।

छायावाद के अवरोह के समय उसकी वैयक्तिकता और भावुकता को अधिक मांसल और लौकिक बनाकर प्रधानतः गीतों के माध्यम से व्यक्त किया बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, अंचल और नरेन्द्र शर्मा ने। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि इस वर्ग के कवियों ने भारी भरकम जीवन-दर्शन को अपनाकर उसे काव्य के चौखटे में बैठाने के स्थान पर अपने व्यक्तिगत हर्षोल्लास, शोक-दुःख, अश्रु और मुस्कान को भाषा देने की चेष्टा की। प्रेम इनका मुख्य विषय था। छायावादी प्रेम की अशरीरी भावना के स्थान पर इन्होंने निस्संकोच भाव से नर-नारी के आवेगमय शरीरी प्रेम को अंकित किया। यह कहा जा सकता है कि इसी वर्ग ने समाज की सहमी और नैतिक आंतक से दबी यौन भावना को सहज अभिव्यंजना दी। आरम्भ में इन्होंने भी एक रेशमी आवरण का सहारा लिया था, किन्तु शीघ्र ही अपने को उस दुर्बलता से मुक्त कर लेने में इन्हें सफलता मिली। बच्चन की स्वीकृति हैं :

> 'कल छिड़ी होगी खतम कल,
> प्रेम की मेरी कहानी।'

तथा 'मैं गाता हूँ यह प्रेम कहानी मेरी है।' सिद्धान्तों के घटाटोप की तरह इन्होंने भाषा के आभिजात्य से भी अपने आपको मुक्त रखा। परिणाम यह हुआ कि इन कवियों को अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त हुई। सच कहा जाये तो खड़ी बोली की कविता को सामान्य-जन के लिए रुचिकर और ग्राह्य बनाने में बच्चन और उनके सहयोगियों का बड़ा हाथ है। गीत तो छायावादी कवियों

ने भी लिखे थे, किन्तु उनकी अभिजात भाव-सम्पदा और अभिव्यंजनाशैली ने उन्हें साहित्य के समीक्षकों के बीच समादरणीय भले बनाया हो, जनता के कण्ठ से गूँजने का विशेष अवसर नहीं दिया था। बच्चन आदि के कार्य को और आगे बढ़ाने वालों में गोपालसिंह नेपाली, हंसकुमार तिवारी, शंभुनाथ सिंह, नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, रामावतार चेतन जैसे कवि हैं, किन्तु पचास-पचपन तक आते-आते गीतकारों की सीमाएँ प्रकट होने लगीं। केवल व्यक्तिगत अनुभव के सहारे कोई कवि बहुत आगे नहीं बढ़ सकता। महान जीवन-दृष्टि जब मस्तिष्क से आगे बढ़कर हृदय के सहज विश्वास का आधार पाती है और जब वह समर्थ अभिव्यंजना-भंगी द्वारा व्यक्त होती है, तभी श्रेष्ठ कविता का जन्म होता है। गीतकारों की लोकप्रियता उनकी सबसे बड़ी दुर्बलता और शृंखला भी बन गयी। वे जीवन के बड़े सत्यों को उनके अनुरूप परिधान में उपस्थित करने के स्थान पर सस्ती भावुकता को आसान और श्रोता को गुद-गुदा देनेवाली शब्दावली में व्यक्त करने लगे। इस प्रकार के कवि-सम्मेलनों में तो वाहवाही पाते रहे, किन्तु विचारकों की पूर्ण सहानुभूति न पा सके। लोकगीतों और लोकधुनों के द्वारा उन्हें ताजगी देने का प्रयास अभिनन्दनीय है, किन्तु अधिकांश क्षेत्रों में देखा गया कि गीतकार प्रायः अपने को दुहरा रहे हैं, सस्ती भावुकता को अपना प्रधान सम्बल बना रहे हैं और जीवन-संघर्ष से कतरा रहे हैं। प्रयोगवादियों ने अपने धुंआधार बौद्धिक प्रचार द्वारा गीतों की मर्यादा को खण्ड-खण्ड करने के प्रयास में आंशिक सफलता पायी। यह एक तथ्य है कि कवि-सम्मेलनों और फिल्मों में गीतों का मान ज्यों-ज्यों बढ़ा है, गम्भीर काव्य-रचना में त्यों-त्यों घटा है। हिन्दी के क्षेत्र में आज गीत-रचना प्रथम श्रेणी के काव्यात्मक प्रयास के रूप में स्वीकृत नहीं है। मैं समझता हूँ कि गीतों को लगा यह ग्रहण स्थायी नहीं होना चाहिए। यह कथन केवल अंशतः ठीक है कि गीतों में आज के जीवन की जटिल, संकुल अनुभूतियों को नहीं प्रकट किया जा सकता, या आज का शंकित, कुंठित कवि-हृदय अपने आनन्द या शोक की दुरूहता को व्यक्त करने के लिए लय का आधार नहीं ग्रहण करना चाहता, क्योंकि वह अपने जीवन में उखड़ेपन का अनुभव कर रहा है, बंधी हुई लय का नहीं। किन्तु मेरा विश्वास है कि यह स्थिति स्थायी नहीं हो सकती। लोक-जीवन जब-जब आस्था और विश्वास का सम्बल प्राप्त करेगा, या प्रेम की गम्भीर किन्तु सहज वेदना का अनुभव करेगा, तब-तब वह गीतों में अपने को अभिव्यक्त करेगा ही।

देश की दुरवस्था को बदलने के संकल्प से हिन्दी में जिस राष्ट्रीय काव्यधारा का प्रवर्त्तन भारतेन्दु ने किया था, उसे राष्ट्रव्यापी स्वाधीनता

आन्दोलनों से और भी प्रेरणा मिली। मैथिलीशरणगुप्त, एक भारतीय आत्मा, माधव शुक्ल आदि घोषित राष्ट्रीयतावादी कवियों की कृतियों में ही नहीं, छायावादी कवियों की रचनाओं में भी उसे गौरवपूर्ण स्थान मिला। छायावादोत्तर काल में दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, श्याम नारायण पाण्डेय जैसे कवियों ने इसे और अग्रसर किया। वस्तुतः आरम्भ में प्रगतिवादी काव्य को भी इस धारा से बहुत पोषण प्राप्त हुआ था, किन्तु जैसे-जैसे उसका सोवियत अनुगामी अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रकट होता गया, वैसे-वैसे इस धारा ने अपने को उससे पृथक कर लिया। स्वतन्त्रता के बाद महात्मा गांधी की शोचनीय हत्या एवं चीन तथा पाकिस्तान के आक्रमण के समय इस धारा में उबाल आया था। वस्तुतः इन दोनों घटनाओं पर देश के सभी श्रेष्ठ कवियों ने अपनी रचनायें प्रस्तुत की थीं जिससे यह ज्ञात होता है कि राष्ट्रीयता के प्रश्न पर ऊपरी भेदों का लोप होता रहा है। वैसे यह सच है कि स्वतन्त्रता के बाद जिस प्रकार राष्ट्रीयता भारत के जन-जीवन में ह्रासोन्मुखी है, उसी प्रकार काव्य में भी। एक छोटा सा प्रमाण यह है कि चीनी आक्रमण के समय लिखी गई सैकड़ों कविताओं में एक भी ऐसी नहीं उभरी कि जिसे हम राष्ट्रीय युद्धगीत के रूप में स्वीकार कर सकते। सम्भवतः दिनकर की 'परशुराम की प्रतीक्षा' ही इस साहित्य में अधिक स्थायित्व प्राप्त कर सकेगी।

छायावाद का अंगीभूत रहस्यवाद भारतीय जन-जीवन से अपना सम्पर्क स्थापित नहीं कर पाया था, अतः उसे जाना पड़ा। छायावादोत्तर काल में पुराने कवियों ने पुनः एक बार आध्यात्मिकता की ज्योति जगायी। इनमें निराला ने तो सीधे-सीधे अर्चना और आराधना में भक्ति-भावना को व्यंजित किया। पन्त, नरेन्द्र शर्मा तथा कुछ अन्य कवियों ने अरविन्दवादी दर्शन का सहारा लिया। पन्तजी का तो प्रगतिवादोत्तर साहित्य मुख्यतः अरविन्द से ही अनुप्राणित रहा है। नीरज ने भी अरविन्द की कुछ कविताओं के अनुवाद किये। 'मनुज पराजय के प्रतीक हैं मठ मसजिद गिरजाघर' लिखने वाले बच्चन ने भी 'जन-गीता' प्रस्तुत की, कुछ भक्तिमूलक गीत भी लिखे। नवीन ने भी 'क्वासि' की टेर लगायी किन्तु ये प्रयास कविता की प्रधान धारा नहीं बन सके। इन अधिकांशतः बौद्धिकता प्रधान आध्यात्मिक रचनाओं को जनता का स्नेह भी विशेष नहीं मिला, क्योंकि ये उन्हें दृष्टि में रखकर लिखी ही नहीं गयी थीं। मेरा विचार है कि बच्चन यदि 'जन-गीता' अवधी भाषा और दोहा चौपाई में न लिखकर खड़ी बोली और रुबाई छन्द में लिखते, तो सम्भवतः उनका श्रम अधिक सार्थक होता। भारत जैसे धर्मप्रधान देश में आधुनिक हिन्दी

कवियों की आध्यात्मिक रचनाएं केवल पुस्तकालयों की शोभा बढ़ायें, यह क्षोभ की बात है। साधारण जनता अपने अभाव की पूर्ति अच्छे कवियों द्वारा न होते देखकर अन्य प्रचलित माध्यमों का सहारा ले रही है। यह सचमुच लज्जा का विषय है कि जनता की इस भूख को मिटाने के लिए तीसरी श्रेणी के तुक्कड़, फिल्मी गानों के आधार पर आधुनिक भजनों की सृष्टि कर रहे हैं, और वे ही भजन, फिल्मी लयों में ही कथा-कीर्त्तनों के अवसर पर गाये जाते हैं, और हमारे मान्य कवि ऐसी भाषा और शैली में अपनी कृतियाँ प्रस्तुत करते हैं जिनको साधारण जनता समझ नहीं पाती।

कामायनी की सफलता से अनुप्रेरित होकर आधुनिक हिन्दी कविता में कई प्रबन्धकाव्य भी रचे गए हैं। पुरानी पीढ़ी के कवि तो अपनी शैली का निर्वाह या विकास करते रहे हैं। मैथिलीशरण गुप्त की 'विष्णुप्रिया' या 'जय भारत' आदि, सियारामशरण गुप्त की 'गोपिका', बलदेव प्रसाद मिश्र का 'साकेतसन्त' तथा कुछ अन्य कवियों की कुछ और रचनायें पुरानी परम्परा की ही हैं। दिनकर ने कुरुक्षेत्र में युद्ध के प्रश्न को सामने रखकर प्रबन्धकाव्य लेखन में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। कुरुक्षेत्र में कथा, चरित्र-चित्रण वर्णन आदि परम्परागत प्रबन्धकाव्य के तत्वों को प्रधानता नहीं मिली, केवल युद्ध की अनिवार्यता के पक्ष में बुद्धि का शंकालु हृदय के साथ विवाद दिखाया गया है। 'रश्मिरथी' में कर्म की मुख्यता को कुलीनता आदि कृत्रिम मूल्यों के ऊपर प्रतिष्ठित किया गया है। 'उर्वशी' दिनकर की सर्वश्रेष्ठ प्रबन्ध रचना है, जिसमें नर-नारी के प्रबल आकर्षणजन्य प्रेम को देह के धरातल से आरम्भ कर आत्मा के स्तर तक ले जाने की चेष्टा की गयी है। फिर भी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि उर्वशी अपने विवादास्पद कामाध्यात्म को लेकर कामायनी की स्पर्धा नहीं कर सकती। पन्तजी का 'लोकायतन' इस दिशा में नवीनतम उपलब्धि है, जिसमें सम्पूर्ण लोक-जीवन को आकलित करने का प्रयास किया गया है, पर कामायनी का स्थान यह काव्य भी नहीं ले सकता। मुझे यह भी लगता है कि इन बड़े प्रयासों के बावजूद आज का युग प्रबन्ध काव्यों के अनुकूल नहीं है। उपन्यास ने प्रबन्ध काव्य की जगह छीन ली है। यह सच है कि मानव जीवन की गहराइयों का सांकेतिक उद्घाटन जितने लचीलेपन के साथ कविता में हो सकता है, उतनी सूक्ष्म संवेदना साधारणतः गद्य में मुश्किल से आ पाती है किन्तु इसका समाधान उपयुक्त स्थलों पर उपन्यास की गद्य शैली को कविता के निकट लाना है, वृहदाकार प्रबन्ध काव्य की रचना करना नहीं। ये प्रबन्ध काव्य थोड़े से काव्य विशेषज्ञों की बौद्धिक और भावात्मक परितृप्ति भले कर लें, जनता की शक्ति नहीं बन सकते।

आधुनिक हिन्दी कविता की विशेष मान्यता-प्राप्त काव्यधारा प्रयोगवाद या नयी कविता है। वास्तव में इस धारा का आरम्भ प्रगतिवादी परिवेश में ही हुआ था। शुरू-शुरू में अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेरबहादुर सिंह, भवानीप्रसाद मिश्र, भारतभूषण अग्रवाल आदि प्रगतिशील खेमे के ही माने जाते थे। १९४३ में अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'तार सप्तक' प्रकाशित हुआ। उसी की भूमिका में बार-बार 'प्रयोग', 'राहों के अन्वेषी', 'प्रयोगशील' जैसे शब्दों के व्यवहार के कारण इस काव्यधारा को 'प्रयोगवाद' नाम प्राप्त हुआ, जिसे दूसरे सप्तक की भूमिका मे अज्ञेय ने यह कर अस्वीकारा कि प्रयोग कविता का सहज धर्म है, उसका कोई वाद नहीं होता, प्रयोगवादी कहना कवितावादी कहने के समान ही कोई अर्थ नहीं रखता। बाद में इस धारा को नयी कविता कहा गया ताकि इसे एक तरफ साम्प्रदायिकता की गन्ध से मुक्ति मिले, दूसरी तरफ आधुनिक हिन्दी कविता के नवीनतम रूप के प्रतिनिधित्व का गौरव। प्रयोगवाद या नयी कविता को अपनी प्रतिष्ठा के लिए द्विमुखी संघर्ष करना पड़ा। एक तरफ तो छायावादी (जो तब तक परम्परावादी बन चुके थे।) समीक्षक थे और दूसरी तरफ प्रगतिवादी समीक्षक और कवि। परम्परावादियों का अभियोग था कि यह काव्यधारा टी० एस० ईलियट, डी० एच० लारेंस आदि की कविताओं तथा सार्त्र आदि के अनास्थावादी दर्शन का अन्धानुगमन है, अतः अभारतीय है, काव्य के स्थापित सिद्धान्तों यथा रसवाद के विरुद्ध है आदि आदि। प्रगतिवादियों का आरोप था कि यह प्रगतिशील आन्दोलन को गुमराह करने के लिए पूंजीवादी क्षयिष्णु संस्कृति के समर्थकों का षड्यन्त्र है, निरा रूपवाद है, आस्थाहीन व्यक्तिवादियों का लक्ष्यहीन विद्रोह है आदि आदि। किन्तु नयी-कविता के पीछे अज्ञेय, मुक्तिबोध गिरिजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्र, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, रघुवंश जैसे श्रेष्ठ कवि और विचारक थे, अतः सारे आघातों को झेल कर उन्होंने अपने को प्रतिष्ठित कर लिया।

इन नये कवियों की मान्यता है कि व्यक्ति समाज पर आश्रित होकर भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है, जैसे नदी का द्वीप। निश्चय ही नदी द्वीप को आकार देती है किन्तु द्वीप धारा नहीं है यदि बनना चाहेगा तो धारा को गंदला ही बनाएगा। फिर यह भी कि व्यक्ति मानव ही समस्त मूल्यों का उद्गम है, उसके थके हुए अपराजेय चरण ही उसे शरण दे सकते हैं। बंजर होते हुए समाज में व्याप्त कुंठा, अनास्था, घुटन और टूटन को ईमानदारी से व्यक्त करना, विश्व में विज्ञान के विकास के कारण उत्पन्न पूर्वधारणाओं के मोहभंग की तीखी पीड़ा को झेलना और साँचे में ढले समाज द्वारा व्यक्ति को

ग्रस लिए जाने के संकट का विरोध करना उसका स्वाभाविक कार्य है। काव्य के रूप के प्रति शिल्प के प्रति अत्यधिक सचेत रह अपनी अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शैली और भाषा का चुनाव करने के लिए वह दृढ़ प्रतिज्ञ है। उसकी प्रतिबद्धता (कमिटमेंट) किसी बाह्य ईश्वर, सिद्धांत या दल के प्रति न होकर अपनी ईमानदारी के प्रति है।

मैं इस काव्यधारा के अतिशय व्यक्तिवादी, अनास्थावादी अंश को मूलतः अशिव मानते हुए भी यह स्वीकार करता हूँ कि पश्चिमी संस्कृति के विघटन और तृतीय विश्व युद्ध के फलस्वरूप सर्वनाश की आशंकापूर्ण तनाव से भरी परिस्थिति के कारण ऐसी प्रवृत्ति के पनपने का आधार अवश्य है। यह ठीक है कि अपने देश का समष्टि मन उस गहरे संकट की छाया में अभी तक आक्रान्त नहीं हुआ है किन्तु स्वतन्त्रता के बाद जिस तेजी से हमारा नैतिक पतन हुआ है उसके परिणामस्वरूप निराभा और अनास्था बढ़ती जा रही फिर भी नयी कविता में केवल निराशा और अनास्था ही नही है। यह भी मानना चाहिए कि नयी कविता ने प्रगतिवाद की तुलना में अधिक अच्छे कवि दिये हैं। यह सच है कि नयी-कविता के नाम पर बहुत कुछ काव्याभास भी रचा गया है और निश्चय ही वह अंश किसी सम्प्रदाय या गुट की छाप पा जाने के कारण ही नहीं जी सकता किन्तु यह भी सच है कि नयी-कविता में पर्याप्त मात्रा में ऐसी रचनाएँ भी हैं जो निश्चय ही अच्छी कविता भी हैं और नयी भी ! हाँ, यह जरूर है कि वह पाठक से मांग करती है कि उसको समझने के लिए और सराहने के लिए वह भी नया संस्कार प्राप्त करे।

मुझे यह भी लगता है कि मठाधीशों के वक्तव्यों से जितना विरोध और बिलगाव प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कविताओं में लगता है, वह वस्तुतः सिद्धांतों में है कृतियों में नहीं। आपको दोनों खेमों के कवियों की ऐसी बहुत सी रचनायें मिल जायेंगी जिनके कवि का नाम जानकर ही भेदवादी आलोचक उन्हें किसी साम्प्रदायिक कठघरे में बन्द कर सकता है। व्यक्तिवाद और वर्ग-वाद के दो छोरों के बीच की भी भूमि काफी विस्तृत है और उस पर बहुत से कवि चल रहे हैं।

मेरी यह भी धारणा है कि विश्वकाव्य के निकट आने की दौड़ में हमारा नया कवि तो आगे बढ़ आया है किन्तु सामान्य काव्य प्रेमी पीछे छूट गया है। नये कवियों का यह दावा मुझे बहुत संगत नहीं लगता कि पाठक ही उन तक आकर उन्हें समझने की चेष्टा करें। अपने आधार से सामान्य काव्य प्रेमी से सम्बन्ध न जोड़ पाने के कारण ही नयी कविता अभी तक वास्तविक

शक्ति नहीं संचित कर सकी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु की देन का मूल्यांकन करते हुए लिखा था कि उनके समय सामान्य शिक्षित समाज आगे बढ़ चुका था और हिन्दी काव्य पीछे छूट गया था, भारतेन्दु ने सेतु बनकर उस विच्छेद को दूर कर दिया था। आज स्थिति उलट गयी है, काव्य आधुनिकता···नवीनता की झोंक में आगे बढ़ गया है, और साधारण समाज बहुत पीछे छूट गया है। द्विवेदी-युग के बाद हिन्दी कविता का हर कदम उसे अपने देश की सामान्य जनता से दूर करता गया है। प्रगतिवाद में ऊपरी दृष्टि से लगता है कि वह लोकजीवन के साथ है किन्तु अपनी समस्त जनवादी घोषणाओं के बावजूद भारतीय जनता के मूलभूत विश्वासों के विपरीत होने के कारण यह काव्य भारत के जन-मानस को न तो स्पन्दित कर पाया न लोक कण्ठ में गूँज हो सका। नयी कविता का तो इधर ध्यान ही नहीं है।

मैं तो उस कवि या काव्य-आन्दोलन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ जो नवीन काव्य और सामान्य काव्य-रसिक के बीच की इस बढ़ती हुई खाई को पाटने में समर्थ होगा, जो नया भी होगा और लोक मानस से सम्पृक्त भी! मेरा विश्वास है कि तुलसी और सूर की भाषा ऐसे कवि अवश्य देगी और शीघ्र देगी।

• •

१६.

अत्याधुनिक हिन्दी कविता में

सम-सामयिक जीवन की झलक

जीवन और कविता का अविच्छेद्य सम्बन्ध सिद्धान्त रूप में सनातन सत्य होता हुआ भी व्यवहार के क्षेत्र में हमेशा एक जैसा नहीं होता। प्रत्येक युग के काव्य में जीवन का प्रतिफलन उस युग के काव्यादर्शों के अनुरूप ही होता है। साधारण तौर पर प्राचीन एवं मध्ययुगीन काव्य में दिव्य, भव्य, उदात्त और सुन्दर का ही चित्रण किया जाता था, विषय चाहे भगवद् भक्ति हो या मानवीय प्रेम एवं शौर्य अथवा प्रकृति किंवा कुछ और। किन्तु आज का युगबोध भिन्न है, जिन विषयों, पात्रों, वस्तुओं, स्थितियों को पुराने लोग तुच्छ, साधारण, निकृष्ट, त्याज्य, अश्लील मानते रहे हैं, आज उनको भी महत्व प्राप्त है, उनमें भी सौन्दर्य का दर्शन या मानवीय संवेदना को प्रभावित करने की धक्कामार क्षमता का अन्वेषण किया गया है। स्वाभाविक रूप से अब काव्य के विषय सीमित नहीं रहे। यह निश्चय ही स्वागत योग्य बात है। मुक्ति बोध का यह अनुभव आज के कवियों का सामान्य अनुभव है कि,

> जीवन में आज के
> लेखक की कठिनाई यह नहीं कि
> कमी है विषयों की,
> वरन् यह कि आधिक्य उनका ही
> उसको सताता है
> और वह ठीक चुनाव कर नहीं पाता है।

ठीक चुनाव न कर पाने की समस्या तो शुरू से ही रही है, हाँ, विकल्पों की वृद्धि के कारण आज और कठिन अवश्य हो गयी है।

कठिनता और जटिलता आज के जीवन की प्रमुख विशेषतायें हैं। अद्भुत विरोधाभासी समय में रह रहे हैं हम लोग! एक तरफ विज्ञान के नये-नये आविष्कारों से कठिन को आसान बनाने की अथक चेष्टा हो रही है, दूसरी ओर अर्थनीति और राजनीति के दुष्चक्र में फँसकर सहज कठिन बनता जा रहा है। एक तरफ चाँद सितारे पड़ोसी बनते चले जा रहे हैं, दूसरी तरफ

औरों की बात ही क्या अपने हो अभिन्न अपने से अलग, पराये, अजनबी बनते जा रहे हैं। केदारनाथ सिंह ने इसी को यों कहा है,

> और यह समय है
> जब रक्त की शिरा
> शरीर से कटकर अलग हो जाती है।
> और यह समय है
> जब मेरे जूते के अन्दर की एक नन्हीं सी कील
> तारों को गड़ने लगती है।

इस अद्भुत समय की कविता में उभरनेवाली छवियाँ भी अद्भुत हैं। सीधे सहज ढंग से सीधी सहज बात सीधे सहज लोग ही कह सकते हैं। आज के उलझाव और भटकाव से भरे जीवन की स्थितियाँ यदि उलझी और भटकी हुई हैं तो अभिव्यक्ति भी साधारणतः वैसी ही होने को बाध्य है। क्यों है यह भटकाव ? सबसे पहला कारण यह है कि लोगों ने पुराने मूल्यों को, मार्गों को तो नकार दिया है किन्तु किसी नये मार्ग को पूरी आस्था के साथ नहीं गहा है। पुराने मार्गों को त्यागते समय अपने को विशिष्ट मानने का बोध, एक प्रकार का आत्मगौरव तो होता ही है, सर्वेश्वर की इन पंक्तियों में उसी की झलक आपको मिलेगी,

> लीक पर वे चलें जिनके
> चरण दुर्बल और हारे हैं,
> हमें तो जो हमारी यात्रा से बने
> ऐसे अनिर्मित पन्थ प्यारे हैं।

यहाँ तक तो ठीक, किन्तु ये अनिर्मित पन्थ ले कहाँ जायेंगे ? कोई नहीं जानता। बल्कि ज्ञात यह भी नहीं है कि जाना कहाँ है। बहुत से लोग बहुत से लक्ष्यों तक पहुँचना चाहते थे किन्तु उन्होंने यह पाया कि तथाकथित मसीहाओं ने उन्हें धोखा दिया है और गन्तव्य तक ले जाने के स्थान पर अन्धी गलियों में भटका दिया है। परिणाम यह है कि बहुत से बुद्धिजीवी कवि अब अज्ञेय के शब्दों में विश्वास करने लगे हैं कि, 'यात्रा नितान्त यात्रा है, कोई मतवाद, कोई प्रतिष्ठान पीछे नहीं है, कोई गन्तव्य, कोई आश्वासन आगे नहीं है।' ऐसे में अन्धेरे में अकेले सहसा जागकर यह पहचानने वाले कि जो मेरा है, वही ममेतर है, तो बिरले ही होंगे, अधिकतर ऐसे ही हैं जो अपने को

इतरों से घिरा अकेला पाते हैं और कुछ सार्थक कर न पाने की व्यथा से छटपटाते रहते हैं। श्रीकान्त वर्मा की स्वीकारोक्ति है :

आख़िर मैं लूँ भी तो किससे सलाह ?
दिन चढ़ते-चढ़ते मैं अकेला हो जाता हूँ।
मैं हरेक रास्ते पर कुछ दूर चलकर पाता हूँ
यह रास्ता गलत था !

हाल के वर्षों में प्रकाशित कुछ प्रमुख कवियों के कविता-संकलनों के नामों से ही यह मनःस्थिति झलक उठती है। किसी गहरी पीड़ा से आक्रान्त होने पर ही अपने श्रेष्ठ सर्जनात्मक अर्घ्य का नामकरण उन्होंने किया होगा, संशय की एक रात, अन्धा युग, प्यासी पथराई आँखें, चाँद का मुँह टेढ़ा है, एक सूनी नाव, आत्महत्या के विरुद्ध, देहान्त से हटकर, माया दर्पण, अकेले कंठ की पुकार आदि, आदि। यह ठीक है कि आँगन के पार द्वार, सतरंगे पंखों वाली, फूल नहीं रँग बोलते हैं, आत्मजयी जैसे कुछ आस्थापरक नाम असंदिग्ध रूप से यह संकेत देते हैं कि बरसते हुए अन्धकार से दीप की लौ बुझी नहीं, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस पर कई आवरण चढ़ गये हैं।

हमारे कवियों को प्रवंचना का अनुभव अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर हुआ है। इसी से फूटी है वह अनास्था जो भविष्य को नकारने वाली मृत्यु कामना में बदल जाती है। आजके जीवन की विसंगतियों को न झेल पाने की कातरता ही व्यक्त हुई है कैलाश वाजपेयी की इन पंक्तियों में,

दोनों ध्रुवान्तों तक फैली हैं विकृतियाँ,
आदमी
एक दूसरे को बदसूरत करते हुए
फाड़ते, निचोड़ते, फटते चिरते हुए
अब इस भगदड़ में जो पहले कुचल जाय अच्छा है।
बेशुमार आँखों की नींद
थोड़े से लोगों की सुविधा है।
इस सबके बाद भी रामजी का होना
काफी बेहूदा है;
अब जबकि होड़ है कोढ़ और पागलपन में
जिसका दम पहले निकल जाये अच्छा है।

निश्चय ही यह मनःस्थिति अस्वस्थ है, किन्तु यह कहना झूठ होगा कि अकारण है। इसके मूल में है वह क्षोभयुक्त वेदना जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर

यदि प्रजातंत्र और समाजवाद के डिंडिमनाद से संसार के आकाश को गुँजानेवाले राष्ट्रों के लज्जाजनक आचरणों से उत्पन्न अरचित भविष्य की आशंका का परिणाम है तो राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक भ्रष्टाचार, दिशामूढ़ता एवं निर्लज्ज स्वार्थ-परता का। मानवयुक्ति और स्वतंत्रता के स्वप्नों को इस प्रकार धूमिल पड़ते देखकर ही कवि 'कह उठा है, 'इतना साधारण अन्त नहीं देखा हमने किसी आग का। इस संदर्भ में याद आती है, रघुवीर सहाय की ये सटीक पंक्तियाँ :

बीस वर्ष खो गये भरमे उपदेश में
एक पूरी पीढ़ी जनमी, पली, पुसी क्लेश में
बेगानी हो गयी अपने ही देश में !

आज की अधिकांश हिन्दी कविता नगरवासी मध्यवित्त बल्कि निम्न मध्यवित्त कवियों द्वारा लिखा जा रही है। गाँवों की हरी भूमि से उखड़े हुए ये लोग नगरों विशेषकर महानगरों के कंक्रीटी जीवन की स्वार्थांधता और हृदयहीनता में मानवता की मृत्यु का साक्षात्कार करें तो आश्चर्यित नहीं होना चाहिए। आजके नागरिक जीवन पर सर्वेश्वर की एक कड़वी कविता है :

बड़ी से बड़ी बात
हवा में धूल की तरह उड़ जाती है—
प्रार्थना घरों के घंटे तक
जंगली जानवरों की तरह
दुर्गन्ध सूँघते मिलते हैं;
और ईश्वर का नाम
हर कमीने चेहरे पर मुखौटा बन जाता है।
आस्था के नाम पर मूर्खता,
विवेक के नाम पर कायरता,
सफलता के नाम पर नीचता
मुहर की तरह हर व्यक्ति पर लगी हुई है।
और एक लाश दूसरी लाश को
इन्हीं साँचों में ढालती जाती है
इस मृत नगर में !

महानगरों के निम्नमध्यवित्त नागरिक घरों में नहीं, आदमियों के तबेलों में बास करते हैं, बोझ ढोनेवालों को तबेला ही नसीब होता है, चाहे वे घोड़ों, खच्चरों के रूप में जन्में, चाहे आदमियों के रूप में। नागार्जुन की कविता

'आदम का तबेला' नंगी सच्चाई को ही उजागर करती है, काल्पनिक अति-रंजित स्थिति को नहीं !

चुरते रहते हैं ढाई सौ प्राण
सत्रह कोठरियों में--
हैजा भी नहीं होता है,
काली माई को दया भी नहीं आती है।
एक बम्बा है, तीन लैट्रिन
देखकर पानी का मोर्चा
पसीने को आती है शर्म
ऊपर देखते हैं खाली बाल्टियों के ढेर
पितरों की प्यासी रूहें।
अँगूठा चूसती है नवजात बच्ची
खिड़की से लटका दिया गया है लाल खिलौना।

और इसी नगर के एक दूसरे कोने में किसी लक्ष्मी के लाड़ले के घर होने वाली शादी का चित्रण करते हुए नागार्जुन ने ही लिखा है :

शादी क्या है, वैभव का है यह उन्मत्त प्रदर्शन
रेशम की यह चकाचौंध, मणिमुक्ता का उद्दीपन
पास पड़ोस उजागर हैं, बिजली लेती अँगड़ाई
थिरक रही है माइक पर उस्तादों की शहनाई
बिजली की ट्यूबों से भास्वर क्या पंडाल सजा है
कौन कहेगा इसे रात, बस दो ही एक बजा है
कारों के जमघट देखो, देखो कुबेर के छौने
ये लक्ष्मी के निजी लाड़ले, हम लगते हैं बौने।

इस विषमता की चक्की में पिसता हुआ मध्यवर्गीय कर्मजीवी व्यक्ति शाम को घर पर पहुँचने पर कभी-कभी क्या प्रायः अपने को विदेह पाता है, एक नये प्रकार का विदेह, क्योंकि भारतभूषण अग्रवाल की तरह उसे भी लगता है :

भूल से मैं सिर छोड़ आया हूँ दफ्तर में
हाथ बस में ही टँगे रह गए
आँखें ज़रूर फाइलों में ही उलझ गयीं
मुँह टेलीफोन से ही चिपटा-सटा होगा

और पैर हो-न-हो क्यू में रह गये हैं—
तभी तो मैं आज घर आया हूँ विदेह ही।

और उनके इस व्यंग्यपूर्ण प्रश्न में बहुतों के प्रश्न शामिल हैं—

देहहीन जीवन की कल्पना तो
भारतीय संस्कृति का सार है
पर क्या उसमें यह थकान भी शामिल है
जो मुझ अंगहीन को दबोचे ही जाती है ?

यह थकान केवल तन की नहीं, मन और मस्तिष्क की भी है।

थका और भटका हुआ मन, मर्यादा और नैतिकता को बन्धन माननेवाला उच्छृङ्खल और भोगपिपासु मन, प्रेम में एकनिष्ठ समर्पण कैसे करे। अतः उसकी परिणति यदि एक ओर इन्दु जैन के अनुसार 'प्रिय को अन्य बाहों में समर्पित जान, स्वयं भी अन्यत्र समर्पित है' में होती है तो दूसरी ओर श्रीकांत वर्मा के अनुसार, 'बाध्य हैं हम दोनों एक दूसरे से घृणा करते हुए, करने को प्यार' में। फिर भी यह भी सच है कि प्रेम का गहरा स्पर्श आज भी पावन-कारी है, कैलाश वाजपेयी की साखी है :

विद्युत् की तरल धार
जैसे बहने लगे भीतर शिराओं में
और सारी कालिमा
चन्दन का फूल बन महक उठे
अपरिचित लगने लगे
पीली उदासी
और हर चाह जैसे
उपलब्धि बनने को मचल उठे।
होठों से उठे एक लय केकापंखी—
और छा जाये पूरे अन्तराल में।
तेरा दुलार
ओ मनःसंगिनी !
ठंडा ठहराव है
निरवधि काल में !

दूसरी ओर थका हुआ मस्तिष्क लेकर आज का कवि विघटित होते हुए मूल्यों को न तो अपना समर्थन दे पाता है, न नये मूल्यों का निर्माण ही कर

पाता है। रास्ते पर दूसरे का पड़ा हुआ सत्य उसे उठाना स्वीकार नहीं और अपने पास भ्रान्ति के अतिरिक्त और कोई आधार नहीं। किन्तु इस पुराने देश की परम्परागत आस्था नहीं, नहीं करते रहने पर भी कवियों को अपनी संजीवनी का स्पर्श देती ही है। मोटे तौर पर इसे सच मान लेने पर भी कि छायावादोत्तर हिन्दी कविता में आस्तिकता नास्तिकता का प्रश्न अप्रासंगिक हो गया है, इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि हमारी आज की कविता में तमाम कड़ुआहट के बाद भी एक सुर श्रद्धा का है, विश्वास का है, समर्पण का है, और निश्चय ही हमारे उस अवचेतन जातीय मानस का यह दान है जो प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति में भी बिना टूटे प्रतीक्षा करता है रामत्व की विजय की, प्रस्तुति करता है उसका एक साधन बनने की सदा श्रद्धामय हो, पंक्ति को—भक्ति को समर्पित हो जाता है। इसी की कुरेदन से अकुलाकर मुक्तिबोध अपने मन को धिक्कार उठते हैं :

ओ मेरे आदर्शवादी मन
ओ मेरे सिद्धान्तवादी मन
अब तक क्या किया ?
जीवन क्या जिया !!
... ...
बहुत बहुत ज्यादा लिया
दिया बहुत बहुत कम
मर गया देश,
अरे, जीवित रह गये तुम !

भविष्य की आशा इसी चेतना पर अवलम्बित है।

● ●

१७.

कुछ समस्याएँ :

नाटक के दर्शकों और समीक्षकों की

"मैंने उन कम्पनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं जो चार चलते अभिनेताओं को एकत्र कर कुछ पैसा जुटाकर, चार पर्दे मँगनी माँग लेती हैं और चवन्नी-अठन्नी के टिकट पर इक्केवाले, खींचेवाले और दूकानदारों को बटोरकर जगह-जगह प्रहसन करती फिरती हैं। उत्तर रामचरित, शकुन्तला या मुद्राराक्षस कभी न ऐसे अभिनेताओं द्वारा अभिनीत हो सकते हैं और न जनसाधारण में रसोद्रेक का कारण बन सकते हैं। उनकी काव्य प्रधान शैली कुछ विशेषता चाहती है....यदि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हों, सुरुचि सम्पन्न सामाजिक हों और पर्याप्त द्रव्य काम में लाया जाय तो ये नाटक अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं।"

—श्री जयशंकर प्रसाद

"विक्टोरिया कम्पनी के उत्साही मालिक इसे विलायत भी ले गये थे, परन्तु वहाँ उन्हें सफलता न मिली। मिलती भी कैसे ? भारत सरीखी अनपढ़ जनता तो वहाँ थी नहीं जो छिछोरेपन की हँसी-दिल्लगी और कृत्रिम हावभाव भंगिमा पर ही तालियाँ पीटने लग जाती।"

—डा० सोमनाथ गुप्त

इन क्षोभपूर्ण उद्धरणों में हिन्दी नाटकों की अनुन्नति के एक बड़े कारण की ओर संकेत किया गया है। हमारा दर्शक-समाज प्रबुद्ध नहीं है। वह न तो नाट्य-कला और उसके पुजारियों को पर्याप्त सम्मान देता है, न उनसे सूक्ष्म और उच्चस्तरीय कला-प्रदर्शन की अपेक्षा रखता है। सस्ता मनोरंजन उसके लिए काफी है। ऐसी परिस्थिति में विकास कैसे सम्भव हो सकता है ?

संस्कृत के महिमाशाली नाटकों का आविर्भाव जिस सहृदय सामाजिक वर्ग की प्रेरणा से हुआ था, उसका कुछ अनुमान कालिदास द्वारा अपने दर्शकों के लिए प्रयुक्त विशेषणों से किया जा सकता है। विक्रमादित्य को रसभाव विशेष दीक्षागुरु एवं उसकी सभा को भूयिष्ठा विद्वत् परिषद् तथा सदस्यों को आर्य विदग्ध मिश्र की उपाधि कालिदास ने यों ही नहीं दी होगी।

मध्ययुग में देश के सांस्कृतिक अधोगमन के कारण कलाओं और कलाकारों का सम्मान जाता रहा। नाटक तो लुप्त हो ही गया। धार्मिक प्रेरणा से रामलीला या रासलीला तथा मनोविनोद की दृष्टि से भाँडों या नौटकीबाजों का प्रदर्शन जनता देख लिया करती थी। इनमें भाग लेनेवाले कलाकारों को दर्शक वाहवाही भी देते थे और कुछ पैसे भी किन्तु इनके पेशे को सम्मान नहीं देते थे, इन्हें गंभीरता से ग्रहण नहीं करते थे। इसी मनोवृत्ति ने पारसी रंगमंच को लोकप्रियता भी दी और पर्याप्त आर्थिक सफलता भी। व्यापारिक दृष्टि होने के कारण पारसी कम्पनियों ने जनता को वही दिया जो उसे प्रेय था, वह नहीं जो साहित्य और समाज के लिए श्रेय बन सकता। शिकायत उनसे क्या हो सकती है, शिकायत तो उनसे है जो हिन्दी भाषी समाज के अगुआ थे, जो न इन फूहड़ प्रदर्शनों का तीव्र प्रतिवाद कर सके, न विकल्प के रूप में सामान्य दर्शकों के समक्ष उनसे श्रेष्ठ नाट्यरूप उपस्थित करने की स्थायी व्यवस्था कर सके। ऐसा तो नहीं है कि प्रतिवाद हुआ ही न हो, भारतेन्दु जब प्रमदाचरण मिश्र के साथ पारसी के शकुन्तला नाटक के बीच से उठकर चले आये थे, या प्रसाद रायकृष्णदास के साथ अशोक के अभिनय को भ्रष्ट समझकर रंगशाला त्यागने के लिए बाध्य हुए थे तब वे हिन्दी के प्रबुद्ध दर्शकों की भावना का प्रतिनिधित्व ही कर रहे थे। ऐसे ही दर्शकों के दबाव से पारसी कम्पनियों को भी वीर अभिमन्यु, सीता-बनबास जैसे कुछ सुरुचिपूर्ण नाटक खेलने पड़े थे, किन्तु व्यापार रुचि-परिष्कार नहीं करता रुचि का उपभोग मात्र करता है।

यह भी सोचने की बात है कि अव्यावसायिक साहित्यिक नाट्य-मंडलियाँ क्यों सफल नहीं हो सकीं? ऐसा लगता है कि अन्य कारणों के साथ-साथ एक बड़ा कारण यह भी है कि उन्होंने दर्शकों की रुचि का पूर्ण उपयोग नहीं किया। परिष्कार की धुन में वे इतने आगे बढ़ गये कि दर्शक उनका साथ नहीं दे पाये।

हिन्दी नाट्य-क्षेत्र में दर्शकों के महत्व का सम्यक् विचार नहीं हुआ है, या तो उन्हें कोसा गया है या एक कल्पित आदर्श दर्शक-समाज की कल्पना करके नाटक लिखे और खेले जाने के छिटपुट प्रयास हुए हैं। परिणाम वही हुआ जो होना चाहिए था। उन प्रयासों को सफलता नहीं मिली। कालिदास की मान्यता 'नाट्यं भिन्नं रुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्' अर्थात् भिन्न रुचियों के व्यक्तियों को आनन्द देनेवाला उत्सव प्रायः नाटक ही है, आज के नाटककारों एवं परिचालकों का भी मार्ग दर्शन कर सकती है। नाटक ऐसा होना ही चाहिए जिसमें दर्शकों के विविध वर्गों को तृप्तिदान की योजना हो। यदि

सचमुच नाट्य आन्दोलन को सफल बनाना है तो नाटकों के लेखन, विकास एवं प्रस्तुतीकरण में दर्शक वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका को गंभीरता से समझना होगा।

स्पष्टतः दर्शक का नाटक में महत्वपूर्ण स्थान है। अन्य कोई भी लेखक, कोई भी कलाकार उन व्यक्तियों से उतना संबंधित नहीं है जो कि उनकी कृतियों के सम्पर्क में आते जितना कि नाटयकार अथवा परिचालक। रंगमंच सम्बन्धी सारी चेष्टाओं का केन्द्र-विन्दु दर्शक ही है, वही रंगमंच का नियामक है एवं उसी को ध्यान में रखकर उसी के लिए, उस तक पहुँचने के निमित्त, उसकी भावनाओं को छूने उसकी बुद्धि को झकझोरने के उद्देश्य से ही नाटक मंचस्थ होता है।

नाटक में दर्शक एक समूह न रहकर एक इकाई बन जाता है और एक इकाई के रूप में ही वह प्रस्तुतीकरण के समय कला निर्माण में सहायक होता है। वह प्रेक्षागृह में मूक बैठा केवल देखता-सुनता ही नहीं रहता। अभिनय एक परिणत कलाकृति के रूप में उसके सामने परिवेशित नहीं होता, वरन् उसके सम्मुख, उसकी उपस्थिति में अभिनेता, परिचालक-आलोक-निर्देशक आदि अन्य कलाकार जिस कलाकृति के निर्माण में संलग्न रहते हैं जिस वातावरण, जिन भावनाओं की सृष्टि में सचेष्ट रहते हैं दर्शक भी उसमें सहायक होता है और वही प्रस्तुतीकरण सफल होता है जिसमें रंगमंच के कलाकार दर्शकों के साथ समरसता स्थापित कर पाते हैं एक साथ परस्पर सहयोग से निर्माण में सफल हो पाते हैं। यदि मंचस्थ होने वाली कलात्मक अभिव्यक्ति दर्शक की कलात्मक अनुभूति नहीं बन पाती तो वह अधूरी रह जाती है कलात्मक सृजन के चरम उत्कर्ष को नहीं पहुँच पाती है। अभिनय का निर्माण अन्तिम अभ्यास के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता, वह तब तक चलता रहता है जब तक अभिनय के समाप्त होने पर कलाकारों की अभ्यर्थना में बजती हुई तालियाँ गूँजती रहती हैं।

आधुनिक हिन्दी अभिनय का दर्शक, पाश्चात्य दर्शकों से तो भिन्न है ही—बंगाली, मराठी, दर्शकों से भी भिन्न है। हिन्दी में चूँकि रंगमंच ही नहीं है, अतः दर्शक भी नहीं हैं। लोक-नाट्य के दर्शन अधिकांशतः धार्मिक भावनाओं से या केवल मनोविनोद के लिए ही मंच की ओर आकृष्ट होते हैं। पारसी नाटकों का दर्शक तो केवल सस्ते मनोरंजन को, छिछली भावनाओं को ही अभिनय में खोजता था और खोजता है भी। शौकिया नाटकों के दर्शक को

न तो नाटक देखने की आदत है, न भूख। वह नाटक में जाता है तो या तो दबाव में पड़कर या मनोरंजन की आशा से। यदि किसी प्रसिद्ध कृति के प्रदर्शन का आयोजन हो तो शायद कुछ छात्र भी पहुँच जाते हैं उस कृति या लेखक के प्रति आकर्षण से।

अब जब हिन्दी में नाट्य-दर्शक ही नहीं हैं तो रंगमंच की स्थापना कैसे हो और जब तक रंगमंच न हो, दर्शक कहाँ से आयें, नाटक कहाँ से लिखे जायें और क्यों लिखे जायें? इसी तरह के वृत्त में रंगमंच सम्बन्धी प्रश्न घूमते रहते हैं और उनका निराकरण नहीं हो पाता। परन्तु कहीं से तो प्रयास करना ही है। और वह विन्दु है ऐसे रंगमंच की स्थापना का जिसे कि हिन्दी भाषी जनता का वह वर्ग स्वीकार कर सके जिसके नाट्य दर्शक होने की संभावना है। प्रश्न है उस वर्ग की खोज का, उसकी रुचि उसकी अपेक्षाओं के विश्लेषण का और साथ ही प्रश्न यह भी है कि क्या उस वर्ग की रुचि के सामने रंगमंच पूर्ण रूपेण आत्मसमर्पण कर दे, या रंगमंच अपने आदर्शों पर दृढ़ रहकर उस वर्ग की रुचि के परिमार्जित होने की प्रतीक्षा करता रहे।

हिन्दी का संभावित दर्शक रंगमंच से अभी कुछ समय तक तो केवल मनोविनोद की, समय के अच्छी तरह से काटने के एक साधन की, अपेक्षा करेगा। एक बार उस दर्शक को नाटक देखने की आदत पड़ जाय, वह नियमित रूप से अभिनय को खोजने लगे, समझने लगे—उसके पास नाटक सम्बन्धी एक परम्परा (कन्वेंशनस) हो जाय, एक पृष्ठभूमि हो जाय, फिर रंगमंच अपने गौरवपूर्ण पथ पर चल सकेगा—उस पथपर जिसका उद्देश्य है कलात्मक आत्माभिव्यक्ति, युगाभिव्यक्ति।

हालाँकि हिन्दी के दर्शक सभी समाजों के, सभी वर्गों के होते हैं, पर हिन्दी का साधारण दर्शक हिन्दी चलचित्रों से बहुत प्रभावित है। यह एक ऐसा सत्य है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वह चाहता है चुस्त संवाद, भावना प्रधान कथानक, तीव्र घटनाक्रम। उसके पास अभिनय के क्षेत्र में वे ही परम्परायें हैं जो चलचित्रों ने उसे दी हैं। प्रयोगात्मक बुद्धिवादी रंगमंच के प्रति वह एक कौतूहल भरी दृष्टि तो डाल देगा परन्तु उसे स्वीकार नहीं कर पायेगा—कम-से-कम अभी तो।

साथ ही यह भी याद रखना पड़ेगा कि चूँकि दर्शक रंगमंच को अभी नहीं खोजता वरन्, रंगमंच दर्शक को खोजता है इसलिए दर्शकों की सुविधा

का ध्यान उसे सतत रखना पड़ेगा। दर्शक अभी अधिक खर्च कर अभिनय के प्रति आकर्षित नहीं हो पायेगा। इसलिए कम खर्च से प्रस्तुत अभिनयों को अभी आयोजित करना होगा।

नाटक-समीक्षक प्रेक्षागृह में बैठा वह प्रबुद्ध दर्शक होता है, जो अन्य दर्शकों की भाँति अभिनय की चेष्टाओं का रसास्वादन तो करता ही रहता है, परन्तु साथ ही उस अभिनय को सामाजिक, कलात्मक एवं बौद्धिक वातावरण के परिप्रेक्ष्य में भी देखता रहता है, जाँचता रहता है। वह अन्य-दर्शकों की भाँति भावनाओं में बहता तो है, परन्तु कहीं एक दूरी भी रखे रहता है, जहाँ से वह अभिनय-चेष्टा के मूल में पहुँचकर, उसे समझकर दर्शकों की भावनाओं को, उस प्रस्तुतीकरण के प्रभाव को, रंगमंच कलाकारों तक और प्रस्तुतीकरण के वास्तविक अनुदान को दर्शकों तक पहुँचाता है। साहित्य एवं कला की पृष्ठ-भूमि में वह एक अभिनय विशेष के स्थान का निश्चय करता है एवं साथ ही दर्शकों की रुचि एवं प्रस्तुतीकरण की रूप-रेखा को भी प्रभावित करता है। आज के पाश्चात्य नाट्य-जगत में तो उसका स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण हो गया है और उसी की प्रतिक्रिया पर किसी अभिनय की सफलता-असफलता प्रायः निर्भर करती है कम-से-कम व्यावसायिक दृष्टि से।

इस दृष्टि से हिन्दी की स्थिति बड़ी विचित्र है। चूँकि हिन्दी में साहित्यिक नाटकों की ही प्रधानता है, अतः नाट्य-समीक्षा भी मुख्य रूप से साहित्यिक ही है। नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन हो, इसमें आपत्ति नहीं है, किन्तु वही हो, केवल रस, जीवन दृष्टि, कलात्मक अभिव्यक्ति, ग्रन्थन कौशल ही नाटक के क्षेत्र में आलोच्य विषय हों और प्रदर्शन कौशल या रंगशिल्प की पूर्ण उपेक्षा हो, यह बात एकांगी विकास की ही सूचिका है। यह सच है कि स्थायी रंग-मंच हुए बिना और नियमित नाट्य प्रदर्शनों के बिना इस प्रकार की समीक्षा का विकास नहीं हो सकता, किन्तु यह भी सच है कि समीक्षा इस दिशा में पृष्ठभूमि निर्माण करने में काफी सहायता पहुँचा सकती है।

पहली बात तो यह है कि थियेटर और नाटक के अन्तर और पारस्परिक सम्बन्ध का स्पष्टीकरण होना चाहिए। अभी तक हिन्दी में इन दोनों सहयोगी और परस्पर पूरक कलाओं को कभी-कभी एक ही समझा-समझाया जाता है और प्रायः 'थियेटर' के सम्बन्ध में समीक्षक मौन ही रह जाते हैं। ऐलरडाइस निकाल के अनुसार 'थियेटर का अर्थ है किसी दर्शक समूह के समक्ष अभिनेतृ समूह द्वारा प्रस्तुत किया गया प्रदर्शन जब कि नाटक का अर्थ है किसी लेखक या लेखक समूह द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत करने योग्य शैली में रचित साहित्यिक कृति।' अब यदि थियेटर के लिए उपयोगी ग्रन्थों को हिन्दी में ढूढ़ने का प्रयास

किया जाय तो निराशा ही हाथ लगेगी, नाट्य प्रयोग, अभिनय मंचसज्जा, रूपसज्जा, आलोक निक्षेप, मंच आदि अनेक ऐसे अत्यन्त उपयोगी विषय हैं जिनके बारे में हिन्दी में करीब-करीब कुछ नहीं लिखा गया है। आचार्य भरत ने नाट्य-शास्त्र में अपने समय की नाट्य सम्बन्धी साहित्यिक मान्यताओं का ही विचार नहीं किया था, प्रयोग सम्बन्धी निर्देशों की प्रचुरता उनके ग्रन्थ की महत्ता और सर्वांगपूर्णता ही सिद्ध नहीं करती, यह भी बताती है कि नाट्य-कला उस समय जीवित और विकासशील कला थी। आज हमारे लिए यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है कि हम विश्व रंगमंच की अधुनातन उपलब्धियों को हिन्दी के माध्यम से नाटककारों, परिचालकों, अभिनेताओं और दर्शकों तक पहुँचायें। हमारा समीक्षक वर्ग ही यह कर सकता है।

दूसरी बात यह कि नाट्य समीक्षा केवल संस्कृत या पश्चिमी प्रतिमानों की उद्धरणी होकर न रह जाय। उपलब्ध समीक्षात्मक ग्रन्थों में हिन्दी की आवश्यकताओं और परिस्थितियों को ध्यान में रखकर विचार कम किया गया है और अन्य क्षेत्रों में से बने-बनाये मानदण्डों का प्रयोग कर निर्णय दिये गये हैं। केवल सैद्धान्तिक ज्ञान को ही नहीं, नाट्य प्रयोग के व्यावहारिक ज्ञान को भी नाट्य समीक्षक के लिए अनिवार्य माना जाना चाहिए। हिन्दी नाटक लेखन और प्रस्तुतीकरण को वर्तमान सन्दर्भ में रखकर देखा जाय तथा नाटककारों और परिचालकों को रचनात्मक उप- योगी सुझाव दिये जायें।

तीसरी बात यह कि दर्शकों की रुचि का निर्माण और परिष्कार करने का जागरूक प्रयास हो। नाट्यधर्मी नाटकों को समझने के लिए नाट्य रूढ़ियों से परिचित होना आवश्यक है। पूर्व और पश्चिम की नाट्य परम्पराओं से दर्शक परिचित होकर स्थूल, मनोरंजन के स्थान पर सूक्ष्म कलात्मक अनुभूति की माँग करनेवाले हों, यह भी समीक्षकों के कर्तृत्व पर ही बहुत दूर तक निर्भर है। वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप किन्तु उन्नयनशील नाट्य-निष्कर्ष का निर्माण करने का दायित्व भी समीक्षकों का ही है।

समय की माँग है कि हम इन चुनौतियों का सामना करने का कोई सुव्यवस्थित प्रयास करें। हमारा विश्वास है कि समागत विचारकों के सामूहिक प्रयास से हम किसी फलप्रसू निर्णय पर पहुँच सकेंगे।

—अनामिका द्वारा आयोजित हिन्दी नाट्य महोत्सव (दिसम्बर, १९६४) की दर्शक समीक्षक संगोष्ठी के प्रास्ताविक के रूप में लिखित।

१८.

दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच : कुछ प्रश्न

दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच यह विषय अपने में दो समस्याओं को समेटे हुए हैं। पहली और मूलगामी समस्या तो है दर्शक और रंगमंच के पारस्परिक सम्बन्धों की, उनकी पारस्परिक अपेक्षाओं की और दूसरी है हिन्दी रंगमंच के वर्तमान संदर्भ में व्यावहारिक और सामयिक दृष्टि से उसी के परिस्थिति-सापेक्ष पुनराख्यान को।

स्थूल रूप से नाट्य प्रयोग के दो पक्ष माने जाते रहे हैं, पहला उत्पादक-परिवेशक वर्ग और दूसरा उपभोक्ता वर्ग। पहले के अन्तर्गत नाट्यकार, नाट्य-प्रयोक्ता, अभिनेता तथा अन्य रंगशिल्पी आते हैं, (प्रस्तुत सन्दर्भ में रंगमंच शब्द का प्रयोग इन सबके सम्मिलित अर्थ बोध के लिए किया गया है) और दूसरे के अन्तर्गत आते हैं दर्शकगण। नाटक को दर्शकों तक उपभोग्य रूप में पहुँचा देना प्रथम वर्ग का कर्तव्य है, उन्हीं के परितोष से नाट्य प्रदर्शन सफल माना जा सकता है अर्थात् नाटक का लक्ष्य है दर्शकों का परितोष।

किन्तु यह लक्ष्य सिद्ध कैसे होता है ? दर्शकों के स्तर भेद के अनुरूप ही परितोष का स्तरभेद होता है। अधिकांश दर्शक चाहते हैं दैनन्दिन जीवन के दुर्वह बोझ को भुला देनेवाला हल्काफुल्का मनोरंजन, थोड़े से भावुक जन चाहते हैं अपने रागात्मक भावों की परितृप्ति और ऐसे विवेकी जन तो बहुत ही कम होते हैं जो नाटक के माध्यम से जीवन को पहचानने की अन्तर्दृष्टि पाना चाहते हैं। तुरन्त ही प्रश्न होगा इनमें किनका परितोष कर पाने वाला नाटक श्रेष्ठ नाटक है ? और फिर एक बात और भी है। क्या दर्शकों का परितोष ही सर्वोपरि मूल्य है ? और क्या उस परितोष के पीछे दौड़ने से ही वह परितोष प्राप्त हो सकता है ? तब तो सभी बम्बइया फिल्मों को बाक्स आफिस हिट होना चाहिए क्योंकि उनमें व्यापक दर्शक समाज के परितोष के मूल्य को ही अन्य सब मूल्यों के ऊपर स्थान देने का आग्रह रहता है, किन्तु ऐसा होता तो नहीं। छाया के समान वह परितोष आगे आगे भागता रहता है और दर्शकों की रुचि की सभी सामग्री मुहैय्या करने वाले अच्छे-अच्छे उस्तादों की फिल्में भी फेल हो जाती हैं।

समस्या के और गहरे स्तर पर उतरने पर यह भी प्रश्न उठता है कि क्या नाटककार अपने कथ्य को, अपने अनुभूत को शब्द और अपने चरित्रों को व्यक्तित्व देते समय अथवा नाट्य प्रयोक्ता उन्हें परिस्फुट और प्रस्तुत करते समय उनकी माँग को पूर्ण करने पर प्राप्त होनेवाले आत्मपरितोष को महत्व दे अथवा विविध और परस्पर विरोधी रुचियोंवाले दर्शक समाज के अभीप्सित परितोष को? क्या जिस कलाकृति से नाटककार एवं नाट्यप्रयोक्ता को वस्तुतः आत्मपरितोष प्राप्त होता है उससे दर्शकों का परितोष स्वतः नहीं हो जायेगा?

लगता है कभी-कभी ऐसा नहीं भी हो सकता है। श्रेष्ठ नाटककार और कुशल नाट्यप्रयोक्ता की सम्मिलित प्रतिभा भी दर्शकचित्त को कभी-कभी स्पर्श नहीं कर पाती। इसी सन्दर्भ में बीच में प्रयोगशील नाटककार पर लगाया जाने वाला यह अभियोग भी स्मरण आ रहा है कि वह दर्शक अथवा सामान्य समाज से कट गया है। क्यों ऐसा होता है? इसके कई कारण हो सकते हैं किन्तु एक विशेष कारण की ओर हम आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने नाटक के दर्शक की संज्ञा दी थी सामाजिक। उनके अनुसार प्रत्येक वह व्यक्ति जो प्रेक्षागृह में पहुँच गया है नाटक का दर्शक नहीं माना जा सकता। अन्य अनेक गुणों से युक्त होने के साथ-साथ उसे षडंगनाट्यकुशल, कलाशिल्पविचक्षण, अभिनयज्ञ, रसिक, ऊहापोहविशारद एवं प्रभाव ग्रहण में समर्थ होना चाहिए। सब गुण तो सब में मिलते नहीं, अतः उनका कहना था कि जिसमें जितने अधिक गुण होंगे वह उतना अधिक अच्छा प्रेक्षक होगा। किन्तु सबका सामाजिक होना अनिवार्य है। यह सर्वसामान्य सामाजिकता जिस युग में जितनी व्यापक होती है, उस युग में रंगमंच और दर्शकों का सम्बन्ध उतना प्रत्यक्ष और घनिष्ठ होता है। क्या आज के युग के लिए यह सत्य है? क्या आज का नागरिक अधिकाधिक अपने में सिमटता, व्यक्तिकेन्द्रिक होता नहीं जा रहा है? ऐसी स्थिति में इस अलगाव के लिए क्या केवल रंगमंच को दोषी ठहराया जा सकता है? आज का नाटककार और आज का दर्शक आज का ही तो नागरिक है और यदि आज की सभ्यता हमें सामाजिक कम और व्यक्तिकेन्द्रिक अधिक बनाती चली जा रही है तो क्या इस स्थिति का प्रतिफल रंगमंच पर नहीं होगा? जो समस्या मूलतः समाज के सूत्रधारों की देन है, उसके लिए रंगमंच के सूत्रधार को दोष देना कहाँ तक न्यायोचित है?

किन्तु क्या इसका यह अर्थ निकाला जाय कि रंगमंच दर्शकों के परितोष की उपेक्षा करके भी जीवन्त और विकासमान रह सकता है? शायद ऐसा

नहीं हो सकता। नाट्यकला स्वरूपत: समन्वित कला है और उसकी परिसज्जा को समापन स्पर्श दर्शकों द्वारा ही प्राप्त होता है। पचासों बार के पूर्व प्रदर्शनों के बावजूद नाटक का नया प्रदर्शन नया ही होता है क्योंकि उसके दर्शक नये होते हैं और नये दर्शकों द्वारा दिया गया समापन स्पर्श पुराने दर्शकों से भिन्न होने के लिए बाध्य है। यह अखंडनीय सिद्धान्त है कि दर्शक और रंगमंच के भावात्मक आदान-प्रदान के बिना उनके पारस्परिक गंभीर संयोग के बिना उत्कृष्ट एवं सार्थक नाट्यकला का विकास असंभव है। प्रश्न यही है कि आज की परिस्थितियों में इस आदान-प्रदान इस संयोग के क्या रूप होंगे ?

बात जब आज की परिस्थितियों तक आ पहुँची है तो यहीं उसे आज के हिन्दी रंगमच और उसके दर्शकों से जोड़ दिया जाये।

विचित्र विरोधाभासों की मूर्त्त समष्टि है आज का हिन्दी रंगमंच। जहाँ तक हमारी जानकारी है कलकत्ते के मूनलाइट* के सिवाय इस विशाल देश के किसी भी अंचल में कोई ऐसी रंगशाला नहीं है जिसमें नियमित रूप से व्यावसायिक दृष्टि से हिन्दी के नाटकों का प्रदर्शन होता हो, साथ ही हिन्दी भाषियों का ऐसा कोई केन्द्र भी नहीं है, जिसमें एकाधिक नाट्यदल सक्रिय न हों। एक तरफ यह स्थिति है कि अधिकांश लोग अब भी पैसा खर्च कर नाटक का टिकट खरीदना अपव्यय समझते हैं तो दूसरी तरफ ऐसे लोग भी हैं जो किसी नाटक के एक प्रदर्शन के लिए पन्द्रह बीस हजार रुपये तक स्वाहा कर देते हैं। एक ओर अब भी रोमानी या प्रहसनमूलक नाट्यकृतियों को सामान्य दर्शकों के लिए प्रदर्शित करना सुरक्षित माना जाता है तो दूसरी ओर अन्धायुग, लहरों के राजहंस, हत्या एक आकार की और सुनो जनमेजय जैसे नाटकों को भी चाव से देखने और सराहने वाले दर्शकों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही है, लेखकों की ओर से तो कथाहीन एवं संवादहीन नाटकों के प्रदर्शन की भी माँग उठने लगी है।

क्या इनसे यह बात साफ नहीं होती कि हिन्दी भाषी जनता के प्रबुद्ध अंश की यह आन्तरिक आकांचा है कि रंगमंच हमारी जीवनधारा का अभिन्न अंग बने ? अन्यथा इतने नाट्य दल जिनमें कई अत्यन्त उच्चस्तर के भी हैं, कार्यरत क्योंकर होते ? और क्या यह इसी अंश की माँग का फल नहीं है कि हिन्दी के नये नाटक साहित्य में नये नये साहसी प्रयोग होने लगे हैं ? क्या इन प्रयोगों को निरा विदेशी अनुकरण कहा जा सकता है ? यह ठीक है कि हमारे

* और अब वह भी केवल सिनेमा हाउस बन गया है।

देश में प्रबुद्ध माने जाने वाले वर्ग के एक अंश और सामान्य भारतीय जनता में एक हद तक शोचनीय विच्छेद सा प्रतीत होता है। यह वर्ग या इसका उपरला अंश भौतिक दृष्टि से विश्व के अधिक विकसित देशों के सम्पर्क में आने के कारण उनकी जीवनधारा और उनके नाट्यसाहित्य एवं रंगमंच में झलकी आधुनिकता को भी अपने सन्दर्भ में ग्रहण और प्रतिफलित करना चाहता है, जिससे सामान्य जनता समरस नहीं हो पाती। किन्तु इस सम्बन्ध में दो बातें स्मरण रखनी चाहिए। एक तो यही कि विच्छेद की यह समस्या हमारी मौलिक राष्ट्रीय समस्याओं में से एक है और इसका समाधान हमारे राष्ट्र नेताओं को करना है, रंगमंच उसमें अप्रत्यक्ष रूप से सहायता दे सकता है, उसका समाधान नहीं कर सकता, दूसरी यही कि यह वर्ग भी भारतीय इतिहास की ही उपज है और भारतीय जनता के एक विशिष्ट अंश का प्रतिनिधित्व करता है। निरन्तर छोटी होती जाती इस दुनिया में केवल विदेशी प्रभाव कहकर किसी साहित्यिक प्रवृत्ति का तिरस्कार करना अनुचित है। और यदि आधुनिकता के पीछे पागल एक धारा परम्परा के प्रति उदासीन है तो एक सबल आधुनिक धारा क्या ऐसी भी नहीं है जो परम्परा के ग्राह्य पक्ष को विकसित करने में गौरव का बोध करती है? आज जब विश्व का रंगमंच प्राचीन भारतीय रंगमच के नाट्यधर्मी प्रस्तुतीकरण का बहुत दूर तक अनुकरण करने के लिए तैयार है तो आधुनिक हिन्दी रंगमंच के प्रबुद्ध शिल्पी अपनी उस निधि की अवहेलना कैसे कर सकते हैं?

किन्तु भारतीय परम्परा का नाट्यधर्मी प्रस्तुतीकरण क्या उस विशाल हिन्दी भाषी दर्शक वर्ग के पल्ले पड़ेगा जिसकी रुचि का निर्माण बम्बइया फिल्मों ने किया है? यह सचमुच खेद की बात है कि संगीत और नृत्य की भारतीय परम्परा के समान हमारी नाट्य परम्परा अविच्छिन्न नहीं बनी रही और जीवन्त रूप में हमें प्राप्त नहीं हुई। आज भी शास्त्रीय संगीत और भरतनाट्यम्, कथाकली आदि नृत्यों के आयोजनों में सम्मिलित होने वालों में बहुसंख्यक कलाप्रेमी उनकी रूढ़ियों से परिचित होने के कारण उनसे समरस हो कलात्मक आनन्द प्राप्त करते हैं। किन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि नाटक के लिए दर्शकों की किसी प्रकार की पूर्वप्रस्तुति आवश्यक नहीं मानी जाती। क्या यह मनोवृत्ति नाटक के समुचित विकास में बाधक नहीं है? जब तक हमारा दर्शक वर्ग यह स्वीकार नहीं कर लेता कि रंगमंच की चरितार्थता सस्ते मनोरंजन में नहीं, जीवन एवं युग की गहराइयों का आभास देने में है, गम्भीर और उदात्त कलात्मक आनन्द के परिवेशन में है, तब तक वास्तविक रूप से महान रंगमंच का विकास कैसे हो सकता है?

इस सन्दर्भ में अनामिका और अनामिका कला संगम के अनुभवों की चर्चा करना संभवतः लाभदायक होगा। अनामिका ने आरंभ से ही उदात्त एवं जीवनान्वेषी कला के रूप में नाट्याभिनय को स्वीकार किया। बारह वर्षों के सतत् प्रयास और नियमित प्रदर्शनों के द्वारा वह ऐसा सुरुचि सम्पन्न, नाट्यानुरागी दर्शकवर्ग पा सकी है जो जीवन की गहरी समस्याओं को चित्रित करने वाले विचारोत्तेजक नाटकों के प्रदर्शन को भी उसी आग्रह से देखता है, जिस उत्साह से स्तरीय मनोरंजन प्रस्तुत करने वाले विनोदस्निग्ध वा व्यंग्यप्रखर नाटकों को। उसके प्रदर्शनों में सापउतारा (शिवकुमार जोशी), शुतुरमुर्ग (ज्ञानदेव अग्निहोत्री) और छपते-छपते (मिहेल सेबेरिशयन) को यदि लोकप्रियता प्राप्त हुई है तो जनता का शत्रु (हेनरिक इब्सन), मादा कैक्टस (लक्ष्मीनारायण लाल), लहरों के राजहंस (मोहन राकेश) को लोक गरिमा। स्थूलहास्य के परिवेशन से सामयिक मनोरंजन के बावजूद आज का प्रबुद्ध दर्शक कितना अपरितुष्ट रह जाता है, इसकी उपलब्धि हुई हमें अनामिका कला संगम के आयोजनों के माध्यम से। भारतीय रंगमंच में जो कुछ जीवन्त और महत्वपूर्ण है, उसे अपने सहृदय दर्शकों के समक्ष उपस्थित करने के उद्देश्य से संगम की स्थापना की गयी है। संगम के तत्वावधान में प्रदर्शित लिटिल थियेटर ग्रुप के श्री भोलानाथ और मिनिस्टर तथा थ्री आर्ट्स क्लब के उलझन और बड़े आदमी को देखते समय दर्शक अपने ठहाकों से रंगशाला को गुँजाते रहे किन्तु नाटक के समाप्त होने के साथ ही उनका अस्तित्व भी बहुतों के लिए समाप्त हो गया। विशेष कुछ न मिलने का असन्तोष बहुतों ने व्यक्त भी किया। जबकि क्रियेटिव युनिट के "उसके बाद" और "मकड़ी का जाल" के सभी संकेतों को बहुत से दर्शक नहीं पकड़ पाये किन्तु फिर भी उनके माध्यम से समसामयिक जीवन की जटिलता और पीड़ा को केवल निकट से देखने का ही नहीं उनको झेलने का अनुभव भी बहुत से दर्शकों को हुआ, दृष्टि में आयी आंशिक स्पष्टता का बौद्धिक परितोष लेकर वे लौटे।

इन अनुभवों के आधार पर उठने वाले प्रश्नों को ही हम आपके सामने रख रहे हैं।

ऐसा क्या किया जाय जिससे हिन्दी रंगमंच कला के स्तर पर रहते हुए भी दर्शकों का स्नेह सम्बल प्राप्त कर सके? कला की माँग और अपने दर्शकों की अपेक्षा के बीच की खाई को कैसे पाटा जाये? क्या अपनी वर्तमान स्थिति को देखते हुए जबकि उसे व्यापक दर्शकवर्ग की तलाश है, वह दर्शकों की रुचि

से समझौता करे ? यदि हाँ, तो कहाँ तक ? यदि नहीं तो वह जिये कैसे ? क्या यह हमारे लिए अनिवार्य नहीं हो उठा है कि हम अपने देशव्यापी रंगमंच के माध्यम से अपने दर्शकों की रुचियों का वैज्ञानिक विश्लेषण करें ? क्या विविध वर्गों, आयुस्तरों एवं रुचियों वाले दर्शकों की प्रतिक्रियाओं का संकलन एवं विधिवत् अनुशीलन इन समस्याओं के समाधान का मार्ग निर्देशन नहीं कर सकेगा ? ऐसा क्यों है कि हिन्दी दर्शक वर्ग अब तक केवल अव्यवसायी या अर्धव्यवसायी नाट्यदलों को ही संघोषित करता रहा है ? उच्चस्तरीय, पूर्ण-कालिक, व्यावसायिक नाट्य संस्थानों की स्थापना और उनके संघोषण में उसका सहयोग क्यों प्राप्त नहीं हो सका और वह कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

हमारा विश्वास है कि इस परिसंवाद गोष्ठी में 'दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच' से सम्बन्धित इन और इनके सहवर्ती प्रश्नों पर जो विचार होगा, वह हमें अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर कर सकेगा। यह अपेक्षा हमारी नहीं है कि इससे इस समस्या की गुत्थी सुलझ ही जायेगी, हो सकता है वह और उलझ जाये, किन्तु रंगकर्मियों द्वारा ईमानदारी से गहरे जाकर किये गये विचार विमर्श की भूलें भी निष्क्रिय विचारकों की उपदेशोक्तियों की तुलना में मंजिल की ओर ले जाने में अधिक समर्थ हैं, उनके ठीक निष्कर्ष की तो बात ही क्या है।

इन्हीं शब्दों के साथ हम आपका स्वागत करते हैं और हमारे आमंत्रण पर विचार विमर्श में भाग लेने एवं उसका रसास्वादन करने के लिए पधारने के कारण आप सबके प्रति विनम्रता पूर्वक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

—हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी समारोह के उपलक्ष में अनामिका कला संगम द्वारा २३/२४ मार्च, ६८ को आयोजित परिसंवाद के संयोजकीय वक्तव्य के रूप में लिखित।

• •

१९.

पढ़कर और देखकर

सुनो जनमेजय :

बहुत बार हम लोग किसी सिद्धांत को सिद्धांत के रूप में पढ़, सुन, समझ और दुहरा लेते हैं किन्तु उस सबके बावजूद उसकी प्रतीति या कहिये उपलब्धि नहीं कर पाते। किसी एक विशेष प्रसंग में अचानक व्यक्तिगत अनुभूति के रूप में जब उसका सत्य मूर्त हो उठता है तभी किसी सिद्धांत की वास्तविक उपलब्धि होती है। नाटकों के बारे में सही निर्णय पढ़कर नहीं, विदग्ध प्रयोक्ता द्वारा किये गये उनके मंचन को देखने के बाद ही किया जा सकता है, इस बात को न जाने कब से मानता और दुहराता चला आता था, किन्तु इसकी वास्तविक प्रतीति **सुनो जनमेजय** के सन्दर्भ में ही हुई।

जुलाई-अगस्त १९६७ में अनामिका के साहसी और महत्त्वाकांक्षी नाट्य प्रयोक्ता श्री श्यामानन्द जालान श्री आद्य रंगाचार्य कृत **सुनो जनमेजय** के हिन्दी रूपांतर के मंचन की बात सोच रहे थे। किन्तु रवीन्द्रनाथ की 'मायावन विहारिणी हरिणी' की तरह ही उसके यथार्थ को पकड़ पाने की उनकी चेष्टा सफल नहीं हो रही थी। उन्होंने निश्चय किया कि इस पर विचारगोष्ठी की जाये। तदनुसार ३०-८-६७ को वह गोष्ठी हुई, जिनमें विचार प्रवर्त्तन मैंने किया। मैंने जो कुछ कहा था, उसका सारांश इस प्रकार है :

सुनो जनमेजय के हिन्दी रूपांतरकार की अतिशय प्रशंसा के कारण मैंने हार्दिक आग्रह और ऊँची अपेक्षाओं के साथ **सुनो जनमेजय** पढ़ना शुरू किया था, किंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि पढ़ने के बाद मैं निराश ही हुआ। मुझे लगा कि इसके सम्बन्ध में किये गये दावे अत्यन्त अतिरंजित हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि संपूर्ण नाटक में चलता रहने वाला सूत्रधार-नेता संलाप, पात्रों के अंतरंग-बहिरंग प्रदर्शन की योजना, सहज लगती हुई भी तुरन्त पकड़ में न आने वाली प्रतीकात्मकता, रूढ़िमुक्त नाट्य विधान, तीक्ष्ण चटुल सूक्तियाँ, इसकी ऐसी विशेषताएं हैं जो इसे सामान्य नाटक से पृथक करती हैं। किंतु अपनी दुर्बल कथा एवं क्रियान्विति के कारण ये विशेष प्रभावशाली बन पड़ी हैं, ऐसा नहीं लगता।

सूत्रधार-नेता संलाप कई पुरानी परम्पराओं का समन्वय करने वाली निश्चय ही स्वागत योग्य नवीनता है। इसके द्वारा नाटककार सीधे अपने विचारों को अपने दर्शकों के समक्ष रख सकता है, नाटक की गतिविधि और समस्याओं पर प्रत्यक्ष टीका-टिप्पणी कर दर्शकों को अभीष्ट दिशा का संकेत दे सकता है। किन्तु यदि इस नाटक का सूत्रधार कुछ कम पुनरावृत्तिप्रिय, कुछ कम छद्म-विनयी, कुछ कम उपदेशक होता तो शायद इस शैली का प्रभाव और अधिक पड़ता।

अन्तरंग के द्वारा, या यों कहा जाय कि प्रथम अंक के द्वारा, यह धारणा जागती है कि इस नाटक में अनुभव (वृद्ध), उत्साह (युवक), इच्छा युवती) एवं परिश्रम (मामूलीराम) के मूल्यों के पारस्परिक द्वंद्व के चित्रण, एवं संभवतः उनके समन्वय, जैसी कोई बात होगी, क्योंकि इन मूल्यों के प्रतीक-से लगने वाले चारों पात्र बड़े आवेग से अपने-अपने मूल्यों की महिमा की प्रतिष्ठा अन्य मूल्यों का उपहास करते हैं, और सूत्रधार उनमें से प्रत्येक की बात को झूठ और ग़लत कहता है।

किंतु बहिरंग या द्वितीय अंक की स्थितियाँ इस धारणा को पुष्ट नहीं करतीं। उन मौलिक मानव मूल्यों के तीव्र द्वंद्व के स्थान पर उसमें वर्तमान भारतीय राजनीतिक दुश्चक्र के कारण उत्पन्न प्राणहीन एवं निराशापूर्ण स्थिति का चित्रण है। यह ठीक है कि इस चित्रण में आज के विकृत संदर्भ पर व्यंग्य है, किंतु ऐसा नहीं कि उससे इस व्यवस्था के प्रति तीव्र विक्षोभ या घृणा जागे।

नेता का बहनोई होने के कारण एक सर्वथा अयोग्य वृद्ध नव समाज निर्माण दफ्तर का प्रधान बना दिया गया है। न वह स्वयं काम करता है, न करा सकता है। अपने अनुभवों की डींग हाँकते रहने के बावजूद वह अपना कर्तृत्व युवक और चपरासी पर झूठा रोब जमाने, युवती स्टेनो के प्रति आकर्षण जताने एवं दफ्तर के लिए भवन बनवाने की योजना में ही प्रकट करता है।

विशेष डिग्रीधारी किरानी युवक का जो थोड़ा-सा मरियल उत्साह है, वह केवल सहयोगिनी युवती को अपनी ओर आकृष्ट करने के विफल प्रयास तक ही सीमित है, उसका रत्ती भर अंश भी वह अपने कार्य में, अपने अधिकारी को प्रभावित करने में, अपना भविष्य सुधारने में, यहाँ तक कि कमीशन के तीस हजार रुपयों में हिस्सा बँटाने में भी नहीं झलकाता।

स्टेनो युवती की न अपनी कोई विशेष महती इच्छा है, न किसी और में वह महती इच्छा जगा पाती है। युवक, वृद्ध और चपरासी मामूलीराम तीनों

उसकी ओर आकृष्ट हैं, किंतु उसको पाने के लिए वृद्ध और युवक विशेष कुछ नहीं करते और मामूलीराम जो कुछ करता है वह एक मात्र उसे पाने के लिए नहीं।

मामूलीराम चपरासी है, मेहनत की दुहाई देने वाला, किंतु दफ्तर में जितनी कामचोरी संभव है, उतनी तो करता ही है, धोखा देकर तीस हजार रुपयों का कमीशन प्राप्त कर लेने की, तथा अपनी जमीन बेच कर रुपया बना लेने की, योजना बनाता है, और यह विश्वास प्रकट करता है कि इतना सब हो जाने पर वह युवती अपने आप उसकी ओर ढुलक पड़ेगी।

रणरंग में कोई रण नहीं है। मामूलीराम की धूर्तता सफल हो गयी है। यह अत्यन्त आश्चर्यजनक बात लगती है कि वृद्ध अधिकारी और युवक कर्मी तीस हजार रुपयों में बिना कोई हिस्सा बँटाये, सरकार से मामूलीराम की जमीन खरीदवाते हैं, इसी अपराध के कारण अपनी नौकरी गँवाकर, उसी मामूलीराम के यहाँ नौकरी करने लगते हैं। वह ग़ैरमामूली मामूलीराम उन दोनों की हँसी उड़ाता और उन्हें अपनी इच्छानुसार काम में जोत देता है। युवती अब उसकी पत्नी है और चार बच्चों की माँ भी। युवती द्वारा सुनायी गयी मामूलीराम की धरती और बादल की बात बड़ी रोमांटिक लगती है, किंतु उस युवती के लिए बिलकुल अनुपयुक्त, जो स्वीकार कर चुकी है कि उसे ऊँघने वाला बूढ़ा या प्रेम पकड़ कर लटकने वाला जवान नहीं चाहिए। सुरक्षित और सुखी गृहस्थ जीवन बिताने का आधार वह प्राप्त करना चाहती थी और उसने उसे चुन लिया। बादल और धरती का रूपक उसके लिए प्रवंचना भर है।

और फिर एक-एक कर ये चारों पात्र रंगमंच पर निष्प्राण हो जाते हैं, यद्यपि सूत्रधार के कथनानुसार वे लोग मरे नहीं, सभी जगह तो वर्तमान हैं समाज में! और वह नेता, जिसकी व्यवस्था के कारण ये पात्र मर कर भी समाज में वर्वत्र जीवित हैं और जो जीवित रहते हुए भी मरों के सदृश हैं, अंधा धृतराष्ट्र करार दिया जाता है तथा साधारण समाज जनमेजय! विदुर (सूत्रधार) के उपदेश से अपने हृदय की शुद्धि के लिए आत्मविद्या का मूलमंत्र जानना चाहने वाला अंधा राजा (नेता) अब नेतृत्व नहीं कर पाता, अन्य लोग मिलकर ही उसे खींच ले जाते हैं, शायद ठीक रास्ते पर, और नाटक खत्म हो जाता है।

नाटक तो खत्म हो गया किंतु क्या कह गया? कैसे लगायी जाये इसके आरम्भ और अन्त की पहेलीनुमा सूक्तियों के साथ इसके कथानक और पात्रों

की संगति ? क्या इस नाटक में अनुभव, उत्साह, इच्छा और परिश्रम का द्वंद्व दिखाया गया है, जैसा अंतरंग से लगता है ? नहीं, बहिरंग और रणरंग से उसकी पुष्टि नहीं होती। क्या यह आधुनिक भारतीय जीवन पर व्यंग्य है, जिसमें सोचा कुछ जाता है, कहा कुछ जाता है, किया कुछ जाता है, जो जैसा दिखता है, वैसा होता नहीं ? आंशिक रूप से, हाँ, किन्तु इसके उपक्रम और उपसंहार इसे समसामयिकता ले अधिक व्यापक बनाने की दुर्बल चेष्टा-जैसे लगते हैं। बहिरंग में यथार्थ की जो हल्की-सी व्यंग्यमयी झलक है, उसे रणरंग झुठला देता है। और रणरंग में जादू की लकड़ी घुमाकर जो मामूलीराम की सर्वत्र विजय दिखायी गयी है, क्या उसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य मेहनत से कम और तिकड़म से अधिक आगे बढ़ता है, और वह मूलतः खाने, पीने, भोगने और मौजूदा दुःख को सह लेने में सुख माननेवाला प्राणी है ? किंतु फिर तो सूत्रधार और नेता, कलाकार और राजशक्ति के प्रतीक, का द्वंद्व ही व्यर्थ हो जायेगा। जिस नेता की अन्ध-व्यवस्था का यह परिणाम है उसे तो सूत्रधार तिरस्कृत कर देता है, किंतु उस अन्धे राजा को मिलकर ले जाने वाले लोग ये वृद्ध, युवक, युवती और मामूलीराम ही तो हैं, ये लोग उसे ठीक रास्ते पर कैसे ले जा सकते हैं ? और सूत्रधार तो खुद कुछ कहता नहीं, लिखता नहीं, उससे तो समाज नाटक लिखवाता है, फिर वही कौन-सी दिशा दे सकता है ?

हमारे सामने जो तस्वीर उभरती है, अन्तरंग, बहिरंग, रणरंग के योग से, वह रंगारंग न होकर बदरंग-सी है। कुछ अर्द्ध-रहस्यवादी तेज़-तर्रार फ़िकरे, कुछ नवीनता लिए हुए रंग कौशल, अस्पष्ट प्रतीक योजना और अशक्त, उलझी हुई कथा—कुल मिलाकर यही है **सुनो जनमेजय**, जिसे भारतीय नाट्य साहित्य की एक बड़ी उपलब्धि कहना अतिरंजना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

उस दिन विचारगोष्ठी में अलग-अलग कारणों से ही क्यों न हो, सभी विचारक इस निष्कर्ष से सहमत थे कि **सुनो जनमेजय** एक उलझी हुई रचना है जो विशिष्टता का आभास देते हुए भी वस्तुतः दुर्बल है और उसका मंचन एक असफल प्रयोग होगा। कई कारणों से अनामिका के लिए **सुनो जनमेजय** का मंचन करना सम्भव भी नहीं हो सका। बात आयी-गयी हो गयी।

उस विचारगोष्ठी के करीब साढ़े पाँच महीने बाद, १४ फरवरी, १९६८ को, कलकत्ते के रवींद्र सदन में दिशांतर द्वारा **सुनो जनमेजय** का प्रदर्शन देखने जाते समय भी मुझे लग रहा था कि आज की शाम बोरियत में ही कटेगी।

किन्तु गणदेवता और कजूस न देख पाने की कसक तो थी ही, और दूसरे दिन प्रातःकाल दिल्ली रवाना होने के कारण तुग़लक देख पाना सम्भव नहीं था। अतः मोहन महर्षि और ओम शिवपुरी का आकर्षण मुझे खींचकर ले ही गया।

किंतु इतने पूर्वग्रहों के बाद भी यह क्या हुआ ? अभिनय और कथा ने मुझे पकड़ क्यों लिया ? और क्या केवल मुझे ? नहीं, समस्त दर्शकों को ! इसमें कोई सन्देह नहीं कि दर्शकों ने बड़े स्नेह और मनोयोग से इस नाटक को अन्त तक देखा, समय-समय पर उचित स्थान पर अनुकूल प्रतिक्रिया के द्वारा अभिनय के साथ अपने तादात्म्य का परिचय देते हुए, हम लोगों की इस शंका को निराधार साबित कर दिया कि यह नाटक मंच पर खरा नहीं उतर सकेगा। साथ ही यह भी सत्य है कि बहुत-से दर्शकों ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया कि अभिनय अच्छा लगने पर भी नाटक समझ में नहीं आया, यह साफ़ नहीं हो सका कि नाटककार क्या कहना चाहता है। और यह स्थिति सामान्य दर्शकों की ही नहीं थी।

यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि श्री मोहन महर्षि ने बहुत ही सहृदयता और समझदारी के साथ इस नाटक को प्रस्तुत किया था। उनकी प्रतिभा का सहयोग पाकर इसकी अन्तर्निहित सम्भावनाएँ कई स्थलों पर परिस्फुट हुईं। दृश्यबन्ध की सादगी और सांकेतिकता से नाटक की गरिमा की निश्चय ही वृद्धि हुई। यह बात अलग है कि उनके सत्प्रयासों के बावजूद नाटक की कई दुर्बलताएँ उसके समग्र प्रभाव को क्षीण बनाती रहीं।

इस प्रदर्शन ने जो बात बहुत ही प्रभविष्णु ढंग से उभारी, वह थी सूत्र-धार-नेता-संलाप में सूत्रधार का क्रमिक उत्कर्ष एवं नेता का अपकर्ष ! मूल नाटक में भी यह बात साफ़ है, किंतु ओम शिवपुरी और रामगोपाल बजाज ने क्रमशः इन दोनों भूमिकाओं को इतने सजीव रूप में निबाहा कि दर्शक अभिभूत-से हो गये। मूल नाटक के कुछ संवादों को प्रदर्शन के समय सम्भवतः काट दिया गया था जिससे यह सारा प्रसंग और चुस्त हो गया। इस प्रकरण से नाटककार की यह मान्यता मूर्त हो उठती है कि आज का राजनीतिक नेतृत्व समाज-निर्माण में असफल हो गया है और कलाकार को अपने स्वतन्त्र अस्तित्व एवं निर्भीक चिंतन का प्रमाण देना ही चाहिए। 'गिरा हुआ नेता और उसे फटकारता हुआ सूत्रधार'—प्रदर्शन का यह दृश्य इस बात को साकार कर देता है।

किंतु इसके अलावा और बातें विशेष स्पष्ट हुई हों, ऐसा नहीं लगता। दर्शकों को बहिरंग के मृदु व्यंग्य ने हिल्लोलित किया, वृद्ध, युवक, युवती,

मामूलीराम के अभिनय ने प्रभावित किया, और स्वभावतः वे प्रदर्शन में रस लेते रहे। किंतु बहिरंग का अन्तरंग और रणरंग से क्या सम्बन्ध है और इनकी निष्पत्ति क्या है, इसके सम्बन्ध में दर्शक अनिश्चित हो रहे।

क्या **सुनो जनमेजय** ऐसा नाटक है जो अपने संयोजन में अपनी गहराई के कारण बहुत स्पष्ट नहीं है किन्तु फिर भी अपनी संवेदनशीलता, अर्थवत्ता, कलात्मकता के कारण श्रेष्ठ है ? खेद है कि इस प्रदर्शन को देखने के बाद भी मेरी धारणा ऐसी नहीं बन पायी।

यह ज़रूर है कि मैं यह मानने लगा हूँ कि जिस प्रकार आधुनिक चित्रकला से रेखाओं और रंगों के सहज बोधगम्य, सामंजस्यपूर्ण और स्पष्ट आकारों की अपेक्षा नहीं की जा सकती, उसी प्रकार नये साहित्य से भी यह माँग नहीं की जा सकती कि उसका कथ्य और कथन प्रकार बिलकुल सहज और सुलझा हुआ हो। मानसिक बिखराव के इस युग में कला कृतियों के संयोजन में बिखराव न आये, संगत के साथ असंगत स्थितियों का समावेशन न हो, ऐसा कैसे हो सकता है ? यदि **सुनो जनमेजय** में भी ऐसा हुआ है तो इसी के लिए उसे खारिज नहीं किया जा सकता। किंतु इसके बाद भी यह बात रह ही जाती है कि अपने समग्र रूप में **सुनो जनमेजय** कम से कम मुझको ऐसा नहीं लगा कि उसे युग की महान कृति मान लूँ क्योंकि युग की किसी भी समस्या का मूलगामी चित्रण या उसके समाधान का कोई वास्तविक संकेत उसमें मुझे नहीं मिला।

अपने इन अनुभवों से मैंने दो निष्कर्ष निकाले हैं। एक तो यही कि हमें अपने दर्शकों के सम्बन्ध में वृथा आशंका का पोषण नहीं करना चाहिए। यदि प्रस्तुतीकरण सूझबूझ के साथ किया गया है तो आज का दर्शक-वर्ग जटिल, सांकेतिक एवं गम्भीर नाट्य प्रदर्शनों को भी साग्रह देखने के लिए तैयार है। दूसरा यही कि नाटक का सर्जन वस्तुतः केवल नाटककार नहीं, वल्कि नाटककार, नाट्य प्रयोक्ता, रंग शिल्पी एवं दर्शक मिलकर करते हैं। **सुनो जनमेजय** को, अर्थात् नाटक को, पढ़ना और देखना सचमुच दो अनुभव हैं, और दूसरा पहले अनुभव की अपूर्णताओं को बहुत दूर तक परिपूर्णता प्रदान करता है। इसी से यह बात भी निकलती है कि नाटक को केवल पढ़कर की गयी आलोचना एकांगी और अपूर्ण है। नाटक के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत रूप से सही बात उसका सफल मंचन देखकर ही कही जा सकती है।

● ●

२०.

लहरों के राजहंस का नया रूप

लहरों के राजहंस के नये रूप पर विचार करते समय मुख्यत: ये तीन प्रश्न उभरते हैं :—

(१) क्या उसके पूर्वरूप में परिवर्तन करना आवश्यक था ?
(२) ये परिवर्त्तन कहाँ तक समीचीन हुए हैं ?
(३) नये समग्र रूप में इस नाटक को कहाँ तक सफलता मिली है ?

नाटककार ने परिवर्त्तन के प्रेरक हेतुओं का विस्तृत परिचय 'नाटक का यह परिवर्त्तित रूप' शीर्षक भूमिका में देकर हमारे कार्य को एक दृष्टि से कुछ सरल कर दिया है तो दूसरी दृष्टि से कठिन भी। यदि उससे हमें नाटक की रचना के एवं इन परिवर्त्तनों के पीछे कार्य कर रहे नाटककार के कुछ आत्मगत एवं वस्तुगत कारणों का ज्ञान होता है तो वहीं यह खतरा भी है कि वे सूचनायें हमें प्रतिबन्धित (कंडीशंड) न कर दें और उनके बाहर हम सोच ही न पायें।

नाटककार के वक्तव्य के अनुसार 'लहरों के राजहंस' अश्वघोष के सौन्दरनन्द की कथा का आश्रय लेकर रचित आधुनिक नाटक है, जिसमें इतिहास 'अपनी यथातथ्य घटनाओं में' व्यक्त न होकर 'जीवन को दिशा संकेत देने की दृष्टि से 'परिक्षेपित हुआ है।' नाटक का मूल द्वन्द्व पार्थिव और अपार्थिव मूल्यों का द्वन्द्व है। सुन्दरी, पृथ्वी के प्रतीक में पुरुष और उसकी चेतना को अपने तक बाँधे रखना चाहती है—पुरुष बँधना चाहकर भी उससे ऊपर उठना, एक अपार्थिव जिज्ञासा में अपने लिए उपलब्धि ढूँढ़ना चाहता है।' इस कथन से ऐसा लगता है, पार्थिव और अपार्थिव मूल्यों के परस्पर विरोधी आकर्षणों से ग्रस्त आधुनिक मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व को—एक से निरपेक्ष होकर दूसरे को सम्पूर्ण भाव से ग्रहण करने की असमर्थता के बोध से उत्पन्न तीखी पीड़ा को मर्त्त करना ही इस नाटक का उद्देश्य है।

नाटक के पूर्व रूप का कथासूत्र इस प्रकार है :

जिस दिन देवी यशोधरा भिक्षुणी होने वाली थी ठीक उसकी पूर्व रात्रि को सुन्दरी कामोत्सव का आयोजन करती है, उस दृष्टि को नकारने वाली

चुनौती के रूप में। इस धृष्टतापूर्ण स्पर्धा का गूँगा प्रतिवाद मुखरित होता है, चिन्तनसंत्रस्त कर्मचारी श्यामांग की बहकी बहकी बातों, कार्यगत अक्षमता एवं राजहंसों के ऊपर से काली छाया हटाने के लिए उन पर पत्थर फेंकने के उन्मादग्रस्त आचरण द्वारा : षड्यंत्र की शंका से ग्रस्त सुन्दरी उसे अन्ध-कूप में उतारने का दंड देकर भी अपनी प्रिय अनुचरी अलका के प्रति प्रीति-भाजन होने के कारण उसे न केवल क्षमा कर देती है, बल्कि अलका की स्नेहपूर्ण परिचर्या में रखने का आदेश भी देती है। आखेट से लौटा नन्द आत्मरक्षा के प्रयास की थकावट से हो मृत मृग को देखने के कारण उदास है। आमंत्रितों द्वारा उस रात्रि के उत्सव में सम्मिलित न होने के निर्णय से उसकी उदासी और गहरी हो गयी है। पहले नन्द से और फिर आर्य मैत्रेय से इसकी सूचना पाकर सुन्दरी विक्षुब्ध हो उठती है। अपनी कामना के उत्सव को स्थगित करने के प्रस्ताव को अस्वीकारती हुई वह मानिनी नारी उसको आभ्यन्तर रूप से ही मनाने के लिए कटिबद्ध है।

रात्रि के उद्दाम विलास के बाद सुन्दरी थककर सो जाती है किन्तु चिन्ता-ग्रस्त नन्द श्यामांग के सांकेतिक ज्वर प्रलाप से व्यथित हो जागता रहता है। सुन्दरी जागकर अपने श्रृंगार प्रसाधन के लिए अलका की अनुपस्थिति में नन्द से सहायता लेती है। दुश्चित्तानन्द भिक्षु-भिक्षुणियों की 'धम्मं शरणं गच्छामि' आदि ध्वनियों से और भी असन्तुलित हो उठता है एवं उसके हाथ से गिरकर दर्पण टूट जाता है। रूठी सुन्दरी को किसी तरह मनाकर ज्योंही वह उसके ललाट पर विशेषक बनाने लगता है, त्योंही अलका सूचना देती है कि बुद्ध दो बार भिक्षा याचना कर द्वार से विफल काम लौट गये हैं। नन्द इस प्रमाद से विकल हो बुद्ध से क्षमा-याचना करने जाना चाहता है। सुन्दरी उसे रोकती नहीं किन्तु शीघ्र ही लौट आकर श्रृंगार पूरा करने का वचन ले लेती है।

किन्तु नन्द शीघ्र लौट नहीं पाता। राजहंसों के उड़ जाने की सांकेतिक योजना से नन्द के भी न लौटने की आशंका गहरा जाती है। इच्छा के विरुद्ध दी गयी दीक्षा को अपनी दिशा मानने से इन्कार कर नन्द विक्षुब्ध स्थिति में निःशस्त्र ही जंगल में प्रवेश करता है, आत्मविनाश की प्रवृत्ति से एक सिंह से उलझ जाता है, फिर आत्मरक्षा के लिए उससे संघर्ष कर क्षत विक्षत हो लौटता है, विक्षु आनन्द के तर्कों को अस्वीकार करता है, निराश प्रतीक्षा से थककर सोयी सुन्दरी के प्रति अपनी पूर्ववत् अनुरक्ति की घोषणा करता है, किन्तु अपने मुंडित भिक्षुरूप से सुन्दरी को मर्माहत हुआ देख उसका सामना नहीं कर पाता, श्वेतांग से यह कह कर चला जाता है कि वह तथागत से

अपने केश माँगने जा रहा है, क्योंकि सुन्दरी को उनकी आवश्यकता है ...।
नन्द के इतना ही समझ पाने की चोट से कातर हो उठती है सुन्दरी, श्यामांग प्रलाप में एक किरण की याचना करता रहता है—!

आलोचकों द्वारा नाटक के पूर्वरूप के प्रति की गयी आपत्तियों में प्रमुख ये थीं :—श्यामांग का प्रसंग अस्पष्ट और अंशतः असंगत है, बुद्ध द्वारा नन्द को दीक्षा देने की घटना सूच्य होने के कारण कथा का मूल द्वन्द्व पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं हो पाता, भिक्षु आनन्द का नन्द के साथ उसके गृह में आने का कोई सार्थक प्रयोजन नहीं है, और सर्वोपरि सुन्दरी का सामना किये बिना नन्द का लौट जाना नियति से साक्षात्कार न करने की दुर्बलता है और नाटक के समग्र प्रभाव के लिए अत्यन्त घातक है। तर्क के लिए नाटककार के पास दूसरों के हर प्रश्न का उत्तर था किन्तु भीतर भीतर उसे भी लगता रहा कि 'कुछ ऐसा है, जो इस नाटक में होना चाहिए था और नहीं है।' इसी स्थिति में अनामिका के यशस्वी निर्देशक श्री श्यामानन्द जालान के अनुरोध पर श्री मोहन राकेश इस नाटक के प्रस्तुतीकरण के उद्योग पर्व में सहयोग देने के लिए कलकत्ते पधारे। नाटककार और निर्देशक के पारस्परिक विचार विमर्श ने परिवर्तन को दिशा दी : नाटक के नये रूप में आलोचकों की कुछ आपत्तियों का परिहार करने की सजग चेष्टा परिलक्षित होती है। अनामिका के लिए परिवर्तित रूप में राकेश ने पुनः कुछ परिवर्तन कर उसे वर्तमान रूप दिया है।

श्यामांग-प्रसंग से नाटककार ने दो प्रयोजनों की सिद्धि करनी चाही है। एक ओर श्यामांग-अलका के संयत त्यागमय प्रेम को नन्द सुन्दरी के उद्दाम आवेगमय वासनात्मक प्रणय की तुलना में नरनारी के प्रेम के एक विकल्प स्तर के रूप में संकेतित किया गया है, दूसरी ओर श्यामांग की वैचारिक उलझन और किंकर्त्तव्य विमूढ़ता को नन्द के अन्तर्मन में चलने वाले द्वन्द्व के प्रतीक के रूप में उभारा गया है। वस्तुतः पहले प्रयोजन की सम्यक् सिद्धि के लिए नाटक की मूल कथा का चुस्त और क्षिप्रप्रवाह कोई अवकाश ही नहीं देता, इंगितों द्वारा दिये गये उसके क्षीण आभास का कोई विशेष महत्व नहीं माना जा सकता। क्योंकि इससे तो किसी को इन्कार नहीं है कि नन्द-सुन्दरी के प्रेम के प्रतिरूप (पेटर्न) से भिन्न नरनारी के भावनात्मक सम्बन्ध के अनेक प्रतिरूप हो सकते हैं। जब तक किसी अन्य प्रतिरूप को समुचित ढंग से प्रस्तुत न किया जा सकता हो, तब तक किसी चुस्त नाटक में उसका संयोजन संगत नहीं माना जा सकता। यह अच्छा ही है कि नाटककार ने इसे विशेष तूल नहीं दिया है।

हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि दूसरा प्रयोजन कलात्मक है और पूर्वरूप में उसकी सिद्धि में जो अस्पष्टता या अवांछित विस्तार आदि की त्रुटियाँ थीं, उन्हें नये रूप में दूर करने की कुशल चेष्टा की गयी है। नन्द और श्यामांग की मनःस्थिति का साम्य दिखाने के लिए प्रथम अंक में कई संवाद जोड़े गये हैं। एक ही उदाहरण यथेष्ट है :

नन्द :—तुम जानती हो श्यामांग इस भवन में अकेला कर्मचारी है जिससे—

सुन्दरी :—(अमीर भाव से झूले से उठती हुई) जिससे आपको विशेष अनुराग है ! —**जिसकी बातों में आपको अपने अन्तर्मन की छाया झलकती दिखायी देती है**। जानती हूँ।

द्वितीय अंक में श्यामांग के रात भर के प्रलाप और नन्द के जागरण में अन्तःसम्बन्ध दिखाने के लिए नन्द से यह भी कहलवाया गया है, 'परन्तु यह स्वर जैसे रात पर ही नहीं, मेरी चेतना पर भी पहरा दे रहा है। यही मुझे भी सोने नहीं देता।' अब भी यदि कोई दर्शक या पाठक इन दोनों के तादात्म्य के सूत्र को न पकड़ सके तो उसके लिए उसकी असावधानी को ही उत्तरदायी माना जायेगा, नाटककार को नहीं। इससे अधिक स्पष्टता कला को स्थूल बना देगी। श्यामांग के प्रलापों को संक्षिप्त भी कर दिया गया है और संख्या में कम भी। उदाहरण के लिए नाटक के पूर्वरूप में चूँकि नन्द अपनी बात बिदा होने के समय स्वयं नहीं कह सका था अतः उसकी विकल दिशाहीनता को सूचित करने वाले श्यामांग के प्रलापों से नाटक का समापन उचित ही था, किन्तु नये रूप में नन्द अपनी बात स्वयं ही कह लेता है अतः अनावश्यक हो जाने के कारण श्यामांग का प्रलाप हटा दिया गया है। इससे नाटक की कसावट और बढ़ गयी है।

नन्द की दीक्षा को दृश्य रूप में उपस्थित करना न केवल दृश्य-विधान के परिवर्तन की समस्या उत्पन्न करना बल्कि इच्छा के विरुद्ध दीक्षादान की रूढ़ता को उजागर कर बुद्ध की महिमा को भी खंडित करता। सच तो यह है कि सूच्य में भी यह बात अखरती ही है। अपार्थिव मूल्यों के प्रति नन्द की ऐकान्तिक निष्ठा का अभाव, भिक्षु आनन्द के साथ किये गये उसके तर्कों से स्पष्ट है ही। इस नाटक में चरम की स्थिति सुन्दरी के समक्ष ही आ सकती है बुद्ध के समक्ष नहीं, अतः दीक्षा को दृश्य रूप में उपस्थित करने से नाटक का मूल द्वन्द्व पूर्णतः अभिव्यक्त हो जाता, यह नहीं माना जा सकता। भिक्षु

आनन्द का नन्द के साथ आगमन और वार्त्तालाप निश्चय ही सार्थक हैं। असल में भिक्षु आनन्द भी श्यामांग के सदृश प्रतीक चरित्र ही हैं, वे नन्द के ऊपर पड़े बुद्ध के प्रभाव को ही व्यक्त करते हैं। इस दृष्टि से नन्द और आनन्द के तर्क वितर्क को नन्द के द्विधाविभक्त मन के परस्पर विरोधी भावों का संघर्ष ही मानना चाहिए। हमारे विचार से नाटककार ने इन आपत्तियों को अग्राह्य मानकर और इनके अनुरूप कोई परिवर्त्तन न कर विवेक का परिचय दिया है।

मुख्य परिवर्त्तन तृतीय अंक में हुआ है। पूर्वरूप में नन्द के गृह त्याग की परिस्थिति प्रत्यायक (कन्विंसिंग) नहीं बन पड़ी थी। नन्द को लगा था कि केश (पुरुष के बाह्य आकर्षण का प्रतीक) ही सुन्दरी के लिए सर्वोपरि है और उसी के अभाव में वह उसे दूसरा व्यक्ति मान बैठी है, जबकि सुन्दरी को आघात इस बात का पहुँचा था कि नन्द ने दीक्षा ग्रहण कर उसके विश्वास को भंग किया है, उसके प्रेम को अपमानित किया है। गलतफहमियों पर आधारित त्रासदियों की कमी नहीं है विश्वनाट्य साहित्य में : किन्तु वैसा करने पर प्रस्तुत नाटक का बौद्धिक आधार दुर्बल हो जाता, साथ ही नन्द का चरित्र आदि से अन्त तक सुन्दरी के समक्ष दबा ही रहता। अपने को दृढ़ता-पूर्वक कहीं, कभी व्यक्त न कर पाने की नायक की करुण सीमा उसे ही नहीं, एक हद तक नाटक को भी बौना बना देती।

अपने परिवर्त्तित रूप में भी नन्द सुन्दरी के समकक्ष नहीं हो सका है। प्रतीक रूप में सुन्दरी के समक्ष वास्तविक प्रत्यवस्थित चरित्र तो बुद्ध हैं। नन्द की नियति तो उन दोनों ध्रुवान्तों के द्वारा लोलक की भाँति आकर्षित विकर्षित होते रहने की है। किन्तु अपनी इस नियति को इस बार उसने दृढ़ कंठ से घोषित किया है। उसके ये वाक्य सुन्दरी की धारणा बदल पाने में भले असमर्थ सिद्ध हुए हों, अपने में स्पष्ट हैं :

'मैं कब से जानता हूँ कि मैं पूरा यहाँ जीने के लिए नहीं हूँ, यह भी कि पूरा यहाँ से कट कर जीने के लिए भी नही हूँ।—'

'उनके पास था, तो मन यहाँ के लिए व्याकुल था। अब तुम्हारे सामने हूँ तो मन कहीं और के लिए व्याकुल है। क्योंकि यहाँ हो या वहाँ, सब जगह मैं अपने को एक सा अधूरा अनुभव करता हूँ।'

नन्द की खोज इस बात की है कि वह कहाँ कितना किस बिन्दु पर जीने के लिए है। वह किसी एक बिन्दु पर पूरा जी नहीं सकता और परस्पर विरोधी विभिन्न बिन्दु एक स्थान पर मिल नहीं सकते अतः नन्द अभिशप्त है

इस मरीचिका के पीछे दौड़ते दौड़ते अपनी ही थकावट से—अपनी व्यर्थता के बोध से पीड़ित हो गिर कर मर जाने के लिए नाटक के प्रतीकात्मक मृग की ही तरह। जब तक वह क्षण नहीं आता तब तक उसे भटकना ही है।

नाटक के नये रूप में समाप्ति के पूर्व नन्द-सुन्दरी का वाग्युद्ध इतना तीखा, तीता, इतना निर्मम है कि सहसा विश्वास नहीं होता कि ये दोनों वे ही पात्र हैं जो द्वितीय अंक तक एक दूसरे के लिए मधु, मधु और मधु ही लगते थे। यह तीखापन परिस्थिति-प्रसूत कम और आरोपित अधिक लगता है। सुन्दरी देख रही है कि नन्द आहत है, विक्षिप्त मन:स्थिति में है, सुन रही है कि किसी ने हठ से उसके केश काट दिये हैं, उसने स्वयं न दीक्षा ली है, न उस पर उसका विश्वास है,—फिर भी वह द्रवित नहीं होती, उसके घावों का उपचार नहीं करती, उसे स्नेह-सहानुभूति से समझना नहीं चाहती (जबकि द्वितीय अंक के अन्त में उसका दावा था, 'क्योंकि बहुत-कुछ है जो अपने विषय में आप नहीं जानते केवल मैं जानती हूँ) एक के बाद एक निर्मम व्यंग्य करती चली जाती है। यह उसके लिए अत्यन्त अस्वाभाविक लगता है, व्यक्ति के रूप में भी और प्रतीक के रूप में भी। प्रतीक के रूप में इस दृष्टि से और भी अधिक कि अपार्थिवता से लौट कर पार्थिवता की ओर आते हुए व्यक्ति को पार्थिवता स्वयं पुनः क्यों विमुख कर देगी। फिर भी एक दूसरी दृष्टि से यह अंश भी प्रभावित करता है, जिसकी चर्चा आगे की जायेगी।

अन्य सामान्य परिवर्त्तनों में प्रथम अंक के आरंभ में कार्य की गुरुता प्रदर्शित करने के लिए श्वेतांग का पाँच पाँच कर्मचारियों को डाँट कर मंच से विदा करना (जिनमें से चार फिर कभी मंच पर नहीं आते) अतिरंजित—बल्कि अनावश्यक लगता है। पात्रों की अकारण वृद्धि का समर्थन नहीं किया जा सकता।

कहीं, कहीं अधिक स्पष्टता और दीप्ति लाने के लिए भाषा को कुछ मांज़ दिया गया है। बुद्ध युग में काँच का दर्पण नहीं होता था अतः नये रूप में उसकी जगह 'कच्चे रजत का दर्पण' कर दिया गया है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इन परिवर्त्तनों से नाटक की प्रभविष्णुता और विचारोत्तेजकता बढ़ी है।

नये रूप पर केवल परिवर्त्तनों की दृष्टि से नहीं, समग्रता की दृष्टि से विचार करने पर नाटक की मूल अवधारणा और उसके रूपायण के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न उठ खड़े होते हैं। नाटककार के अनुसार इस नाटक की अवधारणा के

मूल में दो बिम्ब रहे हैं। एक है सौन्दरनन्द से प्राप्त परस्पर-विरोधी तरंगों पर तैरते राजहंस का या अनिश्चय में उठे रुके एक पैर का। इसी के आधार पर नाटक का नाम रखा गया है। दूसरा कल्पना रचित है, दो दीपाधार— एक ऊँचा, शिखर पर पुरुषमूर्त्ति—बाहें फैली हुई तथा आँखें आकाश की ओर उठी हुई, दूसरा छोटा, शिखर पर नारीमूर्त्ति—बाहें सिमटी हुई तथा आँखें धरती की ओर झुकी हुई। इन दोनों बिम्बों को समन्वित रूप से प्रतिफलित किया गया है आधुनिक जीवन में चल रहे पार्थिव और अपार्थिव मूल्यों के द्वंन्द्व को उभारने के लिए। अब संकट यह है कि इनमें कई प्रकार के अन्तर्विरोध हैं, आधुनिक जीवन का बिम्ब और चाहे जो भी हो थमे हुए राजहंस या अनिश्चय में उठे रुके एक पैर का तो नहीं ही है। अनिश्चय के साथ तीव्र गति या दिशाहीन गतिमयता को यदि आधुनिक जीवन की अभिलक्षक विशेषता माना जाय तो मेरी आँखों के सामने उसके बिम्ब के रूप में मूर्त्त हो उठती है रवीन्द्र नाथ की 'बलाका' कविता की वह बक पंक्ति जो झंझामदरसमत्त पंख लिये समक्ष को अस्वीकारती, शून्य में मँडराती, या ध्वनि गुंजाती फिरती है, 'हेथानय, अन्यकोथा, अन्यकोन् खाने' (यहाँ नहीं, और कहीं, और कहीं, और कहाँ ?)। फिर नारी को पार्थिव मूल्यों से एक कर देने को और पुरुष को बँधना चाह कर भी उससे ऊपर उठकर अपार्थिव जिज्ञासा में अपने लिए उपलब्धि ढूँढ़ने वाला बताने को 'माया रूपी नारि' और 'अजब आजाद मर्द' की मध्य-युगीन मान्यताओं से पृथक् आधुनिक दृष्टि किस प्रकार माना जा सकता है, समझ में नहीं आता। एक मजे की बात यह भी है कि बिम्ब के पुरुष की बाहें फैली हुई हैं (सम्भवतः उनमें वह प्रिया को बाँध लेना चाहता है) और बाहें समेटे नारी बंधने के लिए प्रस्तुत समर्पण सी लगती है, जब कि नाटक में स्थिति बिलकुल विपरीत है। साहित्यसर्जना के विशेषाधिकार का प्रयोग करते हुए नाटककार ने नाटक का अन्त अपनी दृष्टि से पार्थिव-अपार्थिव मूल्यों के अमीमांसित द्वंद्व में ही किया है, मूलकथा के अनुरूप किसी निश्चित परि-णाम पर पहुँच कर नहीं : सवाल यह है कि क्या सामान्य आधुनिक मनुष्य की इतनी व्याकुलता अपार्थिव मूल्यों के लिए है और इसी सन्दर्भ में यह भी कि वे कौन से अपार्थिव मूल्य हैं जिनके लिए इस नाटक का नन्द बेचैन है। जहाँ तक नन्द का प्रश्न है, पहले और दूसरे अंक में इसका हल्का आभास मिलता है कि कुछ है जिसके चलते अपने जीवन के उपभोग और विलास में उसे रिक्तता का बोध होता रहता है—तभी वह बार-बार मृत मृग और फीके चाँद की बात सोचता है। तीसरे अंक में वह मन की व्याकुलता की शान्ति की— आत्मा के विश्राम को प्रकारान्तर से काम्य मानते हुए भी वैराग्य और विवेक,

शील और संयम, आर्यसत्य और स्मृत आदि की दिशा को अपनी दिशा नहीं मानता। अन्यत्र वह कहता है, 'सुख, सुख नहीं, काई पर फिसलते पाँव का स्पन्दन मात्र है, मात्र रेत में डूबती बूँद की अकुलाहट' सुखों की क्षणिकता की यह अनुभूति क्या उसे अपार्थिव स्तर पर हो रही है, क्या इसके चलते वह किन्हीं अपार्थिव मूल्यों को ग्रहण करना चाहता है? 'नहीं, क्योंकि इसी के बाद उसका तर्क है, 'परन्तु वह स्पन्दन, वह अकुलाहट ही क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है? आकाश में लटकते नीले बिन्दु—कोरे सिद्धांतों के—वे अधिक स्थायी, अधिक सत्य कैसे हैं?' अपनी जिन आन्तरिक आवश्यकताओं के कारण वह सुन्दरी से दूर—बुद्ध के पास—जाता है और फिर सुन्दरी के पास लौट आता है—उसे पुनः त्यागने के लिए—क्या वे अपार्थिव और पार्थिव आवश्यकताएँ हैं? तो अपार्थिव मूल्यों की स्थापना का कोई गंभीर प्रयत्न क्यों नहीं किया गया? नन्द के किसी स्वगतकथन में ही उनके प्रति तीव्र ललक क्यों नहीं व्यक्त की गयी? भिक्षु आनन्द के संकेत नितान्त अपर्याप्त और चलते से लगते हैं, इसीलिए नन्द द्वारा सहज ही अवहेलित होते हैं। सच्चाई यह है कि नाटक के रहस्यमय अपार्थिव मूल्य अपनी समस्त गरिमा के साथ परोक्ष में स्थित हैं, प्रत्यक्षतः तो सुन्दरी द्वारा बार-बार उनका उपहास और नन्द द्वारा उनका प्रत्याख्यान किया जाता है। इस सबसे क्या यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि पार्थिव-अपार्थिव मूल्यों का तथाकथित द्वन्द्व मुलम्मा भर है, असली बात नहीं।

तो फिर असली बात क्या हो सकती है? ऐसा क्यों है कि इन अन्तर्विरोधों के बावजूद यह नाटक शक्तिशाली है, प्रभविष्णु है? हमें लगता है कि इसका मूल कारण विचारों और व्यवहारों के स्तरों पर आधुनिक जीवन के अन्तर्विरोधी यथार्थ की सशक्त अभिव्यंजना है। सच तो यह है कि मूल रोमांटिक बिम्ब योजना या ऐतिहासिक आवरण के सहायक कम और बाधक अधिक होते हुए भी नाटक की स्थितियों में समसामयिक जीवन के यथार्थ का प्रतिफलन पाकर दर्शक वर्ग अपने अवचेतन मन में ही उससे तादात्म्य स्थापित करता चलता है। नाटक का गहरे तनाव से युक्त वातावरण हमारे तनावपूर्ण जीवन का समशील लगता है। प्रथम अंक में सुन्दरी का उद्धत गर्वीला व्यवहार आज के युग के तेवर को सशक्त रूप से व्यक्त करता है। स्थापित मान्यता के केन्द्र (बुद्ध) की सत्ता की अवमानना, अपार्थिव मूल्यों का उपहास, लोकमत निरपेक्ष होकर अपनी कामना को तत्काल तृप्त करने का आग्रह आज की विद्रोही तरुण पीढ़ी की भी विशेषताएं हैं। श्यमांग का संत्रास, कर्महीन

चिन्तन-मूढ़ता, काले अंधेरे कूप में भटकती नियति की छाया का आतंक बोध, आज के विभ्रान्त बुद्धिजीवियों की मनःस्थिति की ही प्रतिच्छवि है। द्वितीय अंक में नन्द के परस्पर विरोधी आकर्षणों से उत्पन्न अनिश्चय और अन्तर्द्वन्द्व पर तथा सुन्दरी की वशीभूत पुरुष को खो देने की आशंका पर श्रृंगार प्रसाधन के प्रसंग से स्त्री पुरुष की प्रगल्भ समीपता का रंगीन आवरण पड़ा हुआ है किन्तु भीतर भीतर दोनों आशंकित हैं, दोनों मन खोलकर बातें करने और सत्य का सामना करने से भयभीत हैं। हम उन लोगों से असहमत हैं जो इसे प्रेम का रमणीय चित्रण मानते हैं, घुन लगे सम्बन्धों को बनाये रखने की सतर्क चेष्टा प्रेमाभास ही मानी जा सकती है, प्रेम नहीं। तृतीय अंक में बुद्ध और सुन्दरी दोनों से नन्द का दिशाहीन विद्रोह दो निश्चित स्थिर व्यवस्थाओं के प्रति विद्रोह है जिनमें व्यक्ति के स्वतन्त्र और समग्र रूप के लिए आवश्यक लचीलापन नहीं है, जिसके कारण वह दोनों में से किसी में अपनी चरितार्थता का अनुभव नहीं कर पाता। नन्द और सुन्दरी की समक्षता (कॉनफ्रंटेशन) आधुनिक स्वकेन्द्रिक स्त्री पुरुष की समक्षता है और दोनों के बीच आया अलगाव, साथ रहते हुए भी अकेलेपन का अनुभव, दोनों के चुक गये सम्बन्धों का द्योतक है। यह कहना कि इस समक्षता के मूल में पुरुष का अपार्थिव मूल्यों के अनुसन्धान का आग्रह है, और स्त्री का पार्थिव मूल्यों से उसे बाँधकर रखने का हठ, केवल बात की बात है! स्त्री पुरुष की प्रवृत्तियों का ऐसा ऐकान्तिक विभाजन अवैज्ञानिक है। वस्तुतः इस विच्छेदप्रसू समक्षता के मूल में दूसरे को समझने के स्थान पर उस पर अपने को थोपने का हठाग्रह है, साथ ही भिन्न आकर्षण की प्रकृति पर सन्देह भी है। साथ रहकर भी अलग अलग इकाइयों के रूप में बने रहने और अपरिचय की दूरी को कम न कर पाने की आधुनिक स्त्री पुरुष के सम्बन्धों की ट्रैजेडी को झलकाने के कारण ही यह समापन प्रभावित करता है।

जो कुछ भी ऊपर कहा गया है उस सबके बावजूद इसमें सन्देह नहीं कि लहरों के राजहंस हिन्दी नाट्य साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि है। उसकी कथा-वस्तु की कसावट, उसके संवादों का पैनापन, उसकी समृद्ध भाषा, उसके जीवन्त चरित्र, समसामयिक जीवन की विसंगतियों का मूलगामी चित्रण उसे निश्चय ही असाधारण कृति बना देता है। अतः इन शब्दों के साथ हम लहरों के राजहंस के नये रूप का स्वागत करते हैं।

निराला की साहित्य साधना

(प्रथम खंड-जीवनचरित)

निराला की साहित्य साधना के प्रथम खंड के रूप में निराला के जीवन-चरित का प्रकाशन ऐतिहासिक महत्व की घटना है।

हिन्दी में प्रचलित 'सर्वगुण सम्पन्न हमारे चरितनायक'—वाद की अतिशय भावुकतापूर्ण, आधे तथ्य, आधे अनुमान से भरे जीवन-चरित-लेखन की धारा से सहज ही अलग दिखनेवाली इस गौरवशालिनी कृति का सबसे बड़ा गुण है आत्मीयतापूर्ण श्रद्धा के बावजूद नीरक्षीर विवेकी वैज्ञानिक की सी वस्तुपरकता एवं तथ्यों के प्रस्तर खंडों को तराश कर उन्हें जीवन्त कर देने वाले शिल्पी की सी भावमयता का मणिकांचन संयोग। सच, डा० रामविलास शर्मा ने निराला को देवता या सन्त बनाये बिना, उनकी दुर्बलताओं पर पर्दा डाले बिना, उनके सहज महान् मानवरूप को इसमें मूर्त्त कर दिया है।

निराला के जीवन की रेखाओं को परिस्फुट करनेवाली प्रामाणिक सामग्री के संकलन में बहुत ही विवेकयुक्त परिश्रम किया गया है। उनके साहित्य में आये आत्मव्यंजक उल्लेखों, उनके और उनसे सम्बद्ध अन्यों के पत्रों, संस्मरणों, समसामयिक पत्रपत्रिकाओं एवं पुस्तकों में प्रकाशित रिपोर्टों, आलोचना-प्रत्यालोचनाओं, मूल्यांकनों आदि को यथासंभव ठोंक बजाकर ही ग्रहण किया गया है। तथ्यों के प्रति निष्ठा इस कृति में इस सीमा तक है कि रामविलास जी इसमें 'गाथा-भंजक' के रूप में प्रकट हुए हैं। अपनी कुछ ग्रंथियों के कारण निराला ने स्वयं अपने बारे में कई गाथायें रची थीं, उनके श्रद्धालु भक्तों और द्वेषी आलोचकों ने उनके अनुकूल प्रतिकूल जो 'गाथा जाल' रचा है, उसका परिमाण विशाल है। चतुर वकील की तरह जिरह कर और अनुसन्धान द्वारा उपलब्ध प्रमाणों की तुला पर तोल कर उन्होंने बहुतेरी गाथाओं को धूलिसात् कर दिया है। प्रचलित विश्वासों के प्रतिकूल उनके कुछ प्रमुख निष्कर्ष हैं, निराला का जन्म वसन्त पंचमी को नहीं हुआ था, 'महिषादल में उनका लालन पालन राजकुमारों की तरह नहीं, जमादार के बेटे की तरह अभावों में हो हुआ था, बड़े होने पर भी राज में उन्हें अत्यन्त साधारण नौकरी और प्रचुर लांछना मिली थी, मतवाला का प्रकाशन उनकी प्रतिभा को प्रकाश में लाने के

लिए नहीं हुआ था, यह ठीक है कि आरम्भ में मतवाला मंडल में उनकी स्थिति बहुत सम्मान पूर्ण थी किन्तु 'भावों की भिड़न्त' के प्रकाशन के बाद वह बात नहीं रह गयी थी और उग्र के आगमन के बाद तो वह दयनीय हो गयी थी, जिसके फलस्वरूप उन्हें 'मंडल' से अलग होना पड़ा था, 'जुही की कली' उन्होंने सोलह साल की उम्र में नहीं लिखी थी, न वह उनकी पहली कविता थी, न महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पादन काल में उसे सरस्वती में प्रकाशनार्थ भेजा ही गया था अतः उनके द्वारा उसे अस्वीकृत करने का प्रश्न ही नहीं उठता, मुक्त छन्द के आविष्कारक निराला नहीं हैं, उन्होंने इसे बँगला के प्रसिद्ध नाटककार गिरिश चन्द्र घोष से ग्रहण किया था, दुलारेलाल भार्गव ने उनका पोषण कम और शोषण बहुत अधिक किया, उन्होंने पन्त की काव्य-प्रतिभा का अपहरण कर अपनी उत्कृष्ट रचनायें नहीं लिखीं, वे पागल नहीं हो गये थे उनका मानसिक विक्षेप न्यूरोसिस और पैरानोइया की भूमिका से आगे नहीं बढ़ा था, वे औढर दानी जरूर थे किन्तु रुपये लुटाते नहीं फिरते थे, उन्हें प्रायः अन्ततक अपने वृहत्तर परिवार एवं आश्रितों की चिन्ता रही और यथाशक्ति उनकी आर्थिक सहायता करते रहे। निराला की दुर्बलताओं को भी उन्होंने नहीं छिपाया है, अपेक्षाकृत रूप से अल्पज्ञात तथ्यों का 'भोग के पुरस्कार में रोग' पाने का, जीविका के लिए छतरपुर नरेश की प्रशस्ति में कविता लिखने का, अज्ञात कारणों से प्रौढ़ावस्था में हुए उन पर संगीन आघातों का वर्णन भी किया है और रवीन्द्र एवं पन्त के प्रति ईर्ष्या भरी स्पर्धा का विस्तृत निरूपण भी। इन सबके बावजूद निराला कवि के रूप में ही नहीं, मनुष्य के रूप में भी महान् थे। अपने प्रतिकूल चलने वाले संगठित विरोध अभियान, प्रकाशकों के हृदयहीन शोषण एवं नियति के क्रूरआघातों के विष से दग्ध होते हुए भी अमृतसन्धानी निराला की अदम्य आशावादिता, जीवट भरी संघर्षशीलता, मर्मस्पर्शी कृतज्ञता, एवं आघात जर्जर मन की अपराजेय आस्था के प्रचुर उदात्त, करुण चित्र इस पुस्तक में मिलेंगे। किन्तु शर्माजी ने जिस प्रकार वीर पूजा की अन्ध श्रद्धाभरी प्रवृत्ति से अपने को बचाया है, उसी प्रकार करुणा उगाहने की रुग्ण मन.स्थिति से भी। इस पुस्तक का एवं सम्भवतः निराला के जीवन का भी करुणतम प्रसंग है सरोज की मृत्यु। दारुण अर्थाभाव में छटपटाता पिता (दुलारेलाल भार्गव ने उस समय निराला को रुपया देने से बिलकुल इन्कार कर दिया था) और सम्यक् चिकित्सा के अभाव में तिलतिल कर मृत्यु की ओर अग्रसर होती पुत्री। किन्तु जिस तरह सरोज की मृत्यु की सूचना पाकर निराला ने 'न एक भी आँसू गिराया, न एक भी शब्द कहा' (पृ० २६३) उसी तरह रामविलास जी की लेखनी ने उस चरम पीड़ा भोग को परम वाक् संयम द्वारा अत्यन्त

प्रभविष्णु बना दिया है। सस्ती (प्रायः कृत्रिम) भावुकता से गंभीर भाव प्रवणता का अन्तर ऐसे ही स्थलों पर स्पष्ट होता है। जो दुख निराला के खून में जहर बन कर घुल गया था और उन्हें जला रहा था, उसके तीखे दाह की अनुभूति पाठक भी करता है साथ ही साथ उस शक्ति का अनुभव भी जिसके लिए रामविलास जी ने लिखा है, 'निराला ने अन्तर की समस्त शक्ति बटोर कर भ्रम और प्रवंचना से दूर अपने क्षुब्ध मन को शान्त किया।' (पृ० २९८) इसी तरह प्रेमचन्द, प्रसाद और स्वयं निराला की मृत्यु के प्रकारणों में भी सघन वेदना की हृदय-द्रावक अनुभूति के बावजूद अश्रु छलछल भावुकता नहीं है।

यह जीवन चरित एक व्यक्ति का होते हुए भी, व्यक्ति सीमित ही नहीं है। निराला एक व्यक्तिमात्र ही तो नहीं थे। वे संघर्षशील, श्रमजीवी हिन्दी लेखकों के प्रतिनिधि थे, अतः उनकी जिन्दगी बहुत दूर तक सर्व सामान्य श्रमजीवी लेखक की जिन्दगी है। वे अपने युग के प्रमुख निर्माताओं में से एक थे, स्वभावतः उनके चरित में उनके युग की प्रवृत्तियाँ, विशेषताएँ और अन्तर्विरोध भी उभरे हैं। साहित्यिक स्तर पर वह छायावाद के उपहास, विरोध, प्रतिष्ठापन एवं प्रगतिशील, प्रयोगशील धाराओं में रूपान्तर की कहानी है तो राष्ट्रीय स्तर पर कर्मठ वेदान्त, राष्ट्रीयता, गांधीवाद और 'कास्मिक' समाजवाद के समवाय की गाथा। और फिर वे केवल अपने युग के ही नहीं हैं, रूढ़ियों को निर्ममता पूर्वक तोड़नेवाला यह क्रान्तिकारी परम्परा से सर्वाधिक जुड़ा भी होने के कारण न केवल हिन्दी भाषी जाति का ही बल्कि आवहमान काल से चली आनेवाली भारतीय संस्कृति का मुखपात्र भी है, अतीत का भी है और भविष्य का भी। रामविलास जी ने निराला चरित के इन विविध स्तरों को सचेत रूप से उद्घाटित किया है, निम्नलिखित उद्धरण इसके प्रमाण हैं :—

'आज हर लेखक का भाग्य निराला के भाग्य से जुड़ा हुआ है—उस हर लेखक का भाग्य जिसने ईमान बेचा नहीं है, जो अपनी कला के प्रति सच्चा है। विशेष रूप से हिन्दी लेखक, जो अभावों और रूढ़ियों की दुनिया में एक व्यापक सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्त्तन के लिए जूझ रहे हैं, निराला के भाग्य को अपना भाग्य मानते हैं....'(पृ० ५२२)' निराला अपने युग के साथ महान् थे। भारतेन्दु ने जो आंशिक क्रांति की थी, उसे बहुत कुछ पूरा किया निराला और उनके सहयोगियों ने। '(पृ० ५४८)' निराला का अर्थ है हिन्दी, हिंदी साहित्य

की परम्परा। जिसने परम्परा की कड़ियाँ सबसे ज्यादा तोड़ी थीं, वही उस परम्परा का सबसे समर्थ प्रतिनिधि था। '(पृ० ४६५)' हिन्दी भाषी जाति की अतुलशक्ति और उसके अन्तर्विरोधों के प्रतीक निराला थे। '(पृ० ५५०)' वाल्मीकि और व्यास का उदात्त स्वर भक्तिकाल की विनम्र वाणी में खो गया था। वह स्वर भारतीय जनता ने फिर से इस युग में सुना—निराला के काव्य में। '(पृ० ५५०)' हो सकता है कि कुछ लोगों को ये दावे अतिरंजित लगे किन्तु इस विवाद का सही निर्णय तो समय ही कर सकता है। प्रस्तुत जीवन चरित के सम्बन्ध में यही कहना है कि अत्यन्त व्यापक दृष्टि से संवलित होने के कारण यह निराला और उनके युग को बिम्बित करनेवाला महत्त्वपूर्ण आलेख बन गया है।

निस्सन्देह इस ग्रंथ के वे परिच्छेद अधिक मार्मिक और रोचक हैं जो निराला के 'लखनऊ निवास' से सम्बन्ध हैं क्योंकि उस समय रामविलास जी निराला के घनिष्ठ सम्पर्क में थे। प्रत्यक्षदर्शी की अभिज्ञता के कारण उनकी प्रामाणिकता और जीवन्तता बहुत बढ़ गयी है। संयोग से यही काल निराला के साहित्यिक चरमोत्कर्ष का काल है, जीवन की सार्थकता के मर्मन्तुद प्रश्न को सचेत रूप से हल करने के उनके प्रयास का काल है। इस काल में निराला से अपने निकट साहचर्य के कारण ही रामविलास जी उनकी अन्तः प्रकृति को करीब करीब ठीक-ठीक समझ पाये थे। सरोज स्मृति, तुलसीदास, राम की शक्ति पूजा जैसी महान् कविताओं एवं प्रभावती, चमेली जैसी गद्य कृतियों की सृजन प्रक्रिया के साक्षी होने के कारण ही वे उनकी पृष्ठभूमि को साधिकार स्पष्ट कर सके हैं। अपने परिवेश से सम्बद्ध होते हुए भी ये रचनाएँ किस प्रकार उसका अतिक्रमण करती है, इस बात को समझने में उनके विवेचन बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं। यह सचमुच प्रशंसनीय है कि रामविलास जी ने इन परिच्छेदों में ध्वजदंड की तरह प्रायः अपने को आवृत रखकर निराला की यश:पताका को ही ऊंचे उठाया है।

निराला के व्यक्तित्व का विश्लेषण एवं पन्त और निराला का तुलनात्मक अध्ययन रामविलास जी की बौद्धिक विदग्धता एवं साहित्यिक मर्मज्ञता का निश्चित प्रमाण तो है ही, इस बात का सूचक भी है कि वे सन् ४८ के संकीर्णतावादी दौर से बहुत ऊपर उठ चुके हैं।

फिर भी निराला की प्रतिभा इतनी इन्द्रधनुषी और उनकी प्रवृत्तियाँ इतनी बहुमुखी थीं कि अपनी इस कृति के सम्बन्ध में स्वयं रामबिलास जी की यह

विनम्र उक्ति कि 'उसके सर्वथा निर्भ्रम और पूर्ण होने का दावा मैं नहीं करता' बहुत उचित है।

निराला के जो दो रूप रामविलास जी को सर्वाधिक भाये हैं उनमें से एक है मर्यादा निभाने के लिए अपने को होम देनेवाला, धरती और लोकजीवन से सम्बद्ध रहनेवाला, उनका वज्र देहाती रूप जो अमीर माँ-बाप के विदेश फिरत इटेलेक्चुअलिहा नवाबजादों को—चाहे वे राष्ट्रवादी हों, चाहे समाजवादी, फटकार देता था, और दूसरा है आस्थावान् संघर्षशील योद्धा लेखक का ··· बाल्मीकि व्यास और तुलसीदास की परम्परा से जुड़नेवाले लेखक का रूप जो गांधी-नेहरू या सेठ साहूकारों के सामने अपना मस्तक उन्नत रखता था। स्वभावतः इन्हीं दोनों रूपों को इस ग्रन्थ में प्रमुखता प्राप्त हुई है। किन्तु निराला के व्यक्तित्व के और भी पहलू हैं। रामविलास जी ने ही एक जगह लिखा है, 'निराला आधे मन से भोगी हुए, आधे मन से संन्यासी (पृ० ४७३) तुलसी के मर्यादावाद के अनुगामी रामविलास जी उनकी तफरीह में शामिल होने से इन्कार करते हैं, वे कुछ तथ्यपूर्ण संकेतों में ही उनके भोगी रूप की चर्चा यथेष्ट समझते हैं।

संन्यासी भाव की चर्चा अपेक्षाकृत रूप से अधिक हुई है किन्तु मार्क्सवादी होने के कारण वे उसे पूरा समर्थन नहीं दे पाते। उनका कर्मठ वेदान्ती (ज्ञानी) रूप और रामचरित मानस तथा महावीर का उपासक कर्मण्य, लोक-संग्रही भक्त रूप उन्हें फिर भी पसन्द है किन्तु समर्पणशील विनय परायण भक्त रूप लगता है उन्हें संस्कारतः प्रिय नहीं है। इसीलिए निराला के उत्तरवर्त्ती काव्य की (जो प्रमुखतः विनय काव्य हैं) एवं तदनुरूप मनोभाव की सम्यक् विवेचना उन्होंने नहीं की है। उस दौर की उनकी कविताओं में भी जो प्रकृति के रस, रूप, गंध पर हैं उन्हें ही उद्धृत कर उन्होंने बार-बार यह दिखाना चाहा है कि 'उनका मन संसार की छवि पर अब भी मुग्ध था' (पृ० ४५३) किन्तु उनका मन मुख्यतः विनय भाव का अवलम्बन कर अपने को विघटित होने से बचा रहा था, यह उन्होंने भली-भाँति नहीं दिखाया है। ऐसा नहीं है कि वे इसको जानते न हों, 'लेखनी को लेकर जो हाथ उठा था, अब वह भाला की सुमिरनी पकड़ना चाहता है' निराला की यह उक्ति उन्होंने पृ० ४३५ पर उद्धृत की है। उनका यह विश्लेषण बहुत ठीक है, 'निराला कल्पना करते थे कि वह बहुत बड़े अद्वैतवादी हैं ···पर उनके मूल संस्कार एक भक्त के थे, राम-चरित मानस पढ़नेवाले भक्त के थे।' (पृ० ५४०) उनका यह अनुमान भी बहुत संगत है कि जीवन के अन्तिम वर्षों में वे चेतन-अचेतन रूप से श्री राम-

कृष्ण परमहंस देव के व्यवहारों का अनुकरण कर रहे थे। किन्तु अपने विश्वासों की सीमा के कारण शर्मा जी यह नहीं देख और दिखा पाये कि अन्य भावों के संघात के बावजूद मुख्यतः इसी 'विनय भाव' का अवलम्ब ग्रहण कर निराला ने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष काटे थे। पूर्वग्रह के कारण व्याख्या किस हृद तक विकृत हो जा सकती है इस सन्दर्भ में रामविलास जी के विवेचन से इसका एक उदाहरण देना चाहता हूँ। सरोज की मृत्यु के बाद जीवन की सार्थकता के प्रश्न से जूझते हुए निराला की कुछ पंक्तियाँ और उन पर शर्मा जी की टिप्पणी इस प्रकार है :—

लाञ्छना इन्धन, हृदय तल जले अनल,
भक्ति नत नयन में चलूँ अविरत सबल
पार कर जीवन प्रलोभन समुपकरण।

"....जो शक्ति रहस्यवादियों के ज्ञान और प्रकाश से न मिली थी, वह उन्हें अपने मन में संचित अपमान से मिली। लांछना की अग्नि विकट प्रेरक शक्ति बनकर उन्हें आयु के शेष वर्षों के पार ले जायगी।" (पृ० २९८) सोचने की बात है कि इन पंक्तियों से यह अर्थ कैसे निकल सकता है कि निराला को आयु के शेष वर्षों के पार ले जानेवाली शक्ति लांछना की अग्नि है। इसका सीधा अर्थ यही है कि हृदयतल में लांछना इंधन की आग जलते रहने के बावजूद मैं जीवन के प्रलोभन के समुपकरणों को पार कर भक्ति से नत नयन हो सबल रूप से अविरत चलता रहूँ। उनकी प्रेरणा की शक्ति लांछना की अग्नि नहीं, भक्ति की शीतलता है। इसी गीत के पहले बन्द में यह बात बहुत स्पष्ट रूप से कही गयी है :

भीरुता के बँधे पाश सब छिन्न हों,
मार्ग के रोध विश्वास से भिन्न हों,
आज्ञा, जननि, दिवस-निशि करूँ अनुसरण।

(गीतिका—गीत सं० ९२)

निराला का सम्बल लांछना की अग्नि जैसी निषेधक भावना नहीं, विश्वास और जगन्माता की आज्ञा (निराला का अत्यन्त प्रिय शब्द, जिसे बाद में वे 'आर्डर' के द्वारा व्यंजित करते थे) के अनुसरण के निश्चय जैसे विधायक भाव हैं। किन्तु मार्क्सवादी तो प्रेरणा के भौतिक स्रोत को ही स्वीकार सकते हैं। रामविलास जी ने इसी ग्रंथ में अन्यत्र माइकेल एञ्जेलो और निराला की तुलना करते हुए लिखा है कि अपने मित्र के यह पूछने पर कि, 'इस ठंड में कौन

सी चीज आपको जिलाये थी ? माइकेल एन्जेलो ने कहा—अपमान की ज्वाला। अपने गीत में निराला ने लिखा था—लान्छना इंधन हृदयतल जले अनल—तब वह माइकेल एञ्जेलो की वही अनुभूति व्यक्त कर रहे थे।' (पृ० ५१६) ऊपर के विवेचन से यह साफ है कि माइकेल एञ्जेलो और निराला की अनुभूति में जमीन आसमान का फर्क है।

इसी तरह इस पुस्तक में हिन्दी जातीयता की रट इतनी अधिक लगायी गयी है कि कहीं-कहीं उसके आगे हिन्दू जातीयता और भारतीय राष्ट्रीयता भी दब गयी है। हिन्दू जातीयता तो खैर मार्क्सवादियों के लिए साम्प्रदायिकता से भिन्न कुछ है ही नहीं। रामविलास जी के लिए यही कम अफसोस की बात नहीं है कि मतवाला मंडल में हिन्दू जातीयता की भावना बहुत प्रबल थी, फिर निराला ने भी हिन्दुत्वपरक कुछ कविताएं लिखीं हैं, इस तथ्य से उनको कष्ट पहुँचना स्वाभाविक ही है किन्तु सन्तोष इसी बात का है कि निराला की 'जागो फिर एक बार' जैसी कविताओं को 'इच्छानुसार हिन्दू संगठन के लिए इस्तेमाल किया जा सकता था, अंग्रेजी राज के विरुद्ध क्रांतिकारी संघर्ष के लिए भी' (पृ० ११५) ध्वनि यह है कि हिन्दू संगठन बुरा काम है निराला को दबाव में पड़कर उसके समर्थन में जब कुछ लिखना पड़ा तो उन्होंने ऐसे ढंग से लिखा कि साँप भी मर गया और लाठी भी नहीं टूटी, मतवाला मंडल के हिन्दू संगठनवादी मित्र भी सन्तुष्ट हो गये और निराला की क्रांतिकारता पर साम्प्रदायिकता का धब्बा भी नहीं लगा। यहाँ रामविलास जी ने दुहरा अन्याय किया है, एक तो निराला पर उन्होंने अपनी मानसिकता आरोपित की है, दूसरे 'तू कभी न ले दूसरी आड़' के विश्वासी निराला को कूटनीतिज्ञ बना दिया है। जिस निराला की मान्यता थी 'यदि मिला न तुमसे हृदय छन्द तो एक गीत मत गाना तुम' वह निराला किसी के दबाव में पड़कर मुंह देखी कवितायें लिखेगा, यह कल्पनातीत बात है। फिर फर्माइशी कवितायें 'जागो फिर एक बार' 'महाराज शिवाजी का पत्र' जैसी ओजस्विनी एवं मर्मस्पर्शिणी नहीं हो सकतीं। सच्चाई यह है कि विवेकानन्द के अनुयायी निराला के लिए हिन्दू जातीयता आन्तरिक श्रद्धा और सम्मान की भावना थी तभी वे उसके स्पर्श से अपनी कुछ सर्वश्रेष्ठ वीररसपरक कवितायें लिख सके थे। हिन्दू जातीयता बोध के फलस्वरूप ही 'अंग्रेजी राज के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष' आरम्भ हुआ था बंकिम, विवेकानन्द, अरविन्द, लाल, बाल, पाल आदि इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। हिन्दू जातीयता के बोध के प्रति आज के प्रगतिवादियों के समान निराला के मन में कोई हीनता-ग्रन्थि नहीं थी।

यह भी एक दिलचस्प बात है कि हिन्दू जातीयता को प्रतिक्रियाशील माननेवाले रामविलास जी हिन्दी जातीयता को प्रगतिशील भावना मानते हैं। क्या निराला भी ऐसा मानते थे? रामविलास जी ने 'निराला के मन में हिन्दी बंगाली जातियों की बढ़ती हुई प्रतिद्वन्द्विता' के भाव की चर्चा की है। बहुत ठीक, किन्तु क्या इसके चलते वे 'हिन्दी जातीयता बोध' को विकसित करना हितावह मानने लगे थे। इस सम्बन्ध में रामविलास जी द्वारा उद्धृत निराला के वक्तव्य का विश्लेषण करना ही यथेष्ट होगा। निराला का वक्तव्य है, 'मैं यह विरोध हरगिज न करता अगर यू० पी० में रहकर अपने दूसरे शिक्षित भाइयों की तरह मैं भी प्रान्तीयता-बू-विवर्जित हो गया होता, परन्तु नहीं, भाग्य में तो बंगाल का रहना बदा था, यू० पी० का सौभाग्य कहाँ से प्राप्त होता? बंगाल में रहने के कारण एक उन्नति मेरी जरूर हुई। बंगालियों के संसर्ग से प्रान्तीयता का जहर मेरी नसों में खूब फैल गया और नशे में बेहोश कर देने की जगह बेतरह मुझे सजग कर देने लगा—हर वक्त बंगालियों की एक एक चाल में।' (पृ० ११३) क्या इस कथन से यह नहीं झलकता कि प्रान्तीयता-बू-विवर्जित होना ही निराला के लिए आदर्श स्थिति थी? क्या बंगाली जातीयता के अनुरूप ही हिन्दी जातीयता से 'प्रांतीयता का जहर' फैलने की संभावना नहीं है? हिन्दी जातीयता, बंगाली जातीयता आदि प्रादेशिक राष्ट्रवाद की भावना को बढ़ावा देने वाली अवधारणाओं के साथ निराला का नाम जोड़ना संगत नहीं प्रतीत होता।

जो हो, वैचारिक निष्ठा पर आधारित तत्त्व सम्बन्धी मतभेदों का सह-अस्तित्व भी चल सकता है किन्तु पर्याप्त सतर्कता बरतने के बावजूद इस ग्रंथ में रह गयीं कुछ भ्रांतियों का निराकरण तो आवश्यक हो जाता है।

रामविलास जी ने लिखा है कि निराला जी को 'आठवें से दसवें तक पहुँचने में छह साल लग गए।' (पृ० २८) इसका कारण उन्होंने बताया है कि रामसहाय तेवारी द्वारा 'कम उम्र में बिना पूरी तैयारी के उन्हें जो आठवें दर्जे में भर्ती कराया गया उससे नींव बराबर कमजोर रही।' (पृ० २८) इस पुस्तक में कई स्थलों पर इस प्रसंग की कुछ अलग-अलग ढंग से उन्होंने चर्चा की है, उदाहरणार्थ पृ० ४८६ पर लिखा है, 'नौ साल की उम्र में वह आठवें दर्जे में भर्ती हुए, सोलह साल के होने तक दसवीं पास न कर पाये। पर राहुल जी से उन्होंने ऊँची हाँकी एक साल में तीन क्लासें पार कीं।' (पृ० ४८६) इन सबका निष्कर्ष यही निकलता है कि रामविलास जी की धारणा के अनुसार वे कक्षाओं में एकाधिक बार फेल हो हो कर ऊपर की कक्षा में बढ़ते

रहे। यह सच नहीं है। असल में बंगाल की पुरानी शिक्षा पद्धति से अपरिचित होने के कारण रामविलास जी से यहाँ अनजाने गलती हो गयी है। महिषादल के हाई स्कूल में निराला जी का नाम १३ सितम्बर १९०७ को कक्षा ८ सेक्शन बी में लिखा गया था। उन दिनों के नियम के अनुसार हाई इंगलिश स्कूल की प्रारंभिक कक्षा ही कक्षा ८ होती थी जो आज कल की कक्षा ३ के सम-तुल्य थी। ऊँची कक्षाएँ क्रमशः सेवेन्थ क्लास, सिक्स्थ क्लास आदि हुआ करती थीं, सर्वोच्च कक्षा को एंट्रेंस क्लास या फर्स्ट क्लास कहा जाता था। (देखिये रूल्स ऐंड आर्डर्स आफ द एजुकेशनल डिपार्टमेंट, बंगाल, चैप्टर III स्कूल्स—(फिफ्थ एड़ीशन, १९१९) पृ० सं० ९) इसका अर्थ यह हुआ कि निराला जी उस विद्यालय की निम्नतम कक्षा में भर्ती हुए थे और यदि रामविलास जी की यह बात ठीक है कि वे छह साल में ही एंट्रेंस क्लास में पहुँच गये थे तो वे किसी कक्षा में अनुत्तीर्ण तो हुए ही नहीं होंगे, दो बार उन्हें 'डबल प्रोमोशन' मिला होगा अर्थात् राहुल जी से उन्होंने बहुत ऊंची नहीं हाँकी थी। इससे यह साफ हो जाता है कि आरम्भ में वे पढ़ाई लिखाई में तेज ही थे, कमजोर नहीं, एंट्रेंस में अनुत्तीर्ण होने का कारण चाहे 'राजपुस्तकालय से अंग्रेजी बंगला-संस्कृत के काव्य' 'पढ़ना हो, चाहे वैराग्य भाव, चाहे गौना।

इसी तरह रामविलास जी ने लिखा है, 'निराला ने बँगला पद्य में उस भाषा में रची हुई अपनी पहली कविता में पंत को उत्तर दिया। (पृ० ५५२) सम्भवतः हिन्दी जातीयता के भाव के जोर मारने पर उपसंहार में रामविलास जी ने यह भी जोड़ दिया 'बंगला उनके लिए मातृ भाषा के समान न थी, न आरंभ में वह बंगला या संस्कृत में कविता करते थे।···जीवन की किसी मंजिल में भी उनका बंगला ज्ञान उनके हिन्दी ज्ञान के समकक्ष या उससे बढ़कर न था।' (पृ० ६१०) ये निष्कर्ष भी ठीक नहीं लगते। पन्त जो को लिखित निराला की बँगला कविता की प्रसंगगत पंक्तियाँ ये हैं।

> आमि एइ भाषाय प्रथम कविता लिखियाछिलाम,
> ताइ इहातेइ तोमार अभिनन्दन करिलाम। (पृ० १९२)

अर्थात् मैंने इसी भाषा में (अपनी) पहली कविता (या पहले पहल कविता) लिखी थी अतः इसी (भाषा) में तुम्हारा अभिनन्दन किया। इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि यह कविता बंगला की मेरी पहली कविता है। इसी कविता से यह सिद्ध हो जाता है कि आरम्भ में उन्होंने बंगला में ही कवितायें लिखी थीं।

रही बात यह, कि उनके लिए बँगला मातृभाषा के समान थी या नहीं अथवा उनका बँगला ज्ञान जीवन की किसी भी मंजिल में हिन्दी ज्ञान के समकक्ष या उससे बढ़कर था या नहीं। बंगाल के ग्रामांचल में पलने और बँगला के माध्यम से एंट्रेंस तक पढ़नेवाले निराला के लिए बंगला मातृभाषा के समान हो नयी होगी, यह अनुमान अत्यन्त संगत है, बिना किसी प्रतिकूल प्रमाण के इसका निषेध करना हठधर्मिता का परिचय देना है। एंट्रेंस तक (अर्थात् १९१४–१५ ई० तक) निराला का हिन्दी साहित्य ज्ञान रामचरित मानस एवं पद्माकर के कवित्तों के अतिरिक्त और कहाँ तक था, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता जबकि बँगला का ज्ञान कम से कम एन्ट्रेंस के स्तर तक का तो था ही। अतः सम्भावना यही है कि उस समय हिन्दी साहित्य विशेषकर खड़ी बोली के साहित्य के ज्ञान की तुलना में बँगला साहित्य का उनका ज्ञान अधिक होगा। कम से कम हिन्दी जातीयता बोध से अनाक्रांत व्यक्तियों का अनुमान इसी स्थापना के पक्ष में होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस पुस्तक के प्रकाशक से तीन जबर्दस्त शिकायतें हैं। पहली तो यह कि छापे की भूलें—हिन्दी के स्तर को ध्यान में रखते हुए भी—इसमें बहुत अधिक हैं, दूसरी यह कि जिल्द इतनी खराब और कमजोर बँधी है कि किताब खरीदनेवालों को सात, आठ दिन बाद ही उसे पुनः मढ़वाना पड़ेगा और तीसरी यह कि दाम इतना अधिक है कि औसत मध्यवित्त पाठक इसे नहीं खरीद सकेगा।

पर ये सब बातें गौण हैं। बड़ी बात यह है कि रामविलास जी की वर्षों की एकनिष्ठ साधना के फलस्वरूप 'तुलसीदास के बाद हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि' की इतनी विशद जीवनी⋯⋯(हिन्दी में अब तक लिखित जीवनी साहित्य की उत्कृष्टतम उपलब्धि) हमें प्राप्त हो सकी। इसके लिए समस्त हिन्दी जगत् की ओर से कृतज्ञतापूर्वक उनका शतशः अभिनन्दन।

२२

शिखरों का सेतु

'शिखरों का सेतु' श्री शिवप्रसाद सिंह के बाईस ललित निबन्धों का संग्रह है। नाम साभिप्राय एवं आकर्षक है। प्रस्तुत संकलन के निबन्धों के विषय हैं या तो सांस्कृतिक, साहित्यिक क्षेत्रों में अत्युच्च उपलब्धि करने वाले व्यक्ति जैसे शंकर, कृष्ण, राधा, निराला, चेखव आदि, या मानव जीवन को उदात्तता प्रदान करने वाली साधनायें, विचारधारायें या भावनायें जैसे मातृशक्ति की उपासना, रस साधना, भूदान, भाई बहन का प्रेम आदि या संस्कृति को गति और मोड़ देने वाले स्थान जैसे श्मशान काशी, जयपुर आदि। ये सभी अपने-अपने क्षेत्र में निश्चय ही महिम्न हैं, शिखर तुल्य हैं। इन्हीं शिखरों के एकत्र संकलन से बना यह सेतु एक ओर तो अतीत को वर्त्तमान से जोड़ता है, दूसरी ओर लेखक को पाठकों से। अपने ढंग से तो पाठक इन्हें देखते ही आरहे होंगे, इस बार लेखक उन्हें अपने साथ इस यात्रा पर ले चल रहा है क्योंकि उसने अपनी विशेष दृष्टि से (जिसे विनयवश उसने भूमिका में सीमित शक्ति से कहा है) इन्हें देखा और अंकित किया है। उसकी दृष्टि का परिचय उसकी सृष्टि में तो मिलता ही है, आशा बन्ध और निर्बन्ध चिन्तन के लेख उसे और स्पष्ट करने में सहायक हैं।

श्री शिवप्रसाद सिंह उन थोड़े से आधुनिक लेखकों में से हैं जो 'विज्ञान को मानवता का प्रकाश स्तंभ' मानते हुए भी उसके अन्धविश्वासों और रूढ़ियों को अस्वीकार कर अध्यात्म के प्रति आस्थावान् हैं। अवश्य ही उनके लिए "अध्यात्म सिर्फ ईश्वर या परलोक का ही विषय नहीं है। इसका मूल अर्थ है मनुष्य के भीतर छिपी असंख्य प्रकार की भौतिक, रासायनिक, ईथरिक और अज्ञात तत्त्व बोधक शक्तियों का ज्ञान।" अपनी रचनाओं में 'गरीबों की तरफदारी' 'जमींदारों की निन्दा' 'रूढ़ियों का विरोध' करते हुए भी वे किसी एक खास वाद या पार्टी के समर्थक नहीं हैं न 'मनुष्यता को टुकड़ों में बाँट कर देखने के आदी।' उनका कहना है 'मैं सिर्फ उस पार्टी का सदस्य हूँ जिसके सामने मनुष्य से बड़ी कोई इकाई नहीं है, मनुष्यता से बड़ा कोई मजहब नहीं है।' समष्टि के प्रति श्रद्धावान् होते हुए भी वे 'अकेलेपन के दर्द को शक्ति की उद्बोधक वस्तु' मानते हैं, यदि वह दर्द स्वाभाविक हो, जीवन के बीच से

उभरा हो। जिस प्रकार आधुनिक होते हुए भी वे परम्पराद्रोही नहीं हैं उसी प्रकार अतीत से प्रेरणा ग्रहण करते हुए भी वे अतीतजीवी नहीं हैं। फलतः 'अतीत के अन्तर्देश में' उन्होंने अन्धविश्वासों, टोने-टोटकों, रूढ़ियों-रसमों को नहीं 'मानवता के स्पन्दनशील जीवित ज्वलन्त पदचिह्नों को अंकित करने का प्रयत्न किया है। जो आधुनिक बनने के मोह में 'अध्यात्म ईश्वर परलोक आदि शब्दों से डरने लगे हैं,' पराशक्ति, राम, कृष्ण आदि का नाम जिन्हें पुरातनतावाद का पर्याय प्रतीत होने लगा है उनके मोहग्रस्त विवेक को झकझोरते हुए विद्वान लेखक की निर्भीक घोषणा है, 'आधुनिकता कुछ चुने हुए पदार्थों का नाम गिना देने भर से नहीं आती, आधुनिकता निरन्तर विकासमान मानवता के प्रत्येक पदक्षेप को सही-सही समझने का दृष्टिकोण है, जो इसे नहीं समझता वह सामयिक रूप से आधुनिकता के खण्ड सत्यों अथवा सत्याभासों से प्रभावित होकर आधुनिक बनने का पाखण्ड करता है।' अपनी इन्हीं मान्यताओं के कारण लेखक ने अपने अन्तर्मन में श्रद्धा के पीठ पर उन्हीं कलाकारों की मूर्त्तियों को प्रतिष्ठित किया है जिनके निर्माण में 'आधुनिकता, प्राचीनता, प्रयोग और परम्परा, व्यक्ति और समाज तथा दर्द और आस्था का अद्‌भुत समन्वय है।' आलोच्य पुस्तक में संकलित निबन्ध इसके प्रमाण हैं कि इसी उदार संवेदनशील समन्वयात्मक दृष्टि को अपनाने के लिए श्री शिवप्रसाद सिंह साधनारत हैं।

ये रचनाएँ ललित निबन्ध होते हुए भी शैली की दृष्टि से निर्बन्ध हैं। किसी बनी बनायी शैली में विचारधारा को ढालने के स्थान पर विचारधारा के अनुरूप शैली चुनने या बनाने की चेष्टा इस निर्बन्धता के मूल में है। कथा, पत्र, डायरी, संस्मरण, विवेचन, व्याख्या आदि विविधविधाओं का उपयोग किया गया है। इन्हें और भी रमणीय एवं प्रभविष्णु बनाने के लिए आन्तरिक एकालाप, चेतनाप्रवाह, स्मृति पुनरावर्त्तन अन्तर्बन्वता जैसे कौशलों का प्रयोग किया गया है। यह सब सहज रूप में विषय की उद्‌भावना के साथ-साथ अनायास उभरा होगा ऐसा नहीं लगता। इनके पीछे प्रयास का, योजना का, चमत्कृत एवं प्रभावित कर देने की स्पृहा का आभास मिलता है। उनका सचेत कलाकार अपनी भावनाओं को अनूठी शिल्पविधि से मण्डित करना चाहता है, किन्तु सर्वत्र भावना और योजना का समन्वय सहज···स्वाभाविक रूप नहीं धारण कर सका है। कहीं-कहीं योजना उभर आयी है जैसे 'टेराकोटा का साक्ष्य' की आरंभिक टिप्पणी में। बाणभट्ट की आत्मकथा, सिंह सेनापति आदि में प्रयुक्त ऐतिहासिकता का भ्रम उत्पन्न करनेवाले कौशल के अनुरूप 'टेराकोटा' की उपलब्धि और उसके साक्ष्य से राधा की वेदना विन्दुमात्र अधिक

मर्मस्पर्शी हुई है ऐसा तो नहीं प्रतीत होता। इसी तरह 'महाकाल के अलबम में काशी' के सांस्कृतिक विकास क्रम के चित्रण को अन्तिम वाक्य 'आँखे खुली तो देखा, अलार्म घड़ी घनघना रही है' से समाप्त करना एक पुराने कौशल 'स्वप्न' का अकारण अनुकरण करना है, जिससे वह सांस्कृतिक गरिमा क्षुण्ण हुई है। इसके शीर्षक में 'अलबम' शब्द भी नहीं सुहाता। आधुनिक युग के अक्षोभ्य भैरव की डायरी तो ठीक किन्तु 'मण्डन मिश्र की डायरी' अटपटी बात है। उस कथागंधी रचना को 'डायरी' कहने से कोई विशेष बात बनती है ऐसा तो नहीं लगता, हाँ मण्डन मिश्र के साथ डायरी शब्द संस्कारशीलों के मन में विकर्षण जरूर उत्पन्न करता है। किन्तु ये अपवाद स्वरूप हैं। अधिकांश रचनाओं में शैली और कथ्य समप्रतिस्पर्धी के रूप में उभरे हैं। श्मशान का मानवीकरण कर लेखक ने जिस प्रकार उसके उद्‌गारों द्वारा मानवीय, दुर्बलता और शक्ति की ओर इंगित किया है वह अत्यन्त प्रभावशाली है। 'दक्षिणेश्वर ने कहा' में दक्षिणेश्वर के मन्दिर को अनादिकाल से चली आनेवाली मातृशक्ति की उपासना के चैतन्य तत्त्व के रूप में अंकित करना मर्मज्ञता का द्योतक है। इसी प्रकार 'मैं क्या हूँ' शीर्षक निबन्ध में अपने सृष्ट पात्रों के मान भरे, रोष भरे अभियोगों के उत्तर देते हुए अपनी मान्यताओं को स्पष्ट करना प्रशंसनीय प्रयोग है। सांस्कृतिक सन्दर्भ-गूढ़ता और ऐतिहासिक अन्तर्बन्धता के कारण लेखक को बहुज्ञता और विद्वत्ता की छाप पाठक के मन में सहज ही पड़ती है।

प्रस्तुत पुस्तक के निबन्ध चार विभागों में संकलित हैं अतीत के तोरण, अबोले बोले, पुष्प के अभाव में तथा निर्बन्ध चिन्तन। प्रथम दो विभागों की रचनाओं में आन्तरिक साम्य अधिक है, बल्कि दोनों को एक ही विभाग में रखा जा सकता था क्योंकि दोनों हीं विभागों में संकलित निबन्ध मूलतः अतीत की....परम्परागत चेतना के विकास क्रम की आधुनिक व्याख्याएँ हैं। इनमें से कुछ रचनाएँ वर्त्तमान से आरंभ होकर अतीत की परिक्रमा कर पुनः वर्त्तमान में लौट आती हैं, जैसे दक्षिणेश्वर ने कहा, देवीः मेरी प्राणवल्लभा, तीन घेरे : एक क्षितिज, महाकाल के अलबम में काशी, श्मशान, लाल इमारतों का नगर, मारूदेश की जादुई झील। कुछ अतीत घटनाओं को, विचारधाराओं को आधुनिक दृष्टिभंगी से प्रस्तुत करती हैं जैसे, मण्डन मिश्र की डायरी, तारा का पाप, जेहि मन पवन न संचरे, चार चारण आदि।

'दक्षिणेश्वर ने कहा' अत्यन्त शक्तिशाली रचना है। दक्षिणेश्वर के मन्दिर के समक्ष भावुक विद्वान लेखक खड़ा है और चित्रपट की तरह उसकी आँखों

के सामने श्री रामकृष्ण विवेकानन्द की साधना, भगवती काली के रूप के प्रति देशी विदेशी विद्वानों की जुगुप्सापूर्ण कटूक्तियाँ, मातृशक्ति के भयकारी एवं उन्नयनकारी रूप के विकास की यात्रा, त्रिपुरसुन्दरी प्रकृति की असीम शक्तियों से अभिभूत आधुनिक वैज्ञानिक की नम्रता एक के बाद एक झलक जाती हैं। निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य का कर्त्तव्य ब्रह्माण्ड की सूत्रधारिणी संविद्रूपा महामाया के हास को पतंग बनकर उड़ते जाना है। हाँ उड़ने में कोई कमी न रहे, कोई कसर न रहे। करतब में कोई फर्क न आये। यह पलायन नहीं, चरम पुरुषार्थ है। देवी: मेरी प्राणवल्लभा, टेराकोटा का साक्ष्य, जेहिमन पवन न संचरे मातृशक्ति की रसमयी साधना पर आधारित रचनाएँ हैं। इनमें से पहली एक आधुनिक भैरव की डायरी के कुछ अंशों पर आधारित है जिनमें महामाया के किशोरी रूप के प्रणयी की विरह वेदना के उद्गार हैं जो बहुत कुछ गद्य काव्य के निकट हैं। यह रचना अति भावुकता के कारण सामान्य पाठकों को संभवत: बोझिल प्रतीत होगी। 'टेराकोटा का साक्ष्य' वास्तव में राधा की तरफ से श्रीमद्भागवतकार कृष्ण द्वैपायन के नाम लिखा पत्र है जिसमें एक ओर तो कृष्ण की रसमयी लीला के चित्रण के लिए उन्हें साधुवाद दिया गया है, दूसरी ओर राधा को विस्मृत कर देने के लिए उसके नाम के उल्लेख तक न करने के लिए मान भरा उपालंभ है। 'जेहिमन पवन न संचरे' में विरति वैभव के द्वारा सिद्धों, तांत्रिकों की गुह्य साधना का समर्थन किया गया है जिसके साथ सहमत होना कठिन है।

राधा के पत्र में क्षोभ मृदु है अत: वह उतना मर्मस्पर्शी नहीं हो पाया है, जितना तारा का वशिष्ठ के नाम पत्र, जो 'तारा का पाप' नामक शीर्षक से संकलित है। जो व्यवस्था पाप को पनपाने वाले परिवेश का समर्थन करती है, पाप के शक्तिशाली सहयोगी को तो मुक्त कर देती है और सारा दोष दुर्बल सहयोगी के माथे मढ़ देती है उसके न्याय को न्याय का परिहास न कहा जाये तो क्या कहा जाये। वृहस्पति और वशिष्ठ, इन्द्र और देवताओं के विलासी आचरण के विरुद्ध कुछ नहीं कहते, चन्द्रमा को दण्ड देने में असमर्थ हैं उनका सारा रोष उतरता है असहाय तारा पर, वह भी सत्य बोलने के लिए। तारा का यह पत्र कट्टरपंथी विचारकों के अन्त:करण को मथ कर उन्हें सोचने के लिए विवश कर देगा कि नैतिकता की रक्षा का सारा दायित्व स्त्री जाति पर ही थोपना कहाँ तक न्याय-संगत है।

'तीन घेरे : एक क्षितिज' एक अन्य महत्वपूर्ण रचना है जिसमें भाई बहन के मर्यादापूर्ण प्रेम के प्रागैतिहासिक काल से आज तक के क्रमिक विकास की मर्मस्पर्शी गाथा कही गयी है।

'मण्डन मिश्र की डायरी' का मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि शंकर ने कर्म का नहीं वस्तुतः कर्म काण्ड का खण्डन कर, उसकी सारी जर्जर, समाज विरोधी, मिथ्या सीमा को छिन्न-भिन्न कर दिया था। इस रचना में मण्डन मिश्र के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण बहुत कुशलता पूर्वक किया गया है।

'चार चरण' काम शक्ति के प्राण, मन, बुद्धि और प्रज्ञा के लीला क्षेत्रों के चार स्तर हैं जिन्हें श्री कृष्ण के क्रमशः गोवर्धन धारण, रास, महाभारत एवं द्वारकानिवास के साथ एक कर देखा गया है। आधुनिक मनोविज्ञान का आश्रय लेकर श्री कृष्ण चरित्र की व्याख्या करने की यह चेष्टा मनोरंजक तो अवश्य है किन्तु पूर्ण समाधान कारक नहीं।

'लाल इमारतों का नगर' और 'मारू देश की जादुई झील' क्रमशः जयपुर और साँभर के यात्रा वर्णन हैं किन्तु सामान्य यात्रा वर्णनों से बहुत भिन्न। इनमें वर्त्तमान और अतीत एकाकार हो गये हैं। लेखक की दृष्टि वर्त्तमान से भी अधिक अतीत की ओर लगी है और इतिहास, साधना एवं साहित्य के पूर्व ज्ञान से इन स्थानों के प्रथम दर्शन की भावना से अधिक प्रत्यभिज्ञा की भावना उभरी है जो रूमानी वातावरण के निर्माण में सहायक हुई है। बीच बीच में वर्त्तमान का पुट जैसे जयपुर की पान की दूकान पर काशी के ताम्बूल विलासी का अनुभव, साँभर के साथ नमक हलाली करने की कामनावाले सरदारजी का चित्रण इन रचनाओं को रम्यतर बना देते हैं।

'पुष्प के अभाव में' निराला, चेखव, पास्तरनाक, अलबेयरकामू और हेमिग्वे की मृत्यु के अनन्तर शोकोद्गार के रूप में लिखी रचनाएँ हैं, जिनमें इन कृति साहित्यकारों की कुछ विशेषताओं की चर्चा भी की गयी है। इनमें सबसे अधिक सजीव छवि उभरी है चेखव की और शायद सबसे अधिक विवादास्पद बात कही गयी है निराला के बारे में। 'निराला के जीवन का सबसे प्रबल भाव आत्मग्लानि का था' लेखक का यह मत हमें ही नहीं शायद बहुतों को मान्य न हो। यह सच है कि अपने कर्म की विडम्बना पर, अपनी निष्ठा, लगन, प्रयत्न की प्रतीयमान विफलता पर उनके मन में आत्मग्लानि की भावना भी उभरती थी किन्तु यही उनके जीवन का सबसे प्रबल भाव था यह कहना उनके आत्मविश्वास और आत्मोत्सर्ग के साथ अन्याय करना है। आत्मग्लानि पीड़ित व्यक्ति जीवन के अन्तिम समय में भी 'दुख भी सुख का बन्धु बना' "भवन भुवन हो गया, दुःखताप खो गया" "हार तुमसे बनी है जय" जैसी पंक्तियाँ नहीं लिख सकता।

'निर्बन्ध चिन्तन' में ये चार निबन्ध हैं 'भूदान और साहित्यकार' 'शंकापुत्र बनाम आस्था के बेटे', 'मैं और हम' तथा 'मै क्या हूँ।' पहले निबन्ध में भूदान आन्दोलन की व्यावहारिकता पर पूरा भरोसा नहीं रखते हुए भी इसलिए उसका समर्थन किया गया है कि वह हमारे मन में ऐसे लोगों के विषय में आस्था और श्रद्धा को जगा रहा है जिनके पीछे सरकारी तड़क-भड़क नहीं, साधन नहीं, केवल आत्म विश्वास और मनुष्य की शक्ति में अदम्य निष्ठा जिनका सम्बल है। यह आंशिक समर्थन पूर्ण आस्था का उद्रेक कैसे कर सकता है ? शंका पुत्र बनाम अनास्था के बेटे' रोचक तथा विचारोत्तेजक लेख है। लेखक का यह प्रतिपादन ठीक है कि शंका का अनास्था से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है, शंका सत्य को पाने का एक पुष्ट साधन है। कामू निराशा वादी और अनास्थावादी है कि नहीं, इस पर विवाद संभव है किन्तु यह निर्विवाद है कि जो सृजक शंका और उदासी से गुजर कर भी आत्म विश्वास और अपनी ईमानदारी में आस्था रखता है उसे निराशावादी या अनास्थावादी नहीं कहा जा सकता। 'मैं और हम' में साहित्यकारों में व्याप्त गुटबन्दी और दूसरे को गिराने की भावना पर करारा व्यंग्य है। 'मैं क्या हूँ' में लेखक ने अपनी दृष्टि स्पष्ट करनी चाही है जिसका कुछ परिचय ऊपर दिया जा चुका है।

श्री शिवप्रसाद सिंह का भाषा पर प्रशंसनीय अधिकार है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावना और विचार को अधिकारपूर्वक व्यंजित करने में उनकी भाषा समर्थ है। भावोच्छलता के प्रसंगों में यदि वह गद्य काव्य के निकट पहुँच जाती है तो विचार विश्लेषण में उसके सहज निरलंकृत किन्तु स्पष्ट एवं तेजस्वी रूप का दर्शन होता है। जरा सी और सावधानी से 'कितनी तेज भागती हो,' 'अपने तरह की अकेली' 'चिदोन्मुख' 'एक बेहूदी मजाक' जैसे प्रयोग बचाये जा सकते थे। संभवतः स्मृति पर अधिक निर्भर रहने के कारण कहीं-कहीं उद्धरणों में अशुद्धियाँ आ गयी हैं किन्तु उद्धरणों का उचित अवसरों पर प्रयोग करने में लेखक सिद्धहस्त है।

कुल मिलाकर इस रचना के लिए श्री शिवप्रसाद सिंह बधाई के पात्र हैं। इन निबन्धों में इतिहास और दर्शन, साधना और साहित्य के सन्दर्भ इस अधिकार और उपयुक्तता के साथ आये हैं कि अनायास ही आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों की याद आ जाती है। यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी की मानवतावादी दृष्टि की, सरस वैदुष्य को, वैचारिकता और भावुकता के संगम को परम्परा को ये रचनाएँ आगे बढ़ाने वाली हैं।

२३.

शिवानी के बहुचर्चित उपन्यास

सम्मोहन.......जो टिक नहीं पाता !

'अत्यंत रोचक ....मर्मस्पर्शी.......करुण कोमल !'

'अतिरंजित.......हवाई रोमानियत.......दुर्बल' ।

अनुकूल प्रतिकूल मत तो किसी भी रचना के बारे में आप सुन सकते हैं, फिर शिवानी जी के उपन्यास ही अपवाद कैसे हो सकते हैं। किन्तु कम से कम एक बात पर उनके उपन्यासों के—विशेषतः 'कृष्णकली' (प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता–२०; मूल्य : सात रुपये) और 'भैरवी' (प्रकाशक : शब्दकार दिल्ली–६, मूल्य : पांच रुपये पचास पैसे) के अधिकांश पाठक सहमत हैं कि उन्हें आरंभ कर अधूरा छोड़ना असंभव है। असाधारण तनावपूर्ण स्थिति से आरंभ होते हैं ये उपन्यास। कोई अत्यन्त अस्वाभाविक घटना घट गयी है या घटनेवाली है। उसका रोमांचक आभास पा कर पाठक उत्कंठ हो उठते हैं। कैसे हुआ, क्या होगा कि कुहेलिका चीरने के लिए अपने पाठकों को व्याकुल बनाकर उन्हें ललचाती, अपनी ओर खींचती, उनकी कलम कभी पीछे लौट जाती है, कभी आगे बढ़ती है, सम्मोहन-ग्रस्त पाठक उनकी रमणीय कल्पना के कच्चे धागे से बँधे खिचे चले आते हैं। यौवन की कांति और भ्रांति का चित्रण ही इन उपन्यासों का विषय है। इनके प्रौढ़ चरित्र भी विगत यौवन की मर्म मधुर भूल के शूल की कसक झेलते रहते हैं, युवा चरित्रों की तो बात ही क्या है। पर्याप्त आरोह-अवरोह के बाद कथा का अन्त होता है, नायिका के जीवन के ऐसे असाधारण करुण मोड़ पर कि अधिक भावुक पाठक तो आंखें पोंछने लगते हैं—संयत पाठक भी उदास हो जाते हैं। पर धुंध की तरह छायी यह उदासी कुछ देर बाद छँट जाती है, बिना गहरी छाप छोड़े। ऐसा क्यों होता है या कम से कम मेरे साथ क्यों हुआ, इसी की छानबीन करने जा रहा हूँ।

कौन है यह कृष्णकली, जिसके ताम्र-तेज से देश-विदेश की रूप पिपासु आंखें अभिभूत थीं और व्यवस्था के प्रहरी प्रवंचित। कोढ़ी मां-बाप की

अवैध संतान, जिस दिन १४ वर्षों से तिल-तिल कर बननेवाला तेजस्वी पिता का उसका काल्पनिक 'इमेज' टूटा और उसे अपने जन्म की घिनौनी वास्तविकता का पता चला, उसी दिन वह प्रखर मेधाविनी एवं अनिंद्य श्यामा सुंदरी 'नरभक्षिणी' 'दस्युकन्या' बन गयी। पहले स्मगलर, फिर मॉडल, फिर रिसेप्शनिस्ट ! जिसकी मुस्कानों में बिजलियां और चितवनों में बछियां बसी हैं, उसका अंतर कितना रीता, उसका जीवन कितना अकेला, उसका अस्तित्व कितना निरर्थक है, कोई नहीं जानता, न ही जानना चाहता। उसके तन से खेलनेवाले बहुत हैं। मन का ताप हरनेवाला कोई नहीं। ऐसे में उसके जीवन में आता है—प्रवीर—कठोर, संयमी, मर्यादावान, उच्च पदस्थ, सुंदर...पिता के उसके अपने काल्पनिक 'इमेज' का युवा प्रतिरूप। दुर्निवार आकर्षण से उसकी ओर खिंची कृष्णकली, उसे छल-बल-कौशल से जीतना चाहती, किंतु सचमुच उसके हृदय में प्रवेश पाती है उस दिन, जिस दिन उसने निश्छल भाव से विक्टोरिया के मैदान में अपने जन्म की, जीवन की, उसके प्रति अपने प्रणय की गाथा अकुंठ भाव से कह सुनायी। उसकी अनेकानेक विकृतियों से परिचित रहने पर भी उसके रूप से प्रभावित प्रवीर उसकी साहसपूर्ण सच्चाई की इस सुकृति से उस पर रीझ गया। तब तक, सामाजिक स्तर पर कुल, गोत्र, धन, प्रभाव से समृद्ध पांडे जी की कन्या कुन्नी जीत चुकी थी। किंतु कली हार कर भी नहीं हारती, क्योंकि प्रिय के मंगल के लिए अपने सुखों का उत्सर्ग उसकी हार को भी भास्वर बना देता है। कैंसर रूपी मृत्यु-छाया से ग्रस्त होने पर, जब वह उसे अपने पास बुलाती है, मृत्युपूर्व के उस करुण अभिसार के क्षणों में भी जब वह एक-एक पल में युग-युग की चाहों को भर लेना चाहती थी, तब भी उसका स्वाभिमान साथ नहीं छोड़ता....श्मशान में जिसे उसने पति के रूप में वरण किया था, उसी की 'मिस्ट्रेस' बनकर वह जीना नहीं चाहती। उसी रात को स्लीपिंग पिल्स को पूरी शीशी घुटककर प्रिय के सान्निध्य में ही वह प्राण त्याग देती है। जन्म-जन्मांतर के तृषित दो सूखे अधरों की प्यास मिटाने के लिए संगम का जो नीलाभ जल प्रवीर की अंजलि से झरझरा कर गिरता है, उसमें कितने पाठकों के आंसू भी मिल जाते हैं, इसका निर्णय कर पाना कठिन है।

कृष्णकली की तुलना में चंदन अत्यंत सरल है। यद्यपि सौंदर्य, भावुकता, स्वाभिमान और उत्सर्ग में उससे भी बढ़कर है। उस भोली पर्वतीय किशोरी को उसकी मां (राजराजेश्वरी) यौवन की उन भूलों से बचाना चाहती है, जिनका शिकार बनकर उसका अपना जीवन रेगिस्तान बन चुका था। संयोग की बात कि पर्वतारोहण के लिए आये दिल्ली के समृद्ध, नौजवानों की टोली

के उसी की जाति के एक युवक (विक्रम) को चंदन भा गयी और अनायास हो उन दोनों का विवाह भी हो गया। उनके सुखी विवाहित जीवन पर वज्रपात होता है जब चलती ट्रेन में विक्रम को बांधकर उसी के सामने चन्दन पर बलात्कार करते हैं कुछ आततायी ! ग्लानिवश चलती गाड़ी से कूद पड़नेवाली चंदन मरती नहीं, एक अघोरी तांत्रिक और उनकी शिष्याओं की परिचर्या से क्रमशः स्वस्थ हो उठती है तथा अभिशप्त यक्षिणी की तरह एक वर्ष भैरवी या नूतन भैरवी के रूप में कहीं बिताती है। इसका उपयोग कर लेखिका तंत्र-साधना के कुछ रोमांचक पहलुओं का रोचक चित्रण करती हैं। किंतु प्रकृति को तंत्र-मत्र से जीत पाना क्या आसान है ? जब चंदन के रूप और सौंदर्य के ताप से शिव स्वरूप जितेंद्रिय गुरुदेव की साधना भो पिघलने लगती है तो 'शक्ति स्वरूपिणी' माया भो विचलित हो उठती है। इस अप्रिय स्थिति से उन्हें उबारता है, भोले बाबा के कंठहार का प्राणहारो दंश ! चंदन की कोठरी में बाहर से कुंडी लगा कर गुरुदेव माया दी के शरीर के साथ नागराज को नदी में प्रवाहित करने जाते हैं तो चंदन खिड़की के रास्ते भाग निकलतो है। अपराधिनी भिखारिणी-सी जब वह अपने पतिगृह पहुँचती है तो उसका रूपपिपासु पति पहले तो उच्छ्वासत भाव से उसे स्वीकारता है, किंतु बदली परिस्थिति को याद आते ही उसे काठ मार जाता है। उसकी दूसरो पत्नी ने उसी दिन पुत्र को जन्म दिया है, उसकी मां, उसकी नयो सास को संभालने के लिए उसे बुला रही है और चन्दन का एक साल का कालिमा-मंडित इतिहास...उसको दुविधा को पहचान कर चंदन जीवन के अनजान चौराहे पर पांव बढ़ाकर उसे मुक्त ही नहीं करती, पाठकों को करुणा-कातर भी बना जाती है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि कथा की रोचकता बनाये रखने में और करुणा का उद्रेक कराने में शिवानी जी को कमाल हासिल है। इसके लिए अपनी लेखनी पर अधिक से अधिक सान चढ़ाकर उसे असिधार पैनी बनाने का प्रयास उन्होंने किया है, किंतु वे दो बातें भूल जाती हैं। एक तो यह कि कलाकृति की उत्कृष्टता के लिए सृजन की तन्मयता में कलाकार की तटस्थता भी आवश्यक है। दूसरी यह कि छाती तक धँस जाने के लिए तलवार में केवल धार ही नहीं, भार भी चाहिए।

अपेक्षित तटस्थता के अभाव में शिवानी जी इसका अनुभव नहीं कर पातीं कि घटनाओं और चरित्रों को मर्मस्पर्शी बनाने की झोंक में वे उन्हें

अविश्वसनीय बनाती जा रही हैं। दोनों उपन्यासों की कथाएँ आकस्मिक संयोगों पर टिकी हैं। मैं यह मानता हूँ कि जीवन में आकस्मिक संयोग भी घटते हैं, किंतु सारा जीवन तो आकस्मिक संयोगों से भरा नहीं रहता। पार्वती के द्वारा गला घोंट दिये जाने पर भी जनमती बच्ची की नन्हीं-सी जान निकलती नहीं, बल्कि डा० रोजी आकर उसे बचा लेती हैं। उधर पन्ना की बच्ची जनमते ही मर जाती है, ताकि कृष्णकली उसका स्थान ले सके। इसी तरह वर्षों बाद, विद्युतरंजन से पन्ना का मिलन भी जितना आकस्मिक है, उतना ही आकस्मिक है उसका कृष्णकली से विच्छेद, जो चोरी से अपने जन्म की वास्तविकता सुन कर उससे बिल्कुल फिरंट हो जाती है, यह भी संयोग ही है कि एल० एस० डी० का सेवन कर अपने कमरे के द्वार पर ही अचेत पड़ी कली को प्रवीर ही देखता है और उसे उसे उसके पलंग पर लिटा आता है और यह भी कि ऐसा करने में उसकी अंगूठी अनजाने ही वहाँ गिर पड़ती है, जिसकी याद उसे तब तक नहीं आती, जब तक कली उसे लौटाने उसके कमरे में नहीं आती, विक्टोरिया के मैदान में प्रवीर और कली की वह मुलाकात भी बिल्कुल संयोग से होती है जिसमें कली प्रवीर के सामने 'कनफेशन' करती है, सीलोन जाते समय रेल में तानी मासी से कली की मुलाकात जितनी आकस्मिक है, उससे अधिक आकस्मिक है, उसका अज्ञात स्टेशन पर उतर पड़ना और उससे भी अधिक आकस्मिक संयोग है, उसका हवड़ा की ओर रेल पर बैठ जाने के कारण सीलोन जा ही नहीं पाना।

इसी तरह 'भैरवी' में चंदन-विक्रम का विवाह, रेल में चंदन पर आततायियों द्वारा अतर्कित अत्याचार, चलती रेल से कूद कर भी उसका जीवित बच जाना, नागराज का माया दी को डँस लेना आदि ऐसी घटनाएँ हैं, जो स्वाभाविक कम और आरोपित अधिक लगती हैं, क्या इतने अधिक संयोगों पर टिकी कहानियाँ बनावटी नहीं प्रतीत होतीं? और क्या इनके कारण उपन्यासों की प्रभविष्णुता कम नहीं हो जाती? रचना में धार विच्छिन्न स्थितियों के पैने चित्रण से भी आ जाती है, किन्तु भार तो संश्लिष्ट जीवन-दर्शन से ही आ पाता है, जो युग की या युग-युग की समस्याओं का गहराई में जाकर किये गये साक्षात्कार और उससे उपलब्ध अंतर्गठित दृष्टि का परिणाम होता है, तब व्यक्ति की समस्याएँ वैयक्तिक होते हुए भी समष्टिगत सम्बन्धों के वस्तुगत आधार लिये रहती हैं, उनके निरूपण में उनकी कुरूप संभावनाओं से भी कतराया नहीं जा सकता, न उन पर मोहक आवरण ही डाला जाता है, जैसा कि प्रायः शिवानी जी ने किया है, क्या होता यदि कुन्नी से विवाह के

पूर्व प्रवीर और कली का सम्बन्ध जग जाहिर हो जाता ? तभी शिवानी जी को प्रेयसी और श्रेयसी की शाश्वत समस्या का निर्मम सामना करना पड़ता, किन्तु वे इससे कतरा गयी हैं, प्रवीर तो सामाजिक दृष्टि से अक्षुण्ण ही रह गया और 'मिस्ट्रेस' बनकर न जीना चाहनेवाली कली को 'स्लीपिंग पिल्स' की शीशी घुटकनी पड़ी ! इसी तरह क्या होता यदि चंदन (लेखिका के चित्रण के अनुसार ही, जो सर्वथा निर्दोष है) अपने पति से अपना अधिकार मांग बैठती ? किन्तु नहीं, चंदन सद्यः पिता बने विक्रम को उसकी माँ और नयी सास के समक्ष अपदस्थ नहीं कर सकती, क्योंकि तब तो कटु यथार्थ के सम्मुखीन होने के कारण छद्म भावुकता का कोहरा ही छँट जाता । ऐसी रचनाएँ आँसू भले ही वसूल लें, श्रद्धा नहीं प्राप्त कर सकतीं, क्योंकि वे प्रत्यायक (कन्विंसिंग) नहीं होतीं, क्योंकि वे वास्तविक समस्याओं के ऐसे वैयक्तिक हल देती हैं जो अतिशय भावुकतापूर्ण तो होते ही हैं, अपने वस्तुगत सामाजिक आधार से भी कटे रहते हैं ।

एक और उदाहरण लीजिए, जाने या अनजाने शिवानी जी ने इन दोनों उपन्यासों में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामयिक समस्या का—पुरानी पीढ़ी के गलित आचरण की जानकारी के फलस्वरूप उसके प्रति नयी पीढ़ी की श्रद्धा-हीनता की समस्या का—समावेश किया है, एक दूसरी दृष्टि से देखें तो क्या है 'कृष्णकली' ? वीतश्रद्ध नयी पीढ़ी की व्यथा किस प्रकार कुटिल, करुण हो उठ सकती है, इसका रस-रोमांचभरा उदाहरण ही तो, इसी समस्या का एक रूप करोड़पति पिता की इकलौती पुत्री प्यूनी के नेतृत्व में आये हिप्पियों के श्मशानी क्रिया-कलाप में, दूसरा न जाने कितनी ट्रामें, बसें और पिता का पुतला भी जलाकर उन्हें हृदयरोग का अमूल्य उपहार देनेवाले पांडे जी के इकलौते पुत्र के चरमपंथी व्यवहार में और तीसरा सोनिया एवं विक्रम के उच्छृङ्खल, उद्धत आचरण में प्रतिफलित हुआ है, किन्तु शिवानी जी को रोमानी रस-सृष्टि से इतना अवकाश ही नहीं मिला कि इस समस्या को सार्थक रूप से उभार पातीं ।

फिर भी शिवानी जी की कई विशेषताएँ मोहक हैं । जिस तरह राजस्थानी महिलाएँ हाथों में मेंहदी रचाने की कला में पारंगत होती हैं, उसी तरह शिवानी जी बात को खूब रचा कर कहने में पारंगत हैं, पर्वतीय शोभा, संस्कृति, रीति-नीति के अकृत्रिम स्नेहपूर्ण वर्णन बहुत सुंदर बन पड़े हैं, किशोरियाँ और तरुणियाँ ही नहीं, प्रौढ़ता को स्पर्श करती महिलाएँ भी उनके शृंगार प्रसाधन के वर्णनों को पढ़ कर पगला सकती हैं, वार्तालाप की स्वाभाविकता कायम

रखते हुए भी अन्तरंग आत्मीयता झलकाने में वे बहुत कुशल हैं, शांतिनिकेतन के प्रभाव ने उनकी दृष्टि को आदर्शगंधी स्वच्छंदतावादी भावुकता ही नहीं प्रदान की है, उनकी भाषा को भी बंगला-रंजित बना दिया है, 'कृष्णकली' से अनायास ही चुन लिये गये इन उद्धरणों के रेखांकित शब्द बंगला से गृहीत या बंगला अर्थ में प्रयुक्त हैं—'अदर्शी-पिता के प्रति '**अभिमान वश**' ही उसने छुआ भी नहीं था' (पृ० २६), 'स्निग्ध मातृवत **चावनी**' (पृ० ६७) 'भीड़ के रामधनु को देख रही थीं' (पृ० ६६); 'वह दुरंत लड़का' (पृ० १७६); '**मर्द्द री यार**' (पृ० १७४); '**मारात्मक** साड़ी' (पृ० १२७); 'उसकी **आगमनी** में' (पृ० १३५) आदि आदि-एक सीमा के भीतर भारतीय भाषाओं से गृहीत उपयुक्त शब्दों के प्रयोग हिन्दी को समृद्ध ही बनायेंगे।

शिवानी जी की संभावनाएँ और उपलब्धियां हमें आश्वस्त करती हैं कि वे भविष्य में हिन्दो उपन्यास साहित्य को प्रौढ़तर कृतियां प्रदान करेंगी।